प्रेमचन्द :
विचार और विवेचन

संपादक :
डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय

किशोर विद्या निकेतन
भदैनी, वाराणसी
१९८९

प्रकाशक :
किशोर विद्या निकेतन
बी० २/२३६, ए, भदैनी
वाराणसी–२२१००१

•

प्रथम संस्करण १९८९

•

मूल्य १०० रुपये

•

मुद्रक :
धर्मराज प्रिंटिंग प्रेस
एस० २६/९३ मीरापुर बसहीं
शिवपुर, वाराणसी

आद्या शक्ति
माँ
के चरण कमलों
में
सादर
समर्पित

दो शब्द

प्राचीन आचार्य कहते थे—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और दृश्यकाव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादन के लिए काफी तर्क देते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता संस्कृति का विकास होता जा रहा है, जीवन की जटिलताएँ एवं संघर्षणशीलता बढ़ी है—उपन्यास और कहानी की ओर रुचि बढ़ने लगी है। वैसे भी जिन्दगी की तेज रफ्तार में विरमाने और मन को रमाने के लिए गल्प ही उचित माध्यम है। इस दृष्टि से प्रेमचंद की साधना और उपलब्धियों पर चकित रह जाना पड़ता है। मानवता का अखंड पुजारी, युग-युग का मसीहा, समष्टि हित तिल-तिलकर घुल-घुलकर जलने वाला ऐसा त्यागी पुरुष भारतीय वाङ्मय में दुर्लभ है। बंधन के मध्य मुक्ति की और मृत्यु के मध्य अमरता की साधना करने वाले ऐसे ही पुरुष जीवन का मापदंड बन गए हैं, जिनसे जीवन सत्य को आसानी से समझा जा सकता है। हमारा कर्त्तव्य है कि उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विचार-विमर्श करें, उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन, परंपरा का पथ आलोकित करें, इसी हेतु इस पुस्तक का प्रकाशन मेरा लक्ष्य रहा है।

एकबार मैं एक सप्ताह तक उपन्यासकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव के साथ कानपुर में था। वे प्रेमचंद युगीन उपन्यासकार थे और उनसे उनकी काफी घनिष्ठता थी। उनके मुख से प्रेमचंद के अनेक संस्मरण सुनकर मैं भाव विभोर हो गया, श्रद्धाभिभूत हो उठा। तभी मेरे मन के किसी कोने में यह इच्छा जगी थी कि अवसर आने पर उनपर एक पुस्तक संपादित करूँगा। आज इस इच्छा को पूरी होते देखकर मुझे आंतरिक प्रसन्नता है।

इस पुस्तक की विषय सामग्री के लिए बड़ी व्यापक योजना बनाई गयी थी। प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के लगभग सभी आयामों और दृष्टिकोणों से संबंधित लेख आमंत्रित किये गये थे। परन्तु अनेक कारणों से सभी लेख नहीं आ पाए—आश्वासन मिलते रहे, समय बीतता गया। आखिर कब तक प्रतीक्षा का दौर चलता ? एक निश्चित समय सीमा के बाद उपलब्ध रचनाओं को ही प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजना पड़ा।

मुझे प्रसन्नता है कि जितनी रचनाएँ आ सकीं, वे ही प्रेमचंद को निकट से जानने परखने और सोचने-विचारने के लिए काफी है। जिन लेखकों के सहयोग से मुझे लेख उपलब्ध हुए हैं–उन सबके प्रति मैं आभारी हूँ और आशावान हूँ कि वे भविष्य में भी ऐसे अनुष्ठान में अपने सारस्वत सहयोग से उत्साहित करते रहेंगे। डॉ० प्रभाकर माचवे और डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ कि एक ही पत्र पर उन्होंने लाख व्यस्तताओं के बाद भी अपनी रचनाएँ भेज दीं। श्री आनन्द शंकर माधवन एवं अन्य लेखकों से सहयोग मिले—मैं इसे भूल नहीं सकता। डॉ० श्यामसुन्दर घोष (जो मेरे गुरुदेव हैं) के प्रति आभार प्रकट करना मेरी धृष्टता होगी—उन्हीं का सिखाया हुआ जो कुछ हूँ, समक्ष हूँ। इस यज्ञ में पहली समिधा डालकर उन्होंने मुझे उत्साहित किया है। सभी लेखकों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस कार्य में मुझे डॉ० बालेंदुशेखर तिवारी और डॉ० महेन्द्र मस्ताना से जो समय समय पर सहायता मिली, उसके लिए वे साधुवाद के अधिकारी हैं। अपनी पत्नी को भी मैं धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता क्योंकि उन्होंने मुझे यथेष्ट सहयोग दिया है। समय-समय पर निराशा की अवस्था में मेरा मनोबल ऊँचा उठाया है।

तुलसी ने कहा है कि—'निज कवित्त केही लाग न नीको'—मुझे यह कृति अच्छी लगेगी ही। जो कुछ है—आपके समक्ष है हस्तामलकवत। समीक्षकों, पाठकों, सुधी विचारकों और जिज्ञासुओं के विचारों से मुझे प्रसन्नता होगी—उनका सदैव स्वागत है। किशोर विद्या निकेतन वाराणसी के प्रकाशक श्री नंद किशोर द्विवेदी के प्रति आभार व्यक्त करने के शब्द नहीं मिलते, उनकी तत्परता से ही इसका प्रकाशन संभव हो सका है।

डॉ० मृत्युन्जय उपाध्याय
अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
आर० एस० पी० कालेज, झरिया
धनबाद (बिहार)

१५ अगस्त १९८९

विषय-सूची

प्रेमचन्द

—डॉ॰ बेचन

प्रेमचन्द का युग समाप्त हो गया है, या समाप्ति पर है। उनके युग की राजनीति आज बड़ी तीव्र गति से बदल रही है। पुराने आदर्श कसौटी पर कसे जा रहे हैं और नयी-नयी शक्तियाँ रंगभूमि में आकर नेतृत्व की चेष्टा कर रही हैं। सन् २० और ३० से सन् ८० में बहुत अन्तर है। यह हमारी प्रगति का चिह्न है कि एक-एक दशक में एक-एक पीढ़ी जैसा परिवर्तन होता दिखाई देता है। प्रेमचन्द के युग को देखते हुए कहा जा सकता है कि क्या राजनीति में, क्या साहित्यमें, उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रान्तिकारी था[1]।

प्रेमचन्द का जन्म शनिवार तारीख ३१ जुलाई, १८८० को बनारस से चार मील दूर लमही नामक ग्राम में हुआ था। यह वह समय था, जब देशके सोचने-समझने वालों में चेतना आ चली थी और कांग्रेस के जन्म के लिये परिस्थितियाँ तैयार हो चुकी थीं। पिता अजायबराय निम्न मध्यवित्त परिवार के व्यक्ति थे। प्रेमचन्द को गहरी गरीबी में अपने दिन गुजारने पड़े थे। इसीलिए, स्वाभाविक था कि उन्होंने गरीबों, किसानों, मजदूरों को पहली बार अपने साहित्य का पात्र बनाया। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी खूबी यही है। वह पहले उपन्यासकार थे, जिन्होंने स्वयं चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखे और दूसरों से भी वैसे उपन्यास लिखने के लिए कहा।[2] हिन्दी में प्रेमचन्द ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं, जो अपने समस्त पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती उपन्यासकारों की अपेक्षा प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (टाइप्स्) के निर्माण में सफल हुए हैं। उनके प्रतिनिधि मानव चरित्र हर वर्ग और क्षेत्र के हैं। किसी उपन्यासकार या नाटककार की महानता की एक कसौटी यह भी होती है कि उसने प्रतिनिधि मानव-चरित्रों के निर्माण में कितनी सफलता पायी है। प्रतिनिधि मानव-चरित्रों

---

१. प्रेमचन्द (डा॰ राम विलास शर्मा) पृ॰ १–२।

२. प्रेमचन्द—एक विवेचन, पृ॰ ४४।

का निर्माण तभी सम्भव है, जब लेखक में इतनी कलात्मक प्रतिभा हो कि वह पात्रों के रूप में अपने प्रतिरूप ही न गढ़े और उनसे मनचाहा व्यवहार और वार्तालाप ही न कराये, बल्कि अपनी कल्पना से जिन घटनाओं की सृष्टि को उनका पात्र उनमें पड़कर स्वतन्त्र रूपसे अपनी भूमिका खेले, पात्र की प्रतिक्रियाएं, व्यवहार, वार्तालाप उसके जीवन की परिस्थितियों से निर्दिष्ट हों, लेखक की इच्छा-अनिच्छा से नियंत्रित न हों। प्रेमचन्द के पात्र ऐसे सजीव, प्रतिनिधि मानव चरित्र हैं। इनमें भारत के शोषित-पीड़ित किसान भी हैं और उनकी कमाई पर पलने वाले जमींदार और नवाब भी, गरीब चमार, जुलाहे, दस्तकार और क्लर्क भी हैं और महाजन और साहूकार भी, अन्धविश्वासी निरीह धर्म के उपासक भी हैं और बगुला भगत पंडे पुरोहित भी, राजनीतिक कार्यकर्ता भी हैं और सरकारी अफसर-अहलकार और जो हुजूर भी। प्रेमचन्द ने एक कलाकार की निरपेक्षता से हम सबको जीवन-वास्तव की पृष्ठभूमि में रखकर चित्रित किया है और भारतीय जीवन के भीतर सत् और असत्, न्याय और अन्याय शोषित और शोषक के बीच चलने वाले उन बहुमुखी संघर्ष को अनिवार्यता को उद्घाटित कर दिया है, जो आधुनिक युग की सबसे बड़ी वास्तविकता है। किसी के चरित्र को उन्होंने अपनी ओर से मानवीय या दानवी बनाने की चेष्टा नहीं की, बल्कि एक सच्चे कलाकार की तरह प्रत्येक पात्र के उदात्त और अनुदात्त, उदार और क्षुद्र तथा सुन्दर और कुरूप पहलुओं को उभारना चाहा है। किन्तु, फिर भी यदि पाठक की सहानुभूति एक पात्र के साथ होती है और असहानुभूति दूसरे के साथ, तो इसलिए कि उनके जीवनकी परिस्थितियों ने उन्हें विपरीत ऐतिहासिक भूमिकाएँ खोलने को बाध्य कर रखा है। जो जमींदार है वह अपनी सभ्यता के बावजूद शोषण करेगा ही और जो किसान है, वह अपनी निपट मूर्खता के बावजूद अन्न उपजाकर भौतिक मूल्यों की सृष्टि करेगा ही, और उन मूल्यों से वंचित किये जाने पर प्रत्येक संवेदनशील हृदय में सहानुभूति और आक्रोश जगायेगा ही[१]।

अब तक जीवन की जिन विषमताओं में से प्रेमचन्द गुजर चुके थे, उनके अनुभव ने उन्हें कट्टर भाग्यवादी बना दिया था। वे लिखते हैं,

---

१. श्री शिवदान सिंह चौहान-विजय चौहान-हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० ५७–५८

'अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवानकी जो इच्छा होती है, वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छाके बिना सफल नहीं होता।' लेकिन यह भाग्यवादिता अकर्मण्यता की पर्याय नहीं है। जीवन में मिलने वाली असफलताओं और विषमताओं के आधार पर प्रेमचन्द भाग्यवादी हो गये थे, लेकिन क्या ऐसी ही भाग्यवादिता हम जयशंकर प्रसाद में नहीं पाते ? तो जान पड़ता है कि यह भाग्यवादिता उस ढंग की थी, जैसी "कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन" में मिलती है। सन् १९२१ में प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ी। सन् १९२४ में उनका 'रंगभूमि' निकला। 'रंगभूमि' का सूरदास कहता है, "तुम जोते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो, और तुम्हारा उत्साह खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते हैं। गालीगलौज मारपीट करते हैं। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खलना सीखेंगे। एक न एक दिन हमारी जीत होगी।" यह कथन जीवन की लड़ाई में हारे हुए का उद्गार है, किन्तु ऐसे हारे हुए का, जो पराजय को परिणाम नहीं मानता है, सहज एक घटना मानता है और जिसकी आशा का सम्बल कभी चूकेगा नहीं।[1]

प्रेमचन्द का जमाना उनके पूर्ववर्ती साहित्यिक के समान बड़े आराम का जमाना नहीं था। रीतिकाल की परिस्थितियाँ कब की समाप्त हो चुकी थीं। उसकी थोड़ी बहुत झलक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में रही, लेकिन इसके बाद जीवन तीव्र संघर्ष की परिस्थितियों में से गुजरने लगा। प्रेमचन्द का जीवनक्रम सन् १८८० में प्रारम्भ होकर सन् १९३६ में समाप्त हुआ और साहित्य रचनाकाल लगभग १९०० में प्रारम्भ होकर सन् १९३६ तक चला। इस ५६ वर्ष की आयु और ३६ वर्ष के रचना-काल में प्रेमचन्द ने बहुत कुछ पढ़ा, बहुत कुछ जीवन संघर्ष के क्रम में अनुभव से प्राप्त किया और बहुत कुछ लिखा। प्रेमचन्द मध्यम वर्ग की निम्न गरीब श्रेणी के जन थे, जिन्हें अपनी जीविका के साधन जुटाने

---

१. प्रेमचन्द—एक अध्ययन पृ० ३७।

में लगातार विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। फिर वे जिस संक्रान्तिकाल में से गुजरे, उसमें संघर्ष का स्वरुप जितना आर्थिक था, उतना सामाजिक भी। साथ ही प्रेमचन्द का समय अनेक राजनैतिक उथल-पुथलों का जमाना था। सन् १८८५ की कुर्सी-नसीन नेतागिरी से सन् १९३६ के एक ओर कांग्रेसी प्रान्त स्वराज्य और दूसरी ओर साम्यवाद के उदय के बीच की हलचलें उन्होंने देखी थीं। इस अति-व्यस्त, विविध-प्रवृत्तियों से संकुल युग ने प्रेमचन्द के विचारों को उनके पूर्ववर्तियों से एकदम भिन्न ढ़ांचा प्रदान कर दिया था। संस्कार, अनुभव और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया जितनी प्रबल प्रेमचन्द में हुई, उतनी उनके समकालीन किसी अन्य साहित्यकार में नहीं। फिर साहित्य को जिस सजगता के साथ महदुद्देश्य के लिए प्रेमचन्द ने स्वीकार किया था, उतनी सजगता अन्यत्र नहीं देखी गई।[1] प्रेमचन्द का जीवन स्वयं एक उच्चकोटि की रचना है। उनके जीवन को विकास के तीन क्रमों के रूप में देखा जा सकता है-पहला क्रम जन्म से १६ वर्ष की अवस्था तक, जिसे जीवन-संग्राम के लिए तैयारी का समय मान सकते हैं, दूसरा क्रम इकतालीस वर्ष की अवस्था तक, जिसमें उन्होंने उस जमाने की सरकारी नौकरी का अभिशाप झेलते हुए साहित्य-साधना की और तीसरा क्रम मृत्युपर्यन्त चला, जिसमें उन्होंने जीवन और युगसे निरन्तर युद्ध करते हुए साहित्य के अनमोल रत्न प्रस्तुत किये।[2]

प्रेमचन्द का युग वह युग था, जब देश में अंग्रेजी शासन दृढ़ हो चुका था। प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध के बाद सामन्त-शाही देश से जा रही थी और पूँजीवाद तथा दूसरी ओर नौकरशाही साम्राज्य के रथ पर चढ़कर आ चुके थे। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय समाज का ढ़ांचा गावों की इकाई पर स्थित था, जो सारे देश भर में फैले हुए थे और जिनके बीच-बीच में कहीं-कहीं कोई नगर मिल जाते थे। भारतीय आर्थिक व्यवस्था कृषि-निर्भर थी, इसलिए गावों की संख्या गणनातीत थी। शहर या तो राजनैतिक महत्व के कारण थे या धार्मिक अथवा व्यवसायिक।[3] भारतीय ग्राम व्यवस्था के साथ सामन्ती सभ्यता

---

१. प्रेमचन्द—एक विवेचन, पृ० १४ २. प्रेमचन्द—एक अध्ययन, पृ० ९०
३. प्रेमचन्द—एक विवेचन, पृ० १६

का अन्त हुआ और पूँजीवाद साम्राज्यवाद की छत्रछाया में विकसित हुआ। पूँजीवाद को प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' की संज्ञा दी है। 'मंगलसूत्र' की रचना के समय प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' के नाम से एक लेख लिखा था। उसमें वे लिखते हैं-"मगर इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज पैसा है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों पूंजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से दुनिया में महाजनों का राज्य है। मनुष्य—समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खटने वालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किए हुए हैं। उन्हें उस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रियायत नहीं। उसका अस्तित्त्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहायें, खून गिरायें और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जायें"।[१]

पूंजोवादके साथ वर्ग-चेतना आयी और मध्यवर्ग अस्तित्व में आया। इस मध्यवर्ग में उद्योग व्यापारों के मध्यवर्गी, माल के साधारण उत्पादक, दस्तकार और किसान, छोटे दूकानदार और व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी और वेतनभोगी शामिल हैं।

इस मध्यवर्ग के छोर पर आजाद पेशा सफल डाक्टर, वकील और जनप्रिय कलाकार लोग हैं। अपनी बेहतर आर्थिक और सामाजिक स्थिति के कारण ये अपने को अभिजात वर्ग के साथ गिनना चाहते हैं। इस आजाद पेशा स्तर से नीचे जो स्तर है, उसमें बिना रोगियों के डाक्टर, बिना मुवक्किलों के वकील और बिना पाठकों के लेखक हैं।

प्रेमचन्द साहित्य में इन तीनों युगों के चित्रण मिलते हैं। 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियां भारतीय ग्राम-व्यवस्था के गौरव को प्रगट करती हैं। 'रंगभूमि' गाँव के छिन्न-भिन्न होकर औद्योगिक सभ्यता के आगमन की सूचना है और 'गोदान' में प्रेमचन्द पूंजीवादी सभ्यता के सारे कलंक प्रकट करते हैं। 'मङ्गलसूत्र' साम्यवाद के आगमन की फटो हुई पौ के समान है, जिसमें प्रेमचन्द ने उसके नायक पं० देवकुमार के शब्दों में

---

१. प्रेमचन्द (डा० रामविलास शर्मा), पृ० १७।

अपनी बात कही है और अपनी आत्मकथा प्रस्तुत करने की चेष्टा की है—

"पं० देवकुमार को धमकियों से झुकाना असम्भव था, मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप ही आप झुक जाती थी। इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है ? कर्म और संस्कार का आश्रय लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्मक है तो यह भेद क्यों ? क्योंकि एक आदमी जिन्दगी भर कड़ी से कड़ी मिनहत करने पर भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ पांव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर अनात्म। बुद्धि जबाब दे देती, यहां सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधन के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती, सबको समान अवसर कहां है ? बाजार लगा हुआ है, जो चाहे, जहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा वही जिसके पास पैसा है। और जब उसके पास पैसा नहीं है तो बराबर का अधिकारी कैसे माना जाय।

एक आदमी खेत से बालें नोचकर खा लेता है, कानून उसे सजा देती है। दूसरा अमीर आदमी दिन दहाड़े लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है देवताओं ने भी भाग्य और ईश्वर द्वारा शक्ति की मिथ्याएं फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्यों ने कब इनका अन्त कर दिया होता, या समाज का अन्त कर दिया होता, जो उस दिशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना होगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है। आज जो इतने ताल्लुकेदार और राजे हैं, वह अपने पूर्वजों की लूट का ही आनन्द तो उठा रहे हैं। [मंगलसूत्र पृ० ३८]

प्रेमचन्द निम्न मध्यवित्त वर्ग के व्यक्ति थे और आजीवन या तो परिस्थितियों की विषमता या स्वेच्छावश इसी में रहे। इसलिये उनकी मनोरचना मध्यवर्गी है।

मध्यवर्ग स्वभाव से समझौतावादी होता है। यह समझौता दो प्रकार का होता है। एक ओर मध्यमवर्ग विभिन्न वर्गों के बीच मध्य

पथ का अनुसरण करना चाहता है, वह अभिजात वर्ग की कृपा पर रहना चाहता है और शोषित वर्ग की क्रान्तिपर भावनाओं के लिये ब्रेक का काम करता है। दूसरी ओर वह अतीत और भविष्य के बीच समझौता करके वर्तमान में बना बैठा रहना चाहता है। वह परम्पराओं का गुलाम होता है, जो नई चेतना को संशयालु दृष्टि से देखता है। प्रेमचन्द ने शोषकों को ट्रस्टी मानकर चलाना चाहा है, शोषितों को धीरज और शांति से चलने की सलाह दी है। मध्यवर्गीय मन लेकर उन्होंने समस्याओं को क्रान्ति की दृष्टि से नहीं, विकास की दृष्टि से देखना चाहा है। अपनी जिन्दगी का बड़ा भाग 'टिपीकल' मध्यवर्गीय नौकरपेशा के रूप में बिताने के बाद, प्रेमचन्द ने क्रान्ति को ठंडे पानी में शीतल करके सामने रखा है। इसलिये वे सदन, प्रेमशंकर और सूरदास की सृष्टि तो कर पाये पर बलराज के यौवन की एक झलक दिखाकर ही रह गये। यहां तक कि अपने अंतिम-प्राय उपन्यास में वे गोबर को नई चेतना की बेचैनी तो दे पाये, लेकिन नये युग की क्रान्ति का वाहक उसे नहीं बना पाये।[१]

महाजनी सभ्यता का जो विश्लेषण प्रेमचन्द ने किया है, वह साम्यवादी लगता है, लेकिन प्रेमचन्द की पकड़ बौद्धिक नहीं भावात्मक है। प्रेमचन्द साहित्य में और शायद जीवन में भी बौद्धिकता के हामी नहीं, बुद्धि पर भावुकता को तरजीह देते हैं। अगर संज्ञा दी जा सके तो इसे भावात्मक साम्यवाद की संज्ञा दी जानी चाहिये। मराठी के साहित्यकार टी० टिकेकर से एक मुलाकात में प्रेमचन्द ने कहा था, 'मैं कम्युनिस्ट हूँ। किन्तु, मेरा कम्युनिज्म केवल यही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक है, न रहें।' उसी प्रकार साम्यवादी व्यवस्था लाने के लिये प्रेमचन्द भारतीय पद्धति को अपनाना चाहते हैं। इसी मुलाकात में प्रेमचन्द ने अपने लिखने का उद्देश्य समाज सेवा बताते हुए कहा है, "हाँ मैंने समाज के भिन्न-भिन्न मानचित्रों को आदर्श-यथार्थ रूप में रखा है। मैं महात्माजी के चेन्ज आफ हार्ट के सिद्धांत में विश्वास रखता हूँ। इसलिये जमींदारी मिटेगी, यह मानता हूँ। जमीन किसान की

---

१. प्रेमचन्द—एक अध्ययन, पृ० १२८

समस्या मूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द पृ० २५

होगी।" लेकिन यहीं वे एक बात साफ कर देते हैं कि मैं गांधीवादी नहीं हूँ, केवल गाँधीजी के 'चेन्ज आफ हार्ट' में विश्वास करता हूँ[१]।

अंग्रेजों के आगमन से भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन हो जाने के बाद समाज में एकदम नये स्तरों का आविर्भाव हुआ। गाँव के क्षेत्रोंमें मुख्यतः ये स्तर मिलते हैं—

[१] अंग्रेजों के द्वारा पैदा किया गया जमींदार वर्ग।
[२] इन जमींदारों के अधीन किसान।
[३] किसान-मालिकों के उच्च, मध्य और निम्नवर्ग।
[४] कृषक मजदूर।
[५] दुकानदार।
[६] साहूकार।

शहर के क्षेत्र में मुख्यतः ये स्तर मिलते हैं—

[१] उद्योगपति, व्यवसायी और साहूकार किस्म के आधुनिक पूँजीपति। [महाजन]

[२] आधुनिक मजदूर।
[३] छोटे-छोटे सौदागर और दूकानदार।
[४] पेशेवर लोग, जिनसे शिक्षित मध्यवर्ग बना है।[२]

इनमें से मध्यवर्ग और प्रोलेटेरियन सर्वहारा वर्ग नये युग की उपज है। सर्वहारा वर्ग का जन्म आधुनिक उद्योगों के साथ हुआ और देश के औद्योगिक विकास के साथ इनकी संख्या और ताकत बढ़ती गई।[३]

कांग्रेस के जन्म के साथ, इसी युग में राष्ट्रीय चेतना को बल देते हुए विभिन्न सुधार आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जो समाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में पुनर्निर्माण का कार्यक्रम लेकर सामने आये। सामाजिक क्षेत्र में जातिसुधार [वर्ण-व्यवस्था विरोधी] या जातिभंग, नारी को समाना-

---

१. प्रेमचन्द एक अध्ययन, [प्रेमचन्द युग] पृ० १०१
२. प्रेमचन्द एक अध्ययन, पृ० ११०-१११
३. प्रेमचन्द एक अध्ययन पृ० ११०-१११

धिकार, बालविवाह विरोध, विधवा-विवाह समर्थन और सामाजिक वैषम्य विरोध के रुप में आन्दोलन प्रारंभ हुआ। धार्मिक क्षेत्र में अन्ध-विश्वास, साम्प्रदायिकता, मूर्तिपूजन, बहुदेवतावाद और वंशगत महन्तवाद या मठवाद के विरुद्ध आन्दोलन किये गये। समाज सुधारकों की लड़ाई तीन विभिन्न मोर्चों पर थी। उन्हें परम्परा-प्रेमियों के निहित स्वार्थों से लड़ना था, उन्हें समाज में फैले अज्ञान और अंधविश्वास से लड़ना था और एक सीमा तक शासन के प्रत्यक्ष-परोक्ष उन प्रतिरोधों से लड़ना था, जो शासन इसलिये पैदा करता था कि उसे ऐसा करना अपने स्वार्थों के अनुकूल जान पड़ता था।[1] प्रेमचन्द के पात्र इन प्रभावों से उभरे हैं। इन आन्दोलनों के साथ ही प्रेमचन्द में परिवर्तन आता चला गया।[2]

उन्हीं आन्दोलन के प्रभाव में प्रेमचन्द ने अपना। [अप्राप्य] उपन्यास [श्यामा] लिखा था, जिसमें अंग्रेजी शासन की घोर बुराई की गई थी और साथ ही 'सोजे वतन' क्रम की कहानियाँ लिखी थीं, जिसका दंड प्रेमचन्द को भोगना पड़ा था।

गाँधीजी के राजनीतिक रंगमंच पर आने पर प्रेमचन्द के जीवन का नया अध्याय प्रारंभ हुआ। प्रेमचन्द का मन इस नये अध्याय के लिये तैयार हो चुका था। 'प्रेमाश्रम' लिखा जा रहा था और गाँधीजी के प्रभाव में प्रेमचन्द ने अपनी पन्द्रह बीस साल की जमी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। इस्तीफा में प्रेमचन्द ने क्या लिखा था या इस्तीफा देते समय उनकी मनोदशा क्या थी, इसका अनुमान हंसराज 'रहबर' ने उनकी एक कहानी 'लाल फीता' से लगाया है। यह कहानी प्रेमचन्द ने अपने इस्तीफा देने के जमाने में लिखी थी और 'जमाना' के जुलाई १९२१ के अंक में छपी थी। गाँधीजी के प्रभाव में प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ी, लेकिन गाँधीजी का अन्ध-अनुगमन वे कभी न कर सके, नहीं तो 'प्रेमाश्रम' में असहयोग और सत्याग्रह के संबंध में वे यह न कहते कि सत्याग्रह में अन्याय दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया है। देश में नमक सत्याग्रह के बाद 'गाँधी-इरविन पैक्ट' हुआ। तब तक देश

---

१. प्रेमचन्द एक अध्ययन, पृ० ११२

२. प्रेमचन्द एक विवेचना, पृ० ४१

में समाजवादी पार्टी बन चुकी थी, जो कांग्रेस के अंदर रहकर अपनी विचारधारा प्रकट किया करती थी। 'गाँधी-इरविन पैक्ट' का वाम-पक्षियों ने समर्थन नहीं किया, यहाँ तक कि जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र बोस इससे सहमत नहीं हो सके। प्रेमचन्द ने जिस जोश के साथ नमक सत्याग्रह का समर्थन किया था, उसे जरूर 'गाँधी-इरविन पैक्ट' से धक्का लगा होगा। इस समय की लिखी उनकी कृति 'कर्मभूमि' में इस समझौता-वाद की प्रतिक्रिया बड़ी स्पष्ट है। इसमें बड़ा गहरा व्यंग्य है। 'गोदान' भी इसी मनोदशा में लिखा उपन्यास है, जिसमें वे होरी को मृत्यु के साथ धीरज और शांति से सहन की अपनी बात को एक बारगो खत्म कर देना चाहते हैं।

"मंगलसूत्र" इस विद्रोह का प्रतीक है। सन् १९३५ के बाद भारत-वर्ष की भी राजनीति ने फिर नया रुख बदला। नये गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के अन्तर्गत कांग्रेस और देश की अन्य पार्टियों ने भी वैधा-निक कार्यक्रम अपनाने का निश्चय किया और चुनावों का वातावरण बनने लगा। केवल साम्यवादी दल का नारा था "इस चुनाव की सर-गर्मियों को साम्राज्य विरोधी मोर्चे के रूप में परिणत करो।" प्रेमचन्द अगर जीवित रहते तो इस बदली हुई राजनीति में उनका समर्थन किसके साथ रहता यह शिवरानी जी की पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' से स्पष्ट है। वे अपने अन्तिम दिनों में रूस के शासन की सराहना करने लग गये थे। रूस की नई सभ्यता उनको बहुत अच्छी लगी। उन्होंने कहा कि इस देश में मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं होता। उनकी आशा थी कि भारत भी जीवन के इन आदर्शों को प्राप्त करेगा।[१]

प्रेमचन्द के उपन्यास

'वरदान' [१९०४] प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचना है। कालक्रम से यह प्रेमा या प्रतिज्ञा [१९०४] के बाद का उपन्यास है, पर प्रतिज्ञा के परिमार्जित रुप की अपेक्षा इसमें प्रौढ़त्व कम है। अतएव, प्रेमचन्द के उपन्यासों के विकास-अध्ययन की दृष्टि से वरदान को प्रतिज्ञा के पहले रखना उचित समझा गया है। इस लघुकाय उपन्यास में मध्य वर्ग के

---

१. प्रेमचन्द एक विवेचन, पृ० ३०

जीवन के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, पर इसमें वर्ग की मुख्य प्रवृत्तियों का पूर्णरुपेण चित्रण नहीं किया गया है, क्योंकि इसका प्रतिपाद्य विषय प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष चित्रण है। मध्य वर्ग का जीवन पृष्ठ-भूमि के रूप में चित्रित किया गया है। अभिप्रेत लक्ष्य सिद्धि के निमित्त उपन्यासकार ने जिन घटनाओं और चरित्रों की सृष्टि की है, उनमें बल नहीं है। इसलिए उपन्यास की प्रभावात्मकता में स्थायित्व नहीं है। प्रेमचन्द की आदर्शनिष्ठा भी रचना के संगठित प्रभाव में बाधक है। वह त्याग और तपस्या का जो दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, उसे असंभव नहीं कहा जा सकता, पर यह जीवन कला की शक्ति सामर्थ्य को कुंठित अवश्य करता है।

वरदान की कथावस्तु के कारण चरित्रों का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है। उपन्यासों में घटना बाहुल्य पात्रसृष्टि के सम्पर्क विकास में बाधक होता है। इसीलिये वरदान का चरित्रांकन अस्फुट रह गया है। इस उपन्यास के चरित्र सजीवता और विकास की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं रखते। प्रेमचन्द ने चरित्र चित्रण में मापतौल को प्रणाली अपनाकर उन्हें निर्जीव कर दिया है। कमलाचरण का चरित्र सजीवता से पूर्णतया असंपृक्त नहीं है, पर उसकी जीवन-यात्रा उपन्यासकार के एक संकेत पर समाप्त हो जाती है। 'वरदान' के पात्रों का अस्तित्व प्रेमचन्द की लक्ष्यसिद्धि के अधीन है। इसीलिये आवश्यकतानुसार वह स्वाभाविक ढंग से उन्हें हटाते चलते हैं। इस सम्बन्धमें कमलाचरण की आत्महत्या का उल्लेख पर्याप्त है। जिन परिस्थितियों में प्रेमचन्द ने उसे आत्महत्या के लिये बाध्य किया है, वे इतने बड़े 'क्लाइमेक्स' के लिये पर्याप्त नहीं हैं। कमलाचरण को प्रेमचन्द हटाना चाहते हैं, इसीलिये उसे चलती गाड़ी से कूदकर मरना पड़ता है।

'वरदान' की चरित्र सृष्टि सबल नहीं है। उसमें प्रभाव क्षमता भी नहीं है। प्रेमचन्द के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ पात्रों के चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके उन्होंने पूर्ववर्ती हिन्दी उपन्यासों की जड़-पात्र सृष्टि की अपेक्षा स्वाभाविकता एवं कलात्मकता का परिचय दिया, पर इस पद्धति का पूरा उपयोग नहीं किया गया है। उपन्यास के पात्रों की समस्या का समाधान आत्महत्या

और आत्मत्याग द्वारा किया गया है। यह त्रुटि खटकती रहती है। क्योंकि पात्रों की मृत्यु अधिकतर लेखक की कलात्मक असमर्थता ही प्रकट करती हैं।[1] 'प्रतिज्ञा' [१९०४] पूर्व प्रकाशित प्रेमा का संशोधित तथा नवीन रूप है। इसमें मध्यवर्गीय समाज की पृष्ठभूमि पर विधवा समस्या का चित्रण है। इस उपन्यास से यह ज्ञात होता है कि प्रारंभ से ही प्रेमचन्द का समाज-चिन्तन प्रगतिशील विचारधारा का समर्थक रहा है। १९०४ के रुढ़िवादी हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह का समथन करना यथेष्ट साहस्र का परिचय देता था। इसमें सन्देह नहीं कि नवीन विचारों का प्रवेश भी होने लगा था, पर रुढ़िवादी समाज का बहुमत था। इस नवचेतना और रुढ़िप्रियता का संघर्ष 'प्रतिज्ञा' में अङ्कित है। इसी के साथ उपन्यास में प्रेम-साधन और कर्तव्यनिष्ठा का सामंजस्य भी प्रस्तुत किया गया है।

'प्रतिज्ञा' के पात्रों का चरित्रांकन कलात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपन्यास के पात्र चरित्र विकास की अपेक्षा चरित्र स्थैर्य के उदाहरण है। उनमें गतिशीलता की न्यूनता सर्वत्र खटकती रहती है। अमृतराय के चरित्र की दृढ़ता प्रभाव क्षमता रखती है, किन्तु सिद्धान्तवाद और आदर्शवाद के पक्के ढाँचे में ढालकर प्रेमचन्द ने उसका व्यक्तित्व निर्जीव कर दिया है। इसी प्रकार प्रेमा मशीन की भाँति प्रेमियों का परिवर्तन स्वीकार कर लेती है। ऐसी परिस्थिति में जिस मानसिक संघर्ष का चित्रण अनावश्यक समझा गया है, वह 'प्रतिज्ञा' में 'वरदान' की भाँति ही अप्राप्त है। दाननाथ के चरित्र में मानवीय दुर्बलताओं के कारण सजीवता है, किन्तु उपन्यास में उसका नगण्य स्थान उसे उपेक्षित-सा बनाए रखता है। कमला प्रसाद के सुधार पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। जो व्यक्ति पहले सिरे का धूर्त और पाखण्डी है, उसका आकास्मिक चरित्र-परिवर्तन मन में नहीं जमता। उसके चरित्र परिवर्तन का कारण न पर्याप्त है और न उपयुक्त।[2]

प्रेमचन्द का प्रथम विशिष्ट उपन्यास 'सेवासदन' [१९१४] है। कला और कृतित्व की दृष्टि से इसका महत्व सर्वमान्य है। 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' की भाँति ही 'सेवासदन' मध्यवर्गीय जीवन और समस्याओं पर

१. प्रेमचन्द्र की उपन्यास कला पृ० १६९
२. हिन्दी उपन्यास (धवन), पृ० २१

दृष्टिपात करता है। 'सेवासदन' की पात्र-सृष्टि पूर्ववर्ती उपन्यासों की यांत्रिक पात्र-योजना से भिन्न है। यह भी उद्देश्यनिष्ठ उपन्यास है। इसके पात्र भी उद्देश्य के अधीन हैं। पर चरित्र विकास में परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव दिखाकर उपन्यासकार ने चरित्र-सृष्टि का कलात्मक निर्वाह किया है। परिस्थितियों का सर्वाधिक प्रभाव सुमन के चरित्र पर पड़ता है। यह उचित भी है, क्योंकि उसका चरित्र मुख्य है। उपन्यास के गौण चरित्र अपेक्षाकृत प्रभावहीन है। गजाधर का चरित्र स्वाभाविक ढङ्ग पर चला था, पर उसे प्रेमचन्द की आदर्श-प्रियता की बलि होना पड़ा। गजानन्द का सेवाधर्म उसके चरित्र की स्वाभाविक परिणति नहीं है, यह प्रेमचन्द के आग्रह का परिणाम है। सुमन के पिता को कथानक में योजना न कर सकने के कारण ही आत्महत्या कराई गई है। सामाजिक उद्देश्य के यन्त्र के नीचे दबकर पात्रों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाया है। यह गौण पात्रों के विषय में तो और भी अधिक चरितार्थ है। समस्या-चित्रण के कारण वे उपेक्षित ही नहीं रहे हैं, अपितु उसके भार से संत्रस्त दृष्टिगत होते हैं।[1] दूसरी बात यह है कि मध्य वर्ग स्वयं एक चरित्र के रूप में अवतरित हुआ है, 'सेवासदन' में वैयक्तिक पात्रों के व्यक्तित्व अस्पष्ट रह गये हैं। 'सेवासदन' हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास है, जिसमें मनोविज्ञान का पात्र-सृष्टि में अच्छा प्रयोग किया गया है। परिस्थिति विशेष में विभिन्न पात्रों के हृदय में कैसे विभिन्न मनोभाव जागृत होते हैं, यह अंकित करने में प्रेमचन्द ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। मानव प्रकृति का सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन और अनुभव इसमें उपन्यासकार का विशेष सहायक हुआ है। इसीलिये प्रेमचन्द का मनोवैज्ञानिक आधार संगत और स्वाभाविक है। इस दृष्टि से भी 'सेवासदन' पूर्ववर्ती उपन्यासों की अपेक्षा कलाविशिष्ट है।[2]

'प्रेमाश्रम' [१९१८] प्रेमचन्द की उपन्यास कला की प्रगति का सूचक है। इस उपन्यास में नगर के मध्य वर्ग की समस्याओं से आगे बढ़कर ग्राम-जीवन और उसकी समस्याओं का चित्रण किया गया हैं। पात्र सृष्टि की व्यापकता की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती

---

१. प्रेमचन्द—साहित्यिक विवेचन, पृ० ३३

२. प्रेमचन्द—एक विवेचना, पृ० ४४

उपन्यासों से भिन्न है। 'वरदान', 'प्रतिज्ञा और 'सेवासदन' में एकवर्गीय चरित्रों का प्राधान्य है। इन उपन्यासों का सम्बन्ध मूलत: मध्यवर्ग से है। इसलिए मध्यवर्गीय पात्रों के अतिरिक्त अन्यवर्गीय पात्रों के लिए स्थान न था। प्रेमाश्रम में प्रथम बार प्रेमचन्द व्यापक समाज-सम्बन्धों को लेकर चले हैं, अतएव इसमें कई वर्गों के पात्रों की अवतारणा हुई है। इसमें जमींदार वर्ग अधिकारी वर्ग, और कृषक वर्ग के चरित्र जुटाए गए हैं। नागरिक और ग्रामीण प.त्रों के प्रवृत्ति-चित्रण में उनके वातावरण का ध्यान भी रखा गया है। इस उपन्यास में विकास विस्तार के कारण पात्र-संख्या अधिक है। इसमें प्रेमचन्द सामाजिक प्रश्न से आगे बढ़कर राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करते हैं, जिनमें भूमि की समस्या मुख्य है। इस समस्या के साथ जमींदारों और किसानों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त मध्य वर्ग के उन शिक्षित व्यक्तियों का सम्बन्ध भी है, जो अधिकारी वर्ग में बदल जाते हैं और समस्या के अंग बन जाते हैं। इसमें अपने वर्ग के समस्त गुण-दोष प्रतिफलित होते हैं।[१]

प्रेमाश्रम में इन वर्गों[२] के पात्रों की चरित्र-व्याख्या में उपन्यासकार को अच्छी सफलता मिली है, किन्तु जहां वह उद्देश्य की दृष्टि से पात्रों के व्यक्तित्वों को निजी मन्तव्यों से प्रभावित करता हैं, वहां पात्र सृष्टि की कलात्मकता को गहरा आघात लगता है। 'प्रेमाश्रम' के पात्रों पर परिस्थितियों का प्रभाव बहुत अंकित किया गया है। चरित्र एक टाइप में ढले हैं और परिस्थितियों का उनपर प्रभाव बहुत कम पड़ता है। ज्ञानशंकर के चरित्र में यथेष्ट व्यापकत्व है, किन्तु उसके चरित्र पर परिस्थितियों का प्रभाव नहीं दिखाया गया है। प्रारम्भ से ही उसे एकरुप प्रस्तुत किया गया है। उसकी मनोवृत्तियां सब परिस्थितियों में समान रहती हैं। वस्तुतः इस उपन्यास में अधिकांश चरित्र प्रेमचन्द की पूर्व निश्चित योजना के प्रतिरुप हैं। वे उनके संकेत पर ही अपने कार्य-कलाप निर्धारित करते हैं। प्रेमशंकर की आदर्शवादिता उनकी मानवोयता की उपेक्षा कर गढ़ी गयी है। उनके चरित्र में प्रेम और कर्त्तव्य के द्वन्द्व-चित्रण के लिए पर्याप्त अवसर था, पर उपन्यासकार ने इस ओर ध्यान

---

१. प्रेमचन्द-एक विवेचन, पृ० ४९
२. हिन्दीं उपन्यास में वर्ग भावना, पृ० १२२

नहीं दिया है। इस चरित्र पर परिस्थितियों का प्रभाव भी नहीं अंकित किया गया है। आदि से अन्त तक दृढ़ आदर्शवादी पात्र का परिचय मिलता है, जो मनुष्य से अधिक देवता है। कमलानन्द का चरित्र तो अपने प्रकार का एक ही है। इस पात्र की चरित्रगत विशिष्टताओं में अद्भुत तत्व की प्रधानता है। यह न परिस्थितियों द्वारा परिचालित है और न सामान्य मानवीय स्तर पर टिका है। संक्षेप में कमलानन्द को असामान्य पात्र कहा जा सकता है।

'प्रेमाश्रम' में चरित्रों के हृदय-परिवर्तन के कई उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। इसीलिए इस पर विश्वास नहीं होता, मान लेना पड़ता है। ईजाद हुसेन ऐसा धूर्त, इफनि अली ऐसा लोभी और प्रियनाथ ऐसा सरकारी पिट्ठू यह सब एक ही दिन में प्रेमशंकर की सद्वृत्तियों से प्रभावित होकर अपनी दुर्वृत्तियां छोड़कर सेवाधर्म के पुतले बन जाते हैं। चीते के दाग मिट जाते हैं और वह अहिंसा का पुजारी बन जाता है। हृदय-परिवर्तन असंभव नहीं है, पर जिस प्रकार उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है, उसपर विश्वास होना कठिन है। इस उपन्यास में स्त्री पात्रों की अपेक्षा वस्तु के कार्य व्यापार में गायत्री का अधिक योग है। विभ्रा, श्रद्धा शील-मणि और बाड़ी के चरित्र-चित्रण की अन्तिम झलक मर्मस्पर्शी है। उसकी मृत्यु प्रगाढ नैराश्य और करुणालुप्त वातावरण का प्रभाव छोड़ जाती है[1]

"प्रेमाश्रम" के सामान्य पात्र, विशेष रूप से ग्रामीण पात्रों के चरित्र बड़े सजीव और स्वाभाविक बन पड़े हैं। मनोहर, बलराज, कादिर, डपटसिंह आदि के चरित्र सामान्य और संक्षिप्त हैं, पर इनमें यथेष्ठ प्रभाव क्षमता है। ग्रामीण पात्र-सृष्टि में उपन्यास का यथार्थवादी दृष्टि प्रमुख है, इसीलिए इन पात्रों में चरित्र-चित्रण कला का अच्छा विकास हुआ है। मनोहर के अभिमान, बलराज के आवेश और उदण्डता में कादिर की सत्यनिष्ठा में जीवन के स्वरों में आरोह-अवरोह ध्वनित होता है। इन्हीं चरित्रों में से कुछ को लेकर प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। मनोहर के चरित्र-चित्रण में यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। ग्रामीण पात्र सृष्टि में प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण कला का

---

१. प्रेमचन्द उपन्यास और शिल्प, पृ० ६४।

पूर्वोन्मेष हुआ है। 'प्रेमाश्रम' में सबसे बड़ी कलागत त्रुटि है, अनेक आत्महत्याएँ। आत्महत्याओं के आधिक्य से पात्र-योजना कृत्रिम ज्ञात होती है। वस्तुतः पात्रों को समस्या का संगत और स्वाभाविक समाधान न कर सकने के कारण उपन्यासकार उनकी आत्महत्या करा देता है। विद्या, गायत्री, मनोहर, ज्ञानशंकर को आत्महत्या द्वारा हटाया गया है। यदि कमलानन्द संन्यासी न हो जाते, तो कदाचित उन्हें भी आत्महत्या करनी पड़ती। ज्ञानशंकर और पद्मशंकर प्रसंग भी हत्या और आत्महत्या द्वारा समाप्त होता है। अन्य पात्रों की भी लेखक आत्महत्या कराता है, वह कृत्य को स्वाभाविक परिणाम सिद्ध करने में सहायक नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु में ज्ञानशंकर का स्थान न रहने के कारण उसे इस कृत्रिमता-पूर्ण प्रणाली से हटाया गया है। उपन्यासकार ने अन्याय अपने कई पात्रों के साथ किया है। पात्र-सृष्टि का यह मनमाना संहार उनकी कलागत त्रुटियों में प्रधान है। प्रेमचन्द की यह कलागत त्रुटि उनके अन्य उपन्यासों यथा "वरदान" आदि में भी देखी जा सकती है। शेक्सपीयर ने भी तो अपने सर्वोत्तम एवं सुप्रसिद्ध नाटकों में खासकर 'हेमलेट' में, पात्रों को कुछ कम हत्याएं नहीं कराई हैं

प्रेमचन्द ने ऐसी मृत्यु अपने अन्य पात्रों यथा 'सूरदास' और 'विनय' की भी करायी है। प्रेमचन्द जी के पात्र कभी-कभी इनकी निजी सुविधा के विचार से भी मर जाते हैं–जैसे "गवन" की "जोहरा" मरी है।[१]

'निर्मला' [१९२३] का प्रेमचन्द के लघु उपन्यासों में उल्लेख है। यह मध्यवर्गीय समाज और उसकी समस्याओं का चित्रण करता है। इसमें दहेज और अनमेल विवाह के प्रश्नों पर दृष्टिपात किया गया है। 'निर्मला' में बड़े कौशल से मुख्य घटनाओं को निर्मला के चरित्र के आसपास संजोया है, और उसके जीवन को विषम-व्यथा में प्रभावित दिखाया गया है। निर्मला के पात्र चरित्रविकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं, उनका महत्व एक सामाजिक समस्या के अंग-रूप में अधिक है। पात्रों का व्यक्तित्व समस्या चित्रण के अधीन अधिक है, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व बहुत कम है। निर्मला के चरित्रांकन में उपन्यासकार ने परिस्थितियों के

१. प्रेमचन्द की उपन्यास कला, पृ० १८०

प्रभाव की झलक दिखाकर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय अवश्य दिया है। अभाव और अव्यवस्था में मानव प्रवृत्ति कठोर और कटु हो जाती है। निर्मला के चरित्र में यही द्रष्टव्य है। उसके परवर्ती चरित्र की कठोरता परिस्थिति की देन है, निर्मला का निजी स्वाभाव नहीं। पर चरित्र चित्रण की इस कलात्मक प्रणाली का चरित्र के निर्माण में उपयोग परिसीमित है। इसका पूरा-पूरा उपयोग उपन्यास नहीं कर पाया है। निर्मला के चरित्र में मानसिक घातप्रतिघात सर्वाधिक है; अतएव उसमें अपेक्षाकृत सजीवता भी है। उसी के चरित्र द्वारा नारी-मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से उसका चरित्र प्रेमचन्द के विशिष्ट चरित्रों में परिगणेय है।[१]

'रंगभूमि' [१९२४] प्रेमचन्द का सबसे बृहद् उपन्यास है! इसके समाज चित्रण में बड़ी व्यापकता है। इसमें हिन्दू, मुसलमान और उस समाज के जीवन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। औद्योगिक शोषण, राजनीतिक परतंत्रता और संघर्ष से ओतप्रोत इस उपन्यास में भारतीय जीवन के अनेक चरित्रों पर दृष्टिपात किया गया है। 'रंगभूमि' में भारतीय समाज के सब वर्गों के प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र आए हैं। वर्ग की दृष्टि से इसमें उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के पात्र आए हैं। धर्म की दृष्टि से हिन्दू और मुसलानों के अतिरिक्त ईसाई पात्र भी संयोजित किए गए हैं। इन पात्रों में उनके वर्गगत और धर्मगत संस्कार कुशलतापूर्वक विन्यस्त किए गए हैं। यद्यपि कुछ पात्र इसके प्रतिवाद हैं। सोफिया और सूरदास इसके वर्गनिहित चरित्र नहीं हैं, उनमें वैयक्तिकता संक्षिप्त है। वह देवता न था, फरिश्ता न था। [२]इसीलिए वे उपन्यास की आकर्षण शक्ति के स्तम्भ हैं। सूरदास का चरित्र तो वैयक्तिक प्रवृतियों के संविधान का उत्कृष्ट उदाहरण है। उपन्यास के प्रधान-चरित्रों के अतिरिक्त सामान्य पात्रों को सजीवता प्रदान करने की कला में प्रेमचन्द ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। पाण्डेपुर के निवासियों के चित्रांकन में उपन्यासकार ने स्वाभाविकता और सजीवता पर विशेष ध्यान रखा है। इसीलिए रंगभूमि के ग्रामीण पात्र प्रेमाश्रम के ग्रामीण चरित्रों की भांति ही जीवन शक्ति से

१. प्रेमचन्द: उपन्यास और शिल्प, पृ०७२
२. प्रेमचन्द की उपन्यास कला पृ०७६

अनुप्राणित हैं। भैरो, सुभांगी, जमुनी, बजरंगी, नायक राम, जगधर और ठाकुरदीन इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। सामान्य पात्रों में स्वाभाविकता, सजीवता और संगति की प्रभावात्मक कला का पूर्ण विकास आगे चलकर 'गोदान' की अमर ग्रामीण पात्र-सृष्टि से हुआ। रंगभूमि में वस्तु के अन्तर्गत पात्र की समस्या के समाधान की त्रुटि पूर्ववत् ही बनी हुई है। पात्र की स्थायी व्यवस्था न कर सकने के कारण उपन्यासकार उसे आत्म-हत्या के लिए बाध्य करता है। सोफिया और विनय के चरित्र इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। सोफिया जिस स्थिति में पड़ गई थी, उसमें आत्महत्या चाहे अनिवार्य हो गई हो, किन्तु विनय को तो प्रेमचन्द ने छुटकारा पाने के लिए ही आत्महत्या का पथ बता दिया। वीरता और देशप्रेम का प्रमाण देने के लिए आत्महत्या की आवश्यकता नहीं होती, वरन् कर्मक्षेत्र में उतरना पड़ता है। प्रेमचन्द भी यह जानते थे और विनय भी यह जानता था। तथापि इसी बहाने प्रेमचन्द ने उसे आत्महत्या का आवेश दिलाया है, क्योंकि उसकी समस्या का समाधान उनकी सामर्थ्य के बाहर था। यहां प्रमुख पात्र सेवक के चरित्र का उल्लेख भी अनावश्यक न होगा। बड़े विस्तार से उसकी चरित्र व्यवस्था करने के उपरांत, उपन्यासकार कथा से पृथक् करने के लिये उसे विलायत भेज देता है। यह बहुत कुछ उसी प्रकार का है, जिस प्रकार अपने उपन्यासों में पात्र से निवृत्ति पाने के निमित्त उपन्यासकार ने उसे संन्यासी बनाकर मन्तव्य पूरा किया। यह प्रवृत्ति पात्र सृष्टि की कलागत न्यूनता है, जिससे उसकी प्रभावात्मकता कम हो जाती है। 'रंगभूमि' में अनावश्यक पात्रों की कमी नहीं है।[1]

'कायाकल्प' [१९२८] में प्रेमचन्द की कल्पना ने विचित्र पलटा खाया। उपन्यास में उन्होंने पूर्वजन्म आदि आध्यात्मिक विषयों को सन्निविष्ट किया है, जिससे कृति का चमत्कार पक्ष अवश्य पुष्ट हुआ, किन्तु मूल विषय की स्वाभाविकता का परिहार हुआ है। मध्यवर्ग की विषम जीवन-यात्रा में स्वर्ग के खण्डहरों की प्रतिच्छाया चाहे विभ्रम पैदा कर रोक दे, पर विश्वास नहीं उत्पन्न कर सकती। 'कायाकल्प' में भूमिपति वर्ग मध्यवर्ग और निम्न वर्ग के पात्र हैं। भूमिपति वर्ग के पात्रों में देवप्रिया और विशाल सिंह हैं। मध्यवर्गीय पात्रों में चक्रधर, बज्रधर, यशो-

---

१. प्रेमचन्द-साहित्यिक-विवेचन, पृ०८२

दानन्दन, हरिसेवक सिंह आदि हैं। मनोरमा और अहिल्या का राजघराने से सम्बन्ध उनकी मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों और संस्कारों का उन्मूलन नहीं कर पाता। निम्नवर्ग में किसान और अछूत हैं। उपन्यास में मध्यवर्ग के पात्रों का प्राधान्य और सब प्रमुख पात्र इस वर्ग से ही सम्बन्धित हैं। मुंशी वज्रधर मध्यवर्ग का एक टिपिकल पात्र है, जिसकी चरित्रगत विशेषताओं में इस वर्ग की एड़ी से चोटी तक झलकती है, यदि अतिशयोक्ति न समझी जाय, तो यह कहने का साहस किया जा सकता है कि मध्यवर्ग की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने में वज्रधर का चरित्र-प्रेमचन्द साहित्य में अनुपमेय है। 'कायाकल्प' में उपन्यासकार ने आदर्श की अभिव्यक्ति के निमित्त जिन पात्रों की सृष्टि की है, उनमें सजीवता का अभाव है। चक्रधर का चरित्र लीजिए। प्रेमचन्द ने उसे एक आदर्शवादी-सिद्धान्तवादी देशसेवक के रूप में चित्रित किया है। पीड़ित जनता के लिए वह सुख सुविधा का जीवन त्याग कर अनेक कष्ट सहता है। अन्याय का विरोध करने में वह अग्रगण्य है। किन्तु उसका आदर्शचित्र प्रेमचन्द ने इतना बढ़ा-चढ़ा कर खींचा है कि यांत्रिक हो उठा है। वह मानवीय संवेदना से रिक्त जड़मूर्ति बन जाता है। मनोरमा के प्रेमभाव को जानते हुए भी वह पाषाणवत् व्यवहार करता है। हम उसे संयम कह सकते हैं, आदर्शवान् और सिद्धान्तवादी भी कह सकते हैं, किन्तु मनोवेग के अभाव में सजीव पात्र नहीं कह सकते। उसकी सेवावृत्ति का परवर्ती रूप उपन्यासकार ने न जाने क्या समझ कर निश्चित किया है। जो व्यक्ति जनसेवक था, आन्दोलनों में जनता के साथ रहता था, वही चक्रधर बाद में देश-प्रदेश में दवा बांटता फिरता है। उसके लिये क्या जड़ी-बूटी बांटते फिरने से अच्छा सेवाकार्य रह नहीं गया था। इसलिए उसके चरित्र के पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध हलका और प्रभावहीन हो गया है। सामान्य पात्रों में लौंगी का चरित्र आदर्श होकर भी सजीव है, क्योंकि वह प्रेम और वात्सल्य ऐसे मनोवेगों पर आधारित है। वह हरिसेवक की ब्याहता नहीं है किन्तु परित्यक्ताओं के लिए भी आदर्श है। कर्तव्य, प्रेम और त्याग से अनुप्राणित उसका चरित्र नारीत्व के उज्ज्वल-पक्ष की मार्मिक झलक दिखाता है। वह हरिसेवक की शक्ति है, आत्मा है और प्रेरणा है। लौंगी के चरित्रांकन में उपन्यासकर ने विशेष सहृदयता का परिचय दिया है। गौण पात्रों में वह प्रमुख पात्र है

और सजीवता की दृष्टि से उपन्यास के उल्लेख्य चरित्रों में है। कायाकल्प के पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों के चरित्रांकन में उपन्यासकार को अधिक सफलता मिली है। उसने कतिपय स्थलों पर नारी मनोविज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। विशेष रूप में सौतिया डाह से जलने वाली नारियों के चरित्र-चित्रण में उसे बड़ी सफलता मिली है। इस दृष्टि से विशाल सिंह की रोहिणी और वसुमती रानियों के चरित्र उल्लेखनीय हैं। उनके सामान्य मनोभावों और चेष्टाओं को उपन्यासकार ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। मनोरमा के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द को अच्छी सफलता मिली है। उसकी असीम मनोव्यथा और तृषित आकांक्षा अतुल मार्मिकता से चित्रित की गई हैं। चक्रधर की मां निर्मला के संक्षिप्त चरित्र में भी प्रेम और परम्परा का द्वन्द्व द्रष्टव्य है।[1]

"गबन" [१९३०] में प्रेमचन्द की उपन्यास कला का सुन्दर विकास हुआ है। यह प्रेमचन्द की पहली औपन्यासिक कृति है, जिसमें सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा व्यक्ति की समस्या प्रमुख है। रमानाथ का मिथ्या प्रदर्शन और जालपा का आभूषण-प्रेम उपन्यास की कथा के संविधान का विशेष आधार है। प्रेमचन्द के नारी पात्रों में जालपा एक नये ढंग की नारी है।[2] व्यक्ति के संस्कार निर्माण में वातावरण का अमिट प्रभाव दिखाकर उपन्यासकार ने चिरसत्य की प्रतिष्ठा की है। भारतीय पुलिस वर्ग का भी नग्न रूप दिखाया गया है। गबन के मुख्यपात्र मध्यवर्गीय हैं। रमानाथ, जालपा, रतन, दयानाथ आदि-आदि मुख्य पात्र मध्यवर्ग के हैं। निम्न वर्ग के पात्रों में देवीदीन और उसकी पत्नी जागो उल्लेख्य है, किन्तु इनकी आर्थिक दशा खराब नहीं है। अधिकारी वर्ग में पुलिस विभाग के व्यक्तियों के चरित्रांकन में उपन्यासकार को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। पुलिस वालों के मानसिक गठन का प्रेमचन्द ने अति उत्तम चित्रण किया है। इसी प्रकार मध्यवर्ग के 'बाबू' चरित्रों में मुख्य रमानाथ के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द की मध्यवर्गीय दृष्टि ने उस चरित्र में सूक्ष्म तंतुओं को बड़ी कुशलता से ग्रहण किया है। उसके चरित्रांकन में उपन्यासकार ने मनोवैज्ञानिक आधार का सफल निर्वाह

---

१. प्रेमचन्द—उपन्यास और शिल्प, पृ० १०६।

२. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० ६८।

किया है। अपराधग्रस्त व्यक्ति के मनोभावों के कुशल चित्रण की दृष्टि से रमानाथ का चरित्र उल्लेख्य है। काल्पनिक अपराध से संत्रस्त रमानाथ की मानसिक उथल-पुथल के चित्रण में प्रेमचन्द को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। 'गबन' की पात्रसृष्टि कलात्मक है। इसमें आदर्शवादी पात्रों के निर्जीव चरित्रों के विपरीत यथार्थवादी पात्रों के सजीव चरित्रों की योजना की गई है। इसके पात्र हमारे जीवन से अधिकाधिक सम्बन्धित हैं और उनके चरित्र-निर्माण में वातावरण एवं परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव अंकित किया गया है। पात्रसृष्टि की यह कला-विशिष्टता 'गबन' की उत्कृष्टता का प्रमाण है। वातावरण और परिस्थितियों का चरित्र-विकास में महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करके 'गबन' में प्रेमचन्द ने सजीव और स्वाभाविक पात्र-सृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'गबन' में अनावश्यक पात्र नहीं हैं। प्रत्येक पात्र का वस्तु में स्थान नियत है। केवल जोहरा का प्रश्न विचारणीय है। जोहरा कथा के अंतिम भाग में आती है। प्रेमचन्द की आदर्शनिष्ठा ने उपन्यास के अंत में उसे जो महत्व प्रदान किया है, उससे चरित्र चित्रण का संतुलन नष्ट हो गया है। यदि उसे अनावश्यक पात्र न भी माना जाय, तब भी उसकी योजना में त्रुटि है। उपन्यास के अंत में उसकी डूबकर मृत्यु से अधिक आत्महत्या उसकी स्थायी समाधान की अक्षमता का प्रमाण है। यह त्रुटि 'गबन' के पूर्ववर्ती उपन्यासों की परम्परा में है। उपन्यास की पात्रसृष्टि में यही उल्लेख्य है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

'कर्मभूमि' [१९३२] में प्रेमचन्द ने बड़े व्यापकत्व के साथ उन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का चित्रण किया है, जो पग-पग पर भारतीय समाज और जीवन को प्रभावित कर रही थीं। 'कर्मभूमि' में उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के अनेक पात्र आये हैं। वर्ग विभाजन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से चरित्रों का तीन भागों में बांटा जा सकता है—शोषक, शोषित और सुधारक। शोषक वर्ग के पात्रों में समरकान्त और धनीराम मुख्य हैं। महन्त आशारामगिरि की गणना भी शोषक पात्रों में की जानी चाहिये। शोषित वर्ग में नगर के निर्धन प्राणी और गांव के किसान हैं। सुधारक वर्ग में शांतिकुमार, सुखदा और अमर उल्लेख्य हैं। आत्मानन्द की उग्रनीति के कारण वह सुधारक से अधिक विद्रोही कहा जायेगा। वैसे तो सुखदा और अमरकांत

में विद्रोहात्मक भाव वर्तमान है, किन्तु मूलतः वे सुधारवादी पात्र हैं। चरित्र विकास की दृष्टि से 'कर्मभूमि' प्रेमचन्द के श्रेष्ठ उपन्यासों में है। उसके कई पात्रों का चरित्रांकन कलात्मक हुआ है। यद्यपि अमरकांत का ढाँचा आदर्शवादी है, तथापि वह उपन्यासकार के अन्य आदर्शवादी पात्रों की अपेक्षा अधिक सजीव है। उसके चरित्र का निर्माण उसकी परिस्थितियों का परिणाम है। उसका धनद्वेष तो निश्चय ही उसके पितृद्वेष के कारण है। उसकी मानवीय दुर्बलताएँ भी उसे स्वाभाविक और सजीवन बनाए रखती हैं। उसके जीवन-संघर्ष के साथ ही यदि उसके मानसिक द्वन्द्व को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती तो उसका चरित्र निश्चय ही प्रभाव विशिष्ट बन पड़ता। समरकांत के चरित्र में धन और पुत्र-प्रेम का द्वन्द्व द्रष्टव्य है। यद्यपि इसे भी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त है। सजीवता और स्वाभाविकता की दृष्टि से सलीम का चरित्र उल्लेख्य है। गौण पात्रों में भी पठानिन सलोनी आदि चरित्र अच्छे बन पड़े हैं। काले खां को अवश्य प्रेमचन्द की आदर्शवादिता ने ले डाला। अन्यथा प्रारम्भ बड़ा सजीव हुआ था।

'कर्मभूमि' में पुरुषपात्रों की अपेक्षा स्त्रीपात्रों का चरित्रांकन अधिक प्रभावात्मक है। स्त्रीपात्रों की संख्या कम नहीं है और उनमें सबलता एवं सजीवता भी अधिक है। कर्मक्षेत्र में भी नारी पात्र पुरुष पात्रों से बाजी मार ले जाते हैं। सुखदा के चरित्र में अमर की अपेक्षा तेजस्विता है। उसकी सगर्व और सशक्त मनोवृत्तियों का चित्रण अच्छा हुआ है। उपन्यासकार ने उसकी चरित्रगत प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सफलता पूर्वक किया है। सुखदा के अतिरिक्त पठानिन सलोनी, नैना, रेणुका आदि स्त्रीपात्रों का चरित्रांकन सजीव हुआ है।[१] 'गोदान' [१९३६] प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें भारतीय समाज के बहुत बड़े भाग को कथावस्तु का विषय बनाया गया है। नगर और ग्रामीण जीवन की मुख्य समस्याओं पर भी व्यापकत्व के साथ दृष्टिपात किया गया है। उपन्यास का ध्येय ग्रामीण समाज का चित्रण करना है, नगर की कथा सामाजिक केनवेस की सम्पूर्णता के निमित्त सम्बद्ध है।[२]

---

१. प्रेमचन्द–उपन्यास कला, पृ० १३६
२. आलोचना [इतिहास विशेषांक] पृ० ११४

वह पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से आन्दोलित नागरिक संस्कृति की संक्रान्ति दशा से भी पाठक का परिचय कराती है। ग्रामीण जीवन के चित्रण में उपन्यासकार ने यथार्थवादी शैली का अच्छा प्रयोग किया है, जिससे कथा की प्रभावात्मकता बढ़ी है। उसने ग्रामीण समाज के आर्थिक आधार का चित्रण करने में उन सब शक्तियों के कार्य-व्यापार पर दृष्टि-पात किया है, जो उस व्यवस्था के अविभाज्य अंग बन गये हैं। जमींदार महाजन और किसान इस व्यवस्था के मुख्य अंग हैं। गोदान का ग्रामीण समाज इन्हीं के कार्य व्यापार से प्रभावित है। उपन्यासकार ने जमींदार और महाजन द्वारा किसान के अनवरत शोषण का यथार्थ चित्रण किया है।

'गोदान' में उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के पात्र आये हैं।[1] उच्च वर्ग में खन्ना जैसे पूंजीपति और राय साहब जैसे जमींदार हैं, मध्यवर्ग में मेहता मालती और ओंकारनाथ आदि हैं। मेहता अध्यापक हैं, मालती डाक्टर और ओंकारनाथ सम्पादक। वस्तुतः मध्यवर्ग प्रबुद्ध वर्ग है। निम्नवर्ग में होरी, गोबर, सिलिया, शोभा, हीरा, भूरे आदि व्यक्ति आते हैं। इसमें किसान और श्रमिक सम्मिलित हैं। गोबर गाँव का किसान है, नगर में वह श्रमिक बन जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से 'गोदान' के पात्रों के दो स्पष्ट वर्ग हैं–शोषक और शोषित। प्रथम वर्ग में जमींदार, पूंजीपति और महाजन हैं। शोषित वर्ग में गांव के किसान और नगर के श्रमजीवी हैं। गोदान के अधिकांश पात्र इन दो वर्गों में आ जाते हैं, मेहता और मालती अवश्य इनसे पृथक् हैं। गोदान की पात्र-योजना यथार्थवादी दृष्टि से प्रमुख है। अन्य उपन्यासों के प्रेमशंकर और चक्रधर जैसे 'कठपुतली' आदर्शवादी पात्रों की पद्धति पर इस उपन्यास में चरित्रांकन नहीं हुआ है। मेहता के चरित्र का आदर्शवादी अंश निर्जीव आदर्शवादी पात्रों से भिन्न प्रकार का है। उसमें आदर्शवादिता बौद्धिक वृत्ति है जो जीवन की सजीवता का परिहार नहीं करती। मेहता जितने आदर्शवादी हैं, उतने ही यथार्थवादी भी हैं। उनके जीवन-दर्शन में स्थूल भौतिकता उतनी ही है, जितनी सेवा-त्याग के प्रति निष्ठा। अतएव आदर्श-वादी पात्रों में उनकी गणना नहीं की जा सकती। मेहता के अतिरिक्त

---

१. प्रेमचन्द–साहित्यिक विवेचन, पृ० १३९

अन्य पात्रों के विषय में यह विवाद उठता ही नहीं, क्योंकि उनकी यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियां स्पष्ट हैं। उपन्यास के सामान्य पात्रों में स्वाभाविकता सजीवता की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है, विशेष रूप से ग्रामीण चरित्रों में यह द्रष्टव्य है। ग्रामीण गौण चरित्र भी मुख्य पात्रों की भांति ही जीवन्तशक्ति से अनुप्राणित हैं। उनकी गतिशीलता सर्वत्र ध्यान आकर्षित करती है। उनकी सजीवता और स्वाभाविकता का आधार यथार्थवादी चरित्र-चित्रण है जो जीवन की वस्तुस्थिति की अवहेलना नहीं करता। गोदान के सामान्य चरित्रों में झुनिया, गोबर, पुनिया, सिलिया, पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, चुहिया आदि अनेक पात्र उल्लेख्य हैं। इन पात्रों को चरित्रगत प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इनके मानसिक गठन की अच्छी झांकी भो मिल जाती है।

'मंगलसूत्र' प्रेमचन्द का अंतिम अपूर्ण उपन्यास है। इसके चार परिच्छेद ही लिखे जा सके थे कि उपन्यासकार का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु के कई वर्ष उपरान्त यह अधूरा उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में मध्यवर्ग के नागरिक पात्र प्रमुख हैं।

देवकुमार एक सच्चे साहित्यिक हैं। उन्होंने साहित्य को अपनी कृतियों से समृद्ध किया, लेकिन स्वयं अकिंचन ही बने रहे। उन्हें यश तो मिला, किन्तु धन नहीं। उनका बड़ा बेटा सन्तकुमार पिता के इस आदर्शवाद को पसन्द नहीं करता। नई रोशनी में पला यह युवक जीवन का सुख लूटना चाहता है। छोटा लड़का साधुकुमार पिता के आदर्शों पर चलता है। वह भी आदर्शों का पोषक है। बदलते हुए जमाने की रफ्तार से देवकुमार को धक्का सा लगता है। उनकी आदर्शभूमि डोलती सी दिखाई देती है। वह एक मानसिक झंझावात में पड़ जाते हैं।[१]

मंगलसूत्र के नायक के सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचन्द ने लिखा है-"पं० देवकुमार को धमकियों से झुकाना असम्भव था।"[२]

पं० देवकुमार में प्रगतिवादी चरित्र का स्पष्ट परिचय देखा जा सकता है। वह शोषक से समझौता नहीं करना चाहते।[३]

१. प्रेमचन्द-साहित्य विवेचन, पृ० १५४

२. मंगलसूत्र, पृ० ३८

३. प्रेमचन्द [डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित], पृ० १७४

गोदान एवं युद्ध और शान्ति

'गोदान' की तुलना अक्सर टालसटाय के 'युद्ध और शान्ति' से की जाती है। युद्ध और शान्ति में पांच सौ पात्र रंगस्थल पर आते हैं। इनमें अनेक जीवंत पात्र हैं, जिनके द्वारा लेखक ने इसी समाज का वैविध्यपूर्ण विशेषताओं का उद्घाटन किया। औपन्यासिक समय युद्ध-कालीन होने के कारण वह रूसी सीमा को लांघकर नेपोलियन और उसके सैनिक समाज का चित्रण करने में समर्थ हो सका है। चूंकि उसी समय रूस के समाज में जमींदार आदि अभिजात्य परिवारों का महत्व था, इसलिये विशेष रूप से चार संपन्न कुलीन परिवारों का चित्रण किया, जिससे समाज के विविध प्रकार के मानव जीवनों का परिचय हो जाता है। यद्यपि लेखक ने ग्रामीण एवं निम्न वर्ग की जनता का चित्रण इस उपन्यास में दो तीन स्थलों पर संक्षेप में करके ग्रामीण जीवन के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई है, तथापि इसमें किसी ऐसे चरित्र की सृष्टि नहीं की गयी, जो ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करता हो।

अभिजात्य वर्ग की सभी प्रवृत्तियों का चरित्रांकन मास्को और पीट्सबर्ग में होने वाले भोजों और उनकी शान शौकत आदि के वर्णनों में किया गया है। टालस्टाय की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि समाज के सम्पूर्ण चरित्रांकन की वैविध्यता के दर्शन के उद्देश्य से प्रेरित होकर भी कुछ चरित्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का उद्घाटन करने में अत्यन्त सफल एवं समर्थ हो सका है। वे पात्र इस प्रकार हैं—पीरी इस उपन्यास का नायक है (यद्यपि इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं)। उसका विचित्र व्यक्तित्व सदा परिवर्तनशील है। दूसरों को हानि न पहुंचाने वाला सुन्दर स्वभाव उदार प्रवृत्ति, त्याग करने की अनन्त शक्ति सम्पन्नता, विनयशीलता, भद्रता आदि गुण उसके असाधारण व्यक्तित्व के परिचायक हैं। लेकिन उसकी द्वन्द्वपूर्ण चंचल प्रवृत्ति, उलझनपूर्ण परिस्थितियों में अपने को संभाल न सकने की मानसिक दुर्बलता और अनियंत्रित इच्छाशक्ति उसे पाठक की सहानुभूति या दया का पात्र बनाती है। पीरी के बाद प्रभावशाली व्यक्तित्व एंड्रू का है, जो अत्यन्त बुद्धिमान, वीर, देशभक्त, प्रेमी और कभी-कभी असहनशील भी है। वह अनेक स्थितियों में निरंकुश एवं अतार्किक स्वभाव वाला भी हो जाता

है। उपन्यास की नायिका नात्शा है, जो सोमरसेट माम के अनुसार टालस्टाय के सभी नारी पात्रों में सर्वश्रेष्ठ है। वह अद्भुत सुन्दरो है, स्त्री स्वभाव के अनुकूल भावुक है, बुद्धिमती है और अत्यन्त सहृदय। इसलिये उसका चरित्र सर्वाधिक आकर्षणीय है और वह सहज एवं स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न है।

अभिजात्यवर्ग के सामान्य एवं वैविध्यपूर्ण गुण निम्नलिखित चरित्रों में व्यक्त हुए हैं—वृद्ध काउन्ट रोस्टोव उदार है और सुख सम्पन्नता का इच्छुक है। निकोलस रोस्टोव ऐसा व्यक्ति है, जो अपनी सम्पन्नता एवं स्टेटों को बनाये रखने के लिये अपनी प्रेयसी की उपेक्षा करके मेरी से विवाह कर लेता है। सोनिया गुणवती है। परिवार की भलाई के लिये अपने प्रेमी निकोलस को विवाह बंधन में नहीं बांधती है। वह त्याग की मूर्ति है। बालकोन्स्की परिवार के व्यक्ति विचित्र ही हैं। वृद्ध बालकोन्स्की क्रोधी, नियम का पाबंद एवं अभिजात्य वर्ग की प्रवृतियों से ओत-प्रोत है। मेरी धर्म परायण, सरल हृदया और गाड-झाक सम्प्रदाय की उपासिका है। कुटागिन परिवार अभिजात्यवर्ग के दुष्ट चरित्रों का प्रतीक है। प्रिन्स बेसली चालक, मक्कार एवं मतलबी है। उसका पुत्र अनातोले कामुक, व्यभिचारी और कुकर्म करने वाला व्यक्ति है। हेलन ऊपर से जितनी सुन्दरी है, उतना ही उसका आन्तरिक मन कलुषपूर्ण है। इनके अतिरिक्त जार और नेपोलियन कभी-कभी युद्ध स्थल पर आते हैं। उनके प्रभावशाली चरित्र तो प्रसिद्ध ही हैं। सेनाध्यक्ष कुतुजोव के सेना एवं युद्ध सम्बन्धी नियोजन और नीति से उसकी विशिष्ट बुद्धिमत्ता के दर्शन होते हैं। बोरिस, दोलोखोव आदि अनेक सैनिक अफसरों तथा जूली, अन्ना, पावलोना, अन्नामिहलोव्ना, बोदिन आदि की अपनी-अपनी स्वभावगत विशेषताएं हैं।

गोदान में भी अनेक पात्रों की सृष्टि की गयी है, जो भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि हैं। किन्तु नन्ददुलारे वाजपेयी इससे भिन्न मत रखते हैं।[1] लेखक ने गांव के सम्पूर्ण जीवन को प्रतिबिंबित करने के लिये आवश्यक प्रतिनिधि पात्रों को चुना। किसान का प्रतिनिधि होरी तो है ही, साथ ही साथ किसान या निम्नवर्ग के प्रतिनिधित्व में पूर्णता लाने के लिये होरी के भाइयों के परिवार, भोला का परिवार आदि की

१. प्रेमचन्द—साहित्य विवेचन, पृ० १४६

रचना की गयी। महाजन एवं उच्चवर्ग के प्रतिनिधित्व के लिये पंडित मातादीन, ठाकुर झिंगुरी सिंह, कारकुन नोखेराम, पटवारी लाल, पटेश्वरी, मंगरु साह, बिसेसर हाल, दुलारी आदि का चित्रण किया गया। निम्नवर्ग या सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व किया सिलिया और उसके परिवार ने। ग्रामीण समाज में शहरी सभ्यता की हवा लगने से बदलती मूल्य- मान्यताओं को दिखाने के लिये गोबर और झुनियाँ का चरित्रांकन किया गया। ग्रामीण समाज के स्वार्थ एवं नैतिक खोखलेपन को दर्शाने के लिये झिंगुरी सिंह और उनकी पत्नियों, मातादीन और सिलिया और नोखेराम और मोहरी के चरित्रों की सृष्टि की गयी है।

शहरी जीवन में जमींदार रायसाहब मौजी जीव हैं, जो सदैव गांवों का शोषण करते रहते हैं और चाय पार्टियों में गुलछर्रे उड़ाते हैं, वह उस समय के जमींदारवर्ग के प्रतिनिधि हैं। बैंकर खन्ना, जिसमें पूंजीवाद की सभी प्रवृत्तियां विद्यमान हैं और जिसका लक्ष्य धनार्जन करना तथा तथा ऐश-आराम की जिन्दगी बिताना है, वह पूर्णतः व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधि है। शहर के पढ़े-लिखे लोगों में जो चार सौ बीस रहते हैं, उनका प्रतिनिधि तन्खा है। संपादक ओंकारनाथ उन संपादकों का प्रतिनिधि है, जिनके पत्र की बिक्री तो अच्छी होती नहीं और रूपयों के लिये तरसते रहते हैं तथा अवसर मिलने पर घूस भी खूब लेते हैं। प्रोफेसर मेहता सच्चरित्र हैं, जो प्राध्यापक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मिर्जा खुर्शेद शहर के उन मस्तानों के प्रतिनिधि हैं, जिनके जीवन का कोई भी लक्ष्य नहीं रहता। भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व हुआ है गोविंदी में जो पति [खन्ना] की ताड़नाएं सहती जाती है और निराश एवं दुखों में पड़े हुए पति का सहारा भी बनती है। नई सभ्यता में पली रमणियों का प्रतिनिधित्व मालती करती है, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये लोगों को उल्लू बनाये फिरती है। मीनाक्षी ऐसी क्षत्राणी नारी है, जो अपने पति के दुष्कर्मों पर उसे हंटर भी लगा सकती है। विवाह सम्बन्धी परिवर्तित मान्य-मूल्यों के प्रतिनिधि हैं मालती की बहन सरोजिनी और राय साहब का पुत्र रुद्रदयाल जो रजिस्टरी मैरेज करके विलायत चले जाते हैं। इस प्रकार इन उपन्यासों में इतनी विभिन्न प्रवृतियों से युक्त चरित्र-निर्माण दोनों उपन्यासों को उपन्यास के साधारण स्तर से ऊपर उठाता है।[1]

१. समालोचक, अप्रैल १९५९, पृ० ४०

प्रेमचन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

–डा० (श्रीमती) रमा सूद

प्रेमचन्द का अविर्भाव उस काल की एक घटना कही जायेगी, जिसमें रूमानी वातावरण का पूर्णतः लोप हो चुका था और मानव जीवन तीव्र संघर्षमय परिस्थितियों से गुजर रहा था। प्रेमचन्द का जीवन-क्रम सन् १८८० ई० में प्रारम्भ हुआ और सन् १९३६ ई० तक चला। आपका साहित्यिक जीवन लगभग सन् १९०० ई० से प्रारम्भ हुआ, जो जीवनपर्यन्त उत्तरोत्तर विकास की दिशा में अग्रसर होता रहा। आपका देहान्त केवल ५६ वर्ष की आयु में ही हो गया। इनमें से लगभग ३६ वर्ष तक आपने अदम्य उत्साह से साहित्य सेवा को, बहुत कुछ पढ़ा, बहुत कुछ लिखा और जीवन संघर्ष में जो भी अनुभव प्राप्त किये, उन्हें अपनी रचनाओं में साकार रूप देकर अमरत्व प्रदान किया। लेखक होने के नाते प्रेमचन्द का मनुष्यत्व तथा व्यक्तित्व दोनों ही महान् हैं। उनकी कृतियों के मर्म को भली-भांति समझने के लिये उनकी युगीन परिस्थितियों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ आवश्यक है।

युगीन पृष्ठभूमि—

किसी भी महान् कलाकार की कृतियों में युगीन संदर्भ किसी न किसी रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रेमचन्द ने अपने युग को आत्मसात् किया और तदुपरान्त अपने साहित्त्य में उस पुग का यथेष्ट चित्रण किया। जिस युग में प्रेमचन्द ने साहित्य सृजन किया, उस युग में भारत की ग्राम-व्यवस्था आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में विश्रृंखल और जर्जरित हो रही थी। जातिवाद की जंजीरें जनजीवन को अपने में जकडे हुए थीं तथा ऊँच-नीच और भेद-भाव की धारणाओं ने समाज को अनेक वर्गों में विभाजित कर दिया था। अनेक प्राचोन मान्यताओं और परम्पराओं का अंधानुकरण करके उस युग का ग्राम-जीवन नियतिवाद की कठोर आस्थाओं पर टिका हुआ था। अशिक्षा और गरीबी ने उसे और अधिक खोखला बना दिया था तथा पूंजीवादी महाजनी सभ्यता ने ग्रामीण- जीवन को इतने भयावह रूप में जकड़ा कि आजीवन उससे मुक्ति का कोई उपाय नजर नहीं आ रहा था।

प्रेमचन्द के समय में पूँजीवाद और नौकरशाही के सम्मिलित प्रयास से जहाँ साम्राज्यवादी विचारधाराएं पनप रहीं थीं, वहीं दूसरी ओर भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के श्रीगणेश से जनजीवन में एक नई चेतना भी उभर कर आ रही थी। परिणामस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में जातीय सुधार, वर्ण व्यवस्था का विरोध, नारी को समान अधिकार, बाल-विवाह विरोध विधवा-विवाह समर्थन आदि के अनेक आन्दोलन उस युग में पनप चुके थे। दूसरी ओर धार्मिक क्षेत्र में भी अंधविश्वास मूर्तिपूजा, बहुदेवतावाद आदि के विरुद्ध उग्र रूप में आन्दोलनों ने जन्म ले लिया था। प्रेमचन्द के युग में मध्य-युगीन जर्जर समाज की मूलभूत धारणाओं पर प्रहार किये गये और वंश, जन्म और पद के आधार पर मनुष्य और मनुष्य में सामाजिक भेद को मिटाने का प्रयास किया गया। प्रेमचन्द युगीन आन्दोलनों के मूल में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक समानता के भाव कार्य कर रहे थे; इसीसे राष्टीय चेतना को एक नया जीवन और नयी स्फूर्ति मिल रही थी।

प्रेमचन्द युग से पूर्व ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि अनेक सुधारक दलों ने समाज को एक नया रूप और नया जीवन देनेका प्रयत्न किया। जातिवाद और अस्पृश्यता के खिलाफ इन संस्थाओं ने एक जोरदार आन्दोलन छेड़ा और नारी-शिक्षा तथा नारी जागरण का जोरशोर से प्रयास किया। हिन्दू और मुसलमानों के विभेद को मिटाकर राष्ट्रीय भावना जगाने में भी इनका महनीय योग रहा है। प्रेमचन्द के साहित्य में भी पूर्ववर्ती समाज-सुधारकों की विचारधाराएं आकर उभरी हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलनों से भी प्रेमचन्द प्रतिबद्ध रहे हैं और परिणाम-स्वरूप अपने युग के महान् विचारकों और दार्शनिकों, विशेषकर गाँधी और तिलक की विचारधाराओं को भी इन्होंने आत्मसात् किया है। उनके साहित्य में प्रतिबिम्बित प्रगतिवादी विचारधाराओं की प्रेरणा उन्हें कार्ल मार्क्स से मिली है।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी साहित्य में हिन्दी उर्दू का प्रश्न बहुत जटिल रूप लिये हुए था। प्रेमचन्द ने मध्य मार्ग अपनाया और अपने साहित्य में बड़े सहज और सरल रूप में जन-भाषा का प्रयोग किया। प्रेमचन्द से पूर्व का उपन्यास-साहित्य रूमानी विचारधाराओं और काल्पनिक घटनाओं से

पूर्ण था। प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य को यथार्थ के धरातल से जोड़ा और बड़े मनोवैज्ञानिक रूप में परिस्थितियों का विशद् विवेचन करते हुए जीवन के उदात्त और शाश्वत मूल्यों को अपने साहित्य में उभारा। इसी कारण युगीन संदर्भ में अपनी पूर्ण उपयोगिता रखते हुए भी प्रेमचन्द का साहित्य मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों से पूर्ण है।

व्यक्तित्व :-

प्रेमचन्द का प्रारम्भिक नाम धनपत राय था। सात साल की आयु में माता का स्वर्गवास इन्हें नई वेदनाओं का संदेश लेकर आया। १५ वर्ष की आयु में आपका विवाह हुआ और १६ वर्ष के होते-होते पिता का भी देहावसान हो गया। उन पर दो सौतेले भाई, सौतेली माँ तथा पत्नी का बोझ आ पड़ा। फलस्वरूप उनका जीवन और भी संघर्षमय हो गया। अपनी जीविका के साधन जुटाने के लिए उन्हें अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उनकी दूसरी पत्नी शिवरानी ने अपनी पुस्तक "प्रेमचन्द, घर में" बहुत सी ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है, जिससे उनके परिवार के घोर दारिद्रय का परिचय मिलता है।

जीवन के कटु अनुभव उन्हें बचपन से ही प्राप्त हुए थे। महाजनों से कर्ज लेने के दुष्परिणाम, सौतेली माता का कटु व्यवहार तथा सभी प्रकार से अभावमयी जिन्दगी जीने का अनुभव उन्हें स्कूली जीवन से ही मिला था। एक सहायक अध्यापक के पद पर १८ रू० मासिक वेतन पर जीवन-यापन के साथ इन्होंने अपने साहित्यिक स्वरूप का परिचय देना प्रारम्भ किया और कालान्तर में एक युग-प्रवर्तक महान् साहित्यकार के रूप में ख्याति अर्जित की।

कृतित्व :-

प्रेमचन्द द्वारा साहित्य सेवा का कार्य नाटक-रचना से प्रारम्भ हुआ। सन् १८९३ ई० में उन्होंने अपने मामा के प्रणय-प्रसंग को लेकर पहला नाटक लिखा, जो कभी प्रकाश में नहीं आया। सन् १८९८ ई० में उन्होंने पहला उपन्यास "इसरारे मुहब्बत" और दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास "रूठी रानी" लिखा। सन् १९०१ ई० में उन्होंने "श्यामा" और "प्रतापचन्द" तथा सन् १९०२ ई० में "प्रेमा", "कृष्णा" और "वरदान" उपन्यास लिखे। सन् १९०४ ई० में "हम खुरमा, हम सबाब"

तथा सन् १९०६ ई० में "प्रतिज्ञा" नामक उपन्यास लिखे। इनमें से कुछ रचनाएँ अप्रकाशित रहीं। उनकी प्रारम्भिक प्रकाशित रचनाओं में "रूठी रानी" और "वरदान" उल्लेखनीय हैं। "रूठी रानी" में प्रेमचन्द ने नारीदशा पर दृष्टिपात किया है। इस उपन्यास में बहु-विवाह की खराबियों और राजभवन और दरबार के षड्यंत्रों को भली-भाँति दर्शाया गया है। राजाओं की वीरता और देश-भक्ति के आदर्श को दिखाकर भी आपसी फूट और ईर्ष्या के कारण देश विनाश के संकेत लेखक ने दिए हैं। इस प्रकार "रूठी रानी" में प्रेमचन्द की दृष्टि देश की अवनत दशा और नारी की बेबसी और निरवलम्बिता की ओर गई है। दूसरी ओर "वरदान" को कहानी में एक अनमेल विवाह की समस्या उठाकर उसका समाधान आदर्शवादी दृष्टि से किया है। प्रेम में असफल कथानायक समाज सेवा का आदर्श लेकर चला है। इस उपन्यास के अन्य पात्रों में भी उन्होंने राष्ट्रीय आत्मगौरव को दिखाया। प्रेमचन्द ने "वरदान" में पुलिस के कारनामों की काली तस्वीर भी दिखायी है तथा जातियों को उन्नति और अवनति तथा उनके कारणों पर पूर्ण विचार किया है।

प्रेमचन्द जी की पहली कहानी "दुनियाँ का सबसे अनमोल रत्न" सन् १९०७ ई० में "जमाना" नामक उर्दू मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई। तभी पाँच कहानियों का एक संग्रह "सोजे वतन" के नाम से प्रकाशित हुआ। इन रचनाओं में लेखक ने अपना नाम नवाबराय दिया था। "सोजे वतन" की कहानियों में देश-प्रेम की भावना प्रबल रूप से मुखरित हुई थी। उन दिनों अंग्रेजी शासन होने के कारण यह कहानी संग्रह जब्त कर लिया गया। कहीं ये कहानियाँ अंग्रेजी सरकार के प्रति विद्रोह तथा घृणा की भावना को न पनपा दें, फलस्वरूप "सोजे वतन" की लगभग ५०० पुस्तकें जनता के सामने अग्नि को भेंट कर दी गई। इस अग्नि-समर्पण - काण्ड के साथ ही उन्होंने अपना नाम नवाबराय भी त्याग दिया और प्रेमचन्द के नाम से लेखन कार्य जारी रखा।

सन् १९०१ ई० से लेकर सन् १९०४-५ ई० तक प्रेमचन्द लगातार विधवा-विवाह की समस्या पर अत्यन्त विशदता एवं गम्भीरता से विचार करते रहे। सन् १९०५ ई० में शिवरानी नामक एक विधवा से दूसरा विवाह करने का उनका शायद यही मूलकारण रहा हो। यह विवाह

उनकी विद्रोही आत्मा की वह अभिव्यक्ति कही जा सकती है, जिसने उस समय की सामाजिक परम्पराओं और रूढ़िवादी मान्यताओं में जकड़े हुए व्यक्ति को स्वतन्त्रता का सन्देश दिया।

मुंशी प्रेमचन्द ने प्रारम्भ में उर्दू में ही लिखा, किन्तु सन् १९१४ ई० से उन्होंने उर्दू छोड़कर हिन्दी में लिखना शुरू किया। सन् १९१४ ई० के आस-पास ही उनकी कहानियों का हिन्दी अनुवाद हुआ। सन् १९१० ई० में इनकी बहु-प्रचलित कहानी 'पंच परमेश्वर'' 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई। इन्हीं दिनों आपका उपन्यास "सेवा सदन" भी प्रकाश में आया।

"सेवा सदन" से पहले हिन्दो उपन्यास साहित्य में काल्पनिक तत्त्व की प्रधानता थी। उस समय उपन्यास केवल हास्य, व्यंग्य और मनोविनोद का एक साधन-मात्र था। सामाजिकता तथा यथार्थता नाम की कोई चोज उसमें नहीं थी। 'सेवासदन' में प्रेमचन्द की मौलिकता वास्तविक रूप में हमारे सामने आई है। यद्यपि व्यंग्य का समावेश प्रेमचन्द में यथेष्ट रूप में मिलता है, तथापि इस व्यंग्य को उन्होंने मानव-जोवन की यथार्थता से जोड़ने का प्रयास किया है। यहो कारण है कि 'सेवा सदन' ने चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'तिलिस्म होशरुबा' के पाठकों को अपनी ओर खींचा ही नहीं अपितु उनके प्रति अरुचि भी पैदा की। इस प्रकार प्रेमचन्द ने जन-रुचि के अनुरूप नये सामाजिक मापदण्ड तैयार किए, जिसमें उन्हें भरपूर सफलता मिली।

निष्कर्ष रूप में 'सेवासदन' से पूर्व तक प्रेमचन्द समाज के उस व्यापक ढाँचे से पूर्णरूप से परिचित हो चुके थे, जिसमें धर्म आडम्बर था, रिश्वतखोरी का बोलबाला था और ईमानदारी का पूर्ण अभाव था, विषमताओं से समाज जर्जरित था, जिसमें परतंत्र नारी अशिक्षित और दलित थी। सामाजिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त समाज विश्रृंखल होता जा रहा था। इन सामाजिक विसंगतियों को प्रेमचन्द ने यथार्थ रूप में 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक की रचनाओं में किसी-न-किसी रूप में उभारा है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को जानने के लिए नीचे हम उनके 'सेवासदन' परवर्ती उपन्यासों में चित्रित उनकी विचारधारा का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझते हैं। इस परिचय से उनके

कृतित्व की ही नहीं व्यक्तित्व की विशेषताएं भी उभर कर परिलक्षित होंगी।

कृतित्व विश्लेषण : सेवासदन :

'सेवासदन' की मुख्य समस्यायें वेश्या-वृत्ति, अनमेल विवाह तथा भारतीय नारी की पराधीनता है, जिनपर प्रेमचन्द ने बहुत ही सूक्ष्म विचार किया है। सुमन किन्हीं कारणों से पढ़ा-लिखा वर प्राप्त न कर सकी, किन्तु समाज ने नारी को जिन पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, सुमन ने उन्हें कभी स्वीकार नहीं किया। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में नारी की स्वाधीनता और आत्मसम्मान की रक्षा का प्रश्न उठाकर स्वाधीनता-आन्दोलन में नारी की भूमिका पर बल दिया है।

'सेवासदन' हिन्दी की वह प्रारम्भिक कृति है, जिसमें सामाजिक समस्याओं को बड़ी गहनता और विस्तार के साथ लेखक ने उभारा है और जीवन तथा समाज के कटु सत्य को दिखाकर कुछ आदर्शों की ओर भी संकेत किया है। अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, नारी की अशिक्षा तथा पुरुष का उसके प्रति अनुदार दृष्टिकोण ही सम्मिलित रूप में वे कारण हैं, जो नारी को वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश करते हैं। नारी मनोविज्ञान को जितनी बारीकी से प्रेमचन्द ने समझा और परखा है, उतना शायद ही किसी हिन्दी उपन्यासकार ने प्रयास किया हो। नारी मनोविज्ञान के धरातल पर पहुँच कर प्रेमचन्द ने उसके अन्तस्तल का ही स्पर्श मात्र नहीं किया, अपितु उससे सम्बन्धित समस्याओं का निदान भी खोजा है। 'सेवासदन' में नारी-जागरण का प्रथम स्वर निनादित हुआ है।

प्रेमाश्रम—

'प्रेमाश्रम' प्रथम महायुद्ध के बाद की रचना है। उस समय हिन्दू जनता अंग्रेजों की गुलामी से अपने आप को मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हो रही थी। असहयोग आन्दोलन समाप्त हो चुका था। प्रेमचन्द ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद और जमींदारों-जागीरदारों के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन किया। स्वाधीनता आन्दोलन को दृढ़ करने और किसानों की विविध समस्याओं को उभारने में उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये, उन्हीं को आधार बनाकर 'प्रेमाश्रम' की रचना की। 'प्रेमाश्रम' में उन किसानों

का जीवन चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिनकी आत्मा अत्याचार और अन्याय सहते-सहते विद्रोही हो गई थी। ये निम्न-वर्ग के किसान ही 'प्रेमाश्रम' के मुख्य पात्र हैं। उनमें मानवतावादी चेतना को मुखरित करके प्रेमचन्द ने किसानों के पुराण-पंथी विचारों को विनष्ट होते दिखाया है।

'प्रेमाश्रम' की महत्ता इस कारण है कि उसमें व्यक्तिवादी स्वर के साथ वर्गवादी चेतना भी मुखरित हुई है। प्रेमचन्द ने इस स्तर पर बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से इनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'प्रेमाश्रम' में किसानों के संघर्ष की कहानी वर्णित है, जिसमें उन्हें बाद में विजय भी प्राप्त होती है। किसानों के प्रति जमींदारों का न्याय करना इस समस्या का समाधान है। इस प्रकार यथार्थ के धरातल का स्पर्श करके प्रेमचन्द ने जीवन के आदर्शों को इसकी कहानी में उतारा है। अपनी कलात्मकता से कथा संगठन में मनोवैज्ञानिक दृष्टि और चरित्र चित्रण में आदर्श के समायोजन के कारण यह कृति प्रेमचन्द की उत्कृष्टतम कृति मानी जाती है।

निर्मला—

'निर्मला' उपन्यास में मुख्य कहानी निर्मला की है। तोताराम बिना दहेज लिए निर्मला के साथ शादी करके विधवा कल्याणी की समस्या का समाधान करता है; किन्तु उसके घिनौने चरित्र को निर्मला कभी भी आत्मसात् नहीं कर पाती और उसका अन्त बहुत दुःखपूर्ण होता है। 'निर्मला' प्रेमचन्द का एक विशुद्ध सामाजिक उपन्यास है। इसमें लेखक ने विवाह की समस्या को ही एकमात्र महत्ता दी है। भारतीय समाज में विवाह का प्रश्न दहेज-प्रथा के कारण भयंकर अभिशाप के रूप में माना जाता है। प्रेमचन्द ने जहाँ भी अवसर मिला, वहीं इस समस्या को उठाकर उसका समाधान दिया है। 'निर्मला' में अधेड़ वयस्क के साथ कम उम्र की कन्या के विवाह के भयंकर दुष्परिणामों को लेखक ने व्यक्त किया है। 'निर्मला' प्रेमचन्द की घोर यथार्थवादी रचना है। मूल रूप में दहेज की समस्या को संकेतित कर बेमेल विवाह के परिणामों को यथार्थ की भूमि से लाकर जोड़ दिया है। 'निर्मला' से लगभग १७ वर्ष पूर्व लिखे गये उपन्यास 'प्रतिज्ञा' में भी प्रेमचन्द ने विवाह की इसी

सामाजिक समस्या को उठाया है। इस प्रकार 'निर्मला' 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की ही एक पूरक रचना है।

'निर्मला' में दूसरा जीवन्त पात्र है मंसाराम। यहाँ लेखक का ध्यान स्कूली छात्रों की समस्याओं पर गया है। नवयुवक एवं नवयुवतियों की समस्याओं पर हिन्दी कथा-साहित्य में काफी कुछ लिखा गया है, किन्तु युगीन जर्जरित सामन्ती समाज में स्कूली छात्रों की समस्याओं पर ध्यान देने वाले ये पहले कलाकार हैं। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने कोई काल्पनिक समाधान पेश नहीं किया है, अपितु एक तर्कसंगत परिणाम देकर यथार्थवाद का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है।

रंगभूमि—

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द देशी राज्यों में जनता के आन्दोलन के प्रश्न को लेकर चले हैं। इसमें उनके प्रगतिवादी विचारों को आकार ग्रहण करने का अवसर मिला है। यहाँ साम्राज्यवादी विचारों की पृष्ठभूमि में देशी राज्यों की भूमिका पर विस्तार से विवेचन हुआ है। साथ ही 'रंगभूमि' की कथा में ग्राम्य संस्कृति को बचाने पर भी लेखक ने विचार व्यक्त किये हैं। गाँव की उन्नति में उन्होंने सामूहिक विकास को मान्यता दी है; इससे गाँव के उद्योगीकरण के सिद्धान्त को बल मिला है। सूरदास-'रंगभूमि' का मुख्य पात्र, व्यक्तिगत स्तर पर इस उद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है, इसीलिए वह मरते दम तक अपने पुरखों की निशानी (जमीन) तथा गाँव की जमीन के लिए लड़ता है। यद्यपि अंग्रेजी राज्य में उसका कुछ वश नहीं चलता और जबरन उसकी जमीन छीन ली जाती है, तथापि वह अपने अन्तिम श्वास तक किसानों को संगठित होने का ही उपदेश देता है।

प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' नामक उपन्यास सन् १९३० ई० का आन्दोलन छिड़ने से पूर्व लिखा था। इसमें मानो उन्होंने पहले से ही सामूहिक स्तर पर समाज उन्नयन की भविष्यवाणी कर दी थी। इस उपन्यास में उन्होंने बड़ी कुशलता से दिखाया है कि वे पूँजीपति, जिनकी साँठ-गाँठ राजाओं और जमीदारों से होती है, अंग्रेजी राज्य के सहायक और परम-भक्त हैं। सूरदास वस्तुतः सामन्तशाही और साम्राज्यवाद का विद्रोही बनकर सामने आया है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में भारत

की अजेय जनता का स्वर मुखरित करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि जनता स्वयं बिना किसी राजनीतिक नेता या पार्टी की मदद के भी अपनी स्वतन्त्रता तथा सामूहिक जीवन विकास के लिए प्रयत्नशील है। इसमें भारतीय ग्रामीण जीवन तथा देशी राज्यों में सामन्तीय-व्यवस्था की एक विशिष्ट झाँकी देखने को मिलती है।

सोफिया तथा विनय की प्रेमगाथा का अवतरण उपन्यास की कथा से असम्बद्ध होते हुए भी प्रेमचन्द की मानवतावादी विचारधारा का निरूपण करता है। प्रेम का सम्बन्ध वे हृदय की भावनाओं से मानते हैं, जो धार्मिक पाबन्दियों से ऊंची वस्तु है। "कर्मभूमि" में भी मुसलमान लड़की सकीना तथा हिन्दू लड़के अमरकान्त का प्रेम प्रेमचन्द की इसी मानवतावादी विचारधारा का पुष्ट प्रमाण है।

कायाकल्पः—

"कायाकल्प" में दो वर्गों की कहानी है। एक तरफ किसान जनता है तथा दूसरी ओर रानियाँ और जागीरदार। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि जागीरदारों तथा राजाओं की हुकूमत का किसान जनता पर कितना आतंक है। "कायाकल्प" की कथा एक ओर देश में फैले हुए तत्कालीन साम्प्रदायिक वैमनस्य का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर राजा और प्रजा की वास्तविक दशाओं तथा उनकी विषमताओं का पूर्ण परिचय कराती है। प्रेमचन्द ने प्रगतिवादी तत्त्वों का उन्नयन करके पुराने संस्कारों को मिटाने का प्रयास किया है, जिनके प्रति जनता की आँखें मुँदी हुई हैं।

"कायाकल्प" में उल्लेखनीय बातें ये हैं—राष्टीय भावनाओं की पुष्टि के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता, राजाओं का कामुक एवं विलासमय जीवन, प्रेम का तत्त्वदर्शन और प्रणय-परिणय के विविध स्वरूप। इसमें प्रेमचन्द ने नारी के अन्तर्मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। "कायाकल्प" वासना को प्रेम और वैभव को सेवा में बदल देने का सत्य सामने रखता है। इस उपन्यास में रानी देवप्रिया के जीवन में जो परिवर्तन दिखाई देता है, उसमें समानता, प्रेम, करुणा तथा कर्तव्य की भावना प्रमुख रूप से प्रकट हुई है। देवप्रिया के मानसिक परिवर्तन की इस दिशा में लेखक ने गांधी के सत्य, अहिंसा, समानता और प्रेम

के सिद्धान्त को अपनाया है तथा विश्व-बन्धुत्व तथा भाईचारे को महत्व दिया है।

गबन :—

"गबन" में प्रेमचन्द ने मध्य-वर्गीय समाज का यथार्थ जीवन चित्रित किया है। यहाँ पर लेखक ने नारी की आभूषण-प्रियता के कुपरिणामों को विशेष रूप से चित्रित किया है। आभूषणों के प्रति नारी के मोह को दूर करके जनता को नयी प्रेरणा देने की दिशा में यह उपन्यास प्रेमचन्द की महान् रचना कही जायेगी। "गबन" की जालपा एक नये ढंग की स्त्री है। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य और विवेक से काम करती है। वह एक ईमानदार, सच्चरित्र तथा देशभक्त नारी है। प्रेमचन्द ने जालपा का चरित्र जितना उच्च और महान् बताया है, उतना ही रमानाथ का निम्न और घृणित। यदि रमानाथ के चरित्र में पत्नी को भ्रम में रखने की प्रवृत्ति न होती तो कथा का अन्त इस रूप में न होता। हमारी दृष्टि में "गबन" की दुःखान्तता में स्त्रियों की आभूषण-प्रियता उतना कारण नहीं, जितना पुरुष की वंचना-वृत्ति। "गबन" के कथानक का एक पहलू इसी आभूषण प्रियता और वंचना वृत्ति से सम्बद्ध है।

"गबन" के कथानक का दूसरा पहलू तत्कालीन राजनीतिक चेतना की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें लेखक ने पुलिस के काले कारनामों तथा राजनीतिक दाँव-पेचों का पर्दाफाश बड़ी खूबी के साथ किया है। इस उपन्यास में लेखक ने समस्या के समाधान के लिए किसी आदर्शवादी दृष्टिकोण को नहीं अपनाया। इस प्रकार यह कृति यथार्थवाद में सीमित होकर वास्तविकता की धरती से जुड़ी हुई है।

कर्मभूमि :—

"कर्मभूमि" में प्रेमचन्द का यथार्थवाद अपने चरम रूप में प्रकट हुआ है। यह उपन्यास उस काल की रचना है, जब स्वाधीनता आन्दोलन का बोलबाला था। और भारतीय जनता साम्राज्यवादियों के मनमाने अत्याचारों को सहने के लिए तैयार न थी। अंग्रेजी राज के अन्याय और अत्याचार के विरोध में भारतीय जनता की आवाज बुलन्द हो रही थी। प्रेमचन्द ने "कर्मभूमि" में राष्ट्रीय आन्दोलन का चित्रवत्

वर्णन किया है। उन्होंने पहली बार मजदूरों और विद्यार्थियों को साथ मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला करते दिखाया है। "प्रेमाश्रम" के किसानों की तरह "कर्मभूमि" के किसान अपने को निपट अकेला नहीं पाते। अब समय के साथ-साथ जनता में नवजागरण हो रहा है। इसलिए किसानों के साथ विद्यार्थी, मजदूर, अछूत सभी लोग हैं। यहां तक कि स्त्रियाँ, शिक्षक और व्यापारी भी इस आजादी की लड़ाई में भाग ले रहे हैं।

अछूतों की मार्मिक दशा का सजीव चित्रण जितना "कर्मभूमि" में मिलता है, उतना उससे पूर्ववर्ती हिन्दी कथा-साहित्य में नहीं मिलता। प्रेमचन्द संसार के युगीन अर्थसंकट और उसके भारत पर पड़ते हुए प्रभाव से भली भांति परिचित थे। उनकी यह वैज्ञानिक दृष्टि ही उन्हें यथार्थ का मार्मिक चित्रण करने की शक्ति प्रदान करती है और उन्हें एक महान् कलाकार सिद्ध करती है। वस्तुतः "कर्मभूमि" में जमीन की समस्या, लगान कम करने की समस्या, खेत मजदूरों और गरीब किसानों के लिए जमीन की समस्या पर जोर दिया गया है।

गोदान-

प्रेमचन्द की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कृति "गोदान" है। इसमें उनके परिपक्व विचारों का दिग्दर्शन होता है। "गोदान" की मूल समस्या ऋण की समस्या है। उस समय मुंशी जी स्वयं भी ऋण के चंगुल में फँसे हुए थे। अतः "गोदान" पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों वे आपबीती कह रहे हों। "गोदान" के ग्रामीण चित्रण में जो तल्लीनता और आत्मीयता है वह अन्य उपन्यासों में कम ही देखने को मिलती है।

अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में भी प्रेमचन्द ने दो संस्कृतियों के भेद को स्पष्ट किया है, किन्तु "गोदान" में यह भेद और भी कौशल के साथ स्पष्ट हुआ है। एक ओर ग्रामीण जीवन तथा दूसरी ओर शहरी वातावरण, दोनों को एक दूसरे का पूरक बताया है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। जहाँ ग्रामीण जीवन के चित्रण में उनकी सहृदयता तथा मार्मिकता उभरी है, वहाँ शहरी जीवन के चित्रण में व्यंग्य तथा ग्लानि भी स्पष्ट हुई है। वस्तुतः "गोदान" के रचना काल में वे बम्बई में

थे; "गोदान" का ग्रामीण जीवन तथा बम्बई का शहरी जीवन कहीं भी मेल न खाता था। इसी शहरी जीवन के खोखलेपन को उन्होंने "गोदान" में रायसाहब, मालती और खन्ना द्वारा दिखाया है। रायसाहब के मानववाद के ढकोसले को बहुत ही खूबी के साथ स्पष्ट किया गया है। प्रोफेसर मेहता को लेखक ने उस बुद्धिजीवी के रूप में प्रस्तुत किया है, जो शोषकों से घृणा तथा जनता से प्रेम तो करते हैं, किन्तु उनकी घृणा और सहानुभूति अभी सक्रिय रूप धारण नहीं कर सकी है।

"गोदान" के गोबर और होरी, नवीन और प्राचीन पीढ़ी के प्रतिनिधि पात्र हैं। जहाँ होरी प्रत्येक अन्याय और अत्याचार को भाग्य मानकर स्वीकार करता है, वहाँ गोबर में प्रतिकार की भावना है, क्योंकि वह नये जमाने की रोशनी देख चुका है। इन सब चरित्रों तथा घटनाओं में प्रेमचन्द ने युगीन समस्याओं का यथार्थ चित्रण करके अपने युग की वास्तविक झाँकी प्रस्तुत की है।

मंगलसूत्र (अपूर्ण)—

"मंगलसूत्र" प्रेमचन्द की अन्तिम अधूरी रचना है। केवल ७० पृष्ठों से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि प्रेमचन्द अपने किन मनोभावों को इसमें व्यक्त करना चाहते थे। जिन दिनों इस उपन्यास का प्रारम्भ हुआ, उन दिनों उनकी आर्थिक अवस्था बहुत नाजुक थी। सम्भवतः "मंगलसूत्र" प्रेमचन्द की आत्मकथा होती, ऐसा अनुमान किया जाता है; किन्तु अपूर्ण रचना और वह भी केवल ७० पृष्ठ होने से किसी निश्चय पर पहुँच पाना कठिन है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ—

प्रेमचन्द की कहानियों में शिल्प तथा वस्तु की दृष्टि से बहुत स्तर-भेद है। यद्यपि यह स्तर-भेद उपन्यासों में भी मिलता है, किन्तु उनके बीच इतना फासला नहीं, जितना कहानियों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। इतना होने पर भी कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द को विश्व के विख्यात कहानीकारों में गिना जाता है। कहानी रचना में उन्होंने किसी नियम या कानून को नहीं माना है, अपितु वे कहानी को हृदय की वस्तु मानते हैं। इसी कारण इनकी कहानियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं।

इनकी कहानियों में घटना-वैचित्र्य प्रायः कम और चरित्रांकन की गहनता अधिक मिलती है। प्रेमचन्द ने उन्हें मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं लिखा है। उनमें से कोई-न-कोई सुझाव, किसी समस्या का समाधान अथवा जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण जरूर मिलता है। कहानी में रूखे उपदेश नहीं हैं, अपितु प्रेमचन्द ने उनमें समृद्ध हिन्दी जन-भाषा में बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं।

आपकी कहानियों के विषय पारिवारिक और राजनैतिक दोनों प्रकार की समस्यायें रही हैं। उन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों पर समान अधिकार से लिखा है। आपने हिन्दी में कहानियाँ लगभग सन् १९१३ ई० से लिखनी प्रारम्भ कीं। आपकी प्रारम्भिक कहानियाँ भावुकतापूर्ण तथा गौरवपूर्ण ऐतिहासिक गाथाओं से परिप्लावित थीं। आगे चलकर ये कहानियां सामाजिक, राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक जीवन से जुड़ती गईं। अन्त में लिखी गई कहानियाँ सन् १९३० के आसपास के राजनैतिक आन्दोलनों का चित्रण करती हैं। लगभग सभी प्रकार की कहानियों में भारतीय ग्रामीण जीवन के यथार्थवादी चित्र मिलते हैं। आपका प्रथम हिन्दी कहानी-संग्रह "सप्त सरोज" है। इस संग्रह की कहानियों में आदर्शवादिता मुखरित हुई है। कुछ अन्य एवं प्रमुख कहानी-संग्रह इस प्रकार है—"नवनिधि", "प्रेम-पचीसी" "प्रेम-पूर्णिमा" 'प्रेम-द्वादशी" "प्रेम-तीर्थ", प्रेम-कुंज", "प्रेम-चतुर्थी", प्रेम-प्रमोद", प्रेम-पीयूष", "प्रेम-पंचमी", "प्रेम-गंगा", प्रेमसरोवर", "पंच-प्रसून", "सप्त-सुमन" "कफन", "प्रेरणा", "अग्नि-समाधि", "मानसरोवर भाग १ से ५ तक", "कुत्ते की कहानी", "जंगल की कहानी" आदि-आदि।

प्रेमचन्द की कहानियों का यह संक्षिप्त परिचय उनकी विचारधाराओं को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

निष्कर्ष रूप में मुंशी प्रेमचन्द अपने युग के महान् कलाकार थे, जिन्होंने युगीन समस्याओं को आत्मसात् किया और उनका उचित समाधान दिया। इस प्रकार समाज के उन्नयन में उन्होंने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दृष्टि से एक युग-द्रष्टा साहित्यकार के रूप में वे सदैव स्मरण किए जाएँगे।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का वस्तुतात्विक अध्ययन

डॉ० श्याम सुन्दर घोष

साहित्य के अध्ययन की जो विविध प्रणालियाँ प्रचलित हैं, उनमें वस्तुतात्विक अध्ययन की प्रणाली शायद सबसे अधिक उपयोगी और प्राचीन है। यह जरूर है कि रुचि परिवर्त्तन के कारण इसके भी अच्छे और बुरे दिन आते रहे हैं। कभी ऐसा होता है कि वस्तुतात्विक अध्ययन की तुलना में शैल्पिक अध्ययन प्रमुख हो जाता है और कभी शैल्पिक अध्ययन की अपेक्षा वस्तुतात्विक अध्ययन ज्यादा उपयोगी प्रतीत होने लगता है।

हिन्दी में समालोचना का जो सूत्रपात् हुआ, उसे वस्तुतात्विक अध्ययन की सरल प्रणाली ही कह सकते हैं। शुरू में जो आलोचनाएँ या समीक्षाएँ लिखी गईं उनमें कृति के वस्तुतत्वों का विश्लेषण ही प्रमुख था। एक लम्बे अर्से तक आलोचना की यही आदर्श प्रणाली मानी जाती रही।

लेकिन धीरे-धीरे इस आशय के विचार प्रमुख होने शुरू हो गये कि केवल वस्तुतत्व के विश्लेषण से कृति की सम्पूर्ण गरिमा और कलात्मकता का बोध नहीं हो सकता। यदि कृति एक रचना है तो उसके रचनातंत्र की भी बारीक परख करनी होगी। इस दृष्टिकोण के कारण ही शैल्पिक अध्ययन प्रणाली का विकास हुआ।

शैल्पिक अध्ययन प्रणाली की अपनी विशेषताएँ और उपयोगिताएँ हैं। लेकिन यह कभी-कभी 'बाल की खाल' निकालने का पर्याय भी हो जाता है। यदि यह सत्य है कि रचना केवल शिल्प नहीं है, उसमें वस्तु का भी अहम् हिस्सा है, तो मानना होगा कि शिल्प कोई अलग-थलग चीज न होकर 'वस्तु के शिल्प' के रूप में ही गृहीत हो सकता है। इस प्रकार वस्तुतात्विक अध्ययन में शैल्पिक अध्ययन का निषेध नहीं है, जबकि यह जरूर है कि शैल्पिक अध्ययन में वस्तुतत्व के पर्याप्त विश्लेषण की

गुंजाइश नहीं है। वहाँ उसकी व्यापक विवृत्ति अप्रासंगिक समझी जा सकती है।

इसके साथ ही यह बात भी है कि सभी रचनाकारों का शैल्पिक अध्ययन समान रूप से नहीं किया जा सकता। जो शिल्प को सचेत भाव से ध्यान में रखकर लिखते ही नहीं हैं, उन्हें शिल्प की कसौटी पर कसना कुछ हद तक उनके साथ अन्याय करना है। लेकिन वस्तुतात्विक अध्ययन प्रणाली के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। जो शिल्पी-लेखक हैं, उनमें भी वस्तुतत्व तो होता ही है, जबकि यह तो कहा ही जा सकता है कि बहुत से ऐसे लेखक भी होते हैं जिनका कोई शिल्प नहीं होता। यह हो सकता है कि शिल्प संबंधी देन न होने के कारण आप उन्हें साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान न दें, लेकिन उनका साहित्य वस्तुतात्विक अध्ययन के योग्य तो हो ही सकता है।

इधर हिन्दी का जो नया साहित्य लिखा जा रहा है वह शिल्प-सचेतन उतना नहीं है जितना कि वस्तु-सचेतन है। बिल्कुल आज के साहित्यादर्श कुछ ऐसे ही हैं। अब तो कुछ हद तक लोग शिल्प की अवज्ञा करने को भी तैयार हैं। इस प्रसंग में मुझे कवि श्री शमशेर बहादुर सिंह की एक उक्ति याद आ रही है। उन्होंने कहा—"मुझे तो उद्देश्यपरक साहित्य प्रायः पसन्द है। मैं जान बूझकर उसकी कलात्मक खामियों को नजरन्दाज कर जाता हूँ, अगर उसमें मानवतावादी आस्था और विश्वास के स्वर सचमुच दृढ़ हैं और शैली में व्यक्तित्व का बीज है।"[1]

लेकिन शिल्प का अस्वीकार या विरोध साहित्य के प्रसंग में स्थायी नहीं होता। शिल्प का अस्वीकार या विरोध सकारण और क्षणिक होता है। यह तो मात्र एक स्थिति है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि शिल्प के अतिरेक सह्य नहीं हो रहे हैं। जैसे शिल्पहीन रचना साहित्य का दर्जा नहीं पा सकती वैसे ही केवल शिल्पी-रचना भी, यदि वह जीवन के तत्व और आवेग से रहित है, साहित्य नहीं कही जा सकती। उसमें जीवन और समाज का वस्तुतत्व तो होना ही चाहिए। केवल

---

१. आलोचना, अंक ३९, पृ० १३७

शिल्प प्लास्टिक की त्वचा-सा है। उसमें सुन्दरता और चिकनाहट तो हो सकती है, लेकिन वह जीवन की उष्णता से वंचित होता है।

वस्तुतात्विक अध्ययन प्रकारान्तर से साहित्य में जीवन और उसके तत्वों की खोज है। जिस युग में साहित्य और जीवन की संलग्नता पर जितना ही अधिक जोर दिया जायेगा उस युग में वस्तुतात्विक अध्ययन उतना ही प्रमुख हो जायेगा। इसके विपरीत यदि साहित्य और जीवन की असंलग्नता का सिद्धान्त प्रतिपादित होगा, तो शैल्पिक अध्ययन की प्रवृत्ति जोर पकड़ेगी। हम मूर्ति में सुन्दरता और तराश देखते हैं लेकिन जीवित की धड़कन और सांसें देखी जाती हैं।

वस्तुतात्विक अध्ययन की दृष्टि से प्रेमचन्द को, और उसमें भी विशेषकर उनके उपन्यासों को, स्वीकार करने के पीछे कुछ कारण हैं। यहाँ संक्षेप में उनका विवेचन किया जाता है।

प्रेमचन्द के आते न आते उपन्यास को नये दायित्वों का बोध होता है। वे तत्परता से सामयिक जातीय जीवन की समस्याओं से जूझते हैं। वे यथाशक्ति जीवन और समाज को, उसकी समग्रता में, चित्रित करने का प्रयास करते हैं और विविध सामाजिक समस्याओं का कोई न कोई समाधान ढूँढ़ना चाहते हैं, या उनका उल्लेख करते हैं, जो उस युग के विशिष्ट मनोभावों, विचार और चिन्तन-प्रणालियों को अभिव्यक्त करते हैं।

प्रेमचन्द के कृतित्व में भारतीय जीवन और समाज परिपूर्णता के के साथ चित्रित हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तब यह ठीक ही लिखा था कि "वर्त्तमान सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और अन्तर्वृ-त्तियों की बड़ी पैनी परख प्रेमचन्द को मिली है"।[1] उनके उपन्यासों में समाज के जितने वर्ग समूह और जातियाँ हैं, सभी का उचित और आनुपातिक ढंग से चित्रण हुआ है।[2] सामाजिक जीवन को, उसकी विविध समस्याओं को, जितनी अधिक प्रमुखता प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिली

---

१. चिन्तामणि (भाग दो) पृ० २३६

२. विशेष विवेचन के लिए लेखक की पुस्तक 'उपन्यासकार प्रेमचन्द-' का 'विशाल भारतीय समाज के चितेरे' अध्याय देखें।

है उतनी और किसी के उपन्यासों में नहीं। और सबसे बढ़कर यह बात है कि वे अपने समय के असंदिग्ध प्रतिनिधि हैं। आलोचकों ने माना है, "प्रेमचन्द का अध्ययन एक तरह से कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा तथा सुदर्शन और विश्वम्भरनाथ जिज्जा का अध्ययन है। इतना ही नहीं उनके सम्बन्ध में कही हुई बातें अनेक अंश में भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी और अश्क आदि के सम्बन्ध में भी लागू हो सकती हैं, चाहे समय के प्रवाह के कारण समाज के सामने नयी नयी परिस्थितियों तथा उनके साहित्यिक प्रतिपादन के कारण थोड़े रंग में परिवर्तन भले ही आ गया हो।"[१] केवल इतना हो नहीं "आज भी अनेकों क्रियात्मक प्रतिभाएँ हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र को हरा-भरा करने में संलग्न है। यज्ञदत्त शर्मा, गुरुदत्त, मन्मथनाथ गुप्त, भैरव प्रसाद गुप्त, अनूपलाल मण्डल, मोहन लाल महतो वियोगी, भगवती प्रसाद वाजपेयी। पर आज भी उनमें प्रेमचन्द की आत्मा का कंठ-स्वर ही बोल रहा है।"[२] प्रेमचन्द का यह प्रभाव आज के आंचलिक उपन्यासकारों पर भी देखा जा रहा है। इस प्रकार प्रेमचन्द का महत्व, गुण और प्रभाव की दृष्टि से असंदिग्ध और निर्विवाद हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों पर तुलनात्मक रीति से विचार करते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है "यदि कहानीकार प्रेमचन्द और उपन्यासकार प्रेमचन्द में से एक को ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में जगह देने की बात हो तो शायद उपन्यासकार प्रेमचन्द को ही उस जगह के लिये चुना जायगा।' कारणों पर प्रकाश डालते हुए वे आगे लिखते हैं—"प्रेमचन्द के उपन्यास कुछ एक पात्रों की कहानियाँ नहीं हैं। उनमें उन्होंने जीवन-प्रवाह की झांकी दिखलाई है। जागीरदार, जमींदार, कारिन्दे, हाकिम, पुलिस के अफसर, प्रोफेसर, पढ़ो लिखी और अपढ़ देवियाँ, धनी, मध्यम और गरीब किसान, खेत मजदूर, अछूत, वेश्याएँ, इन सभी का सामाजिक जीवन, उनके मनोजगत्

---

३. डा० देवराज उपाध्याय, आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, आमुख।

४. वही

का इतिहास हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है"।[१] इस प्रकार उनके उपन्यास उनकी कहानियों की तुलना में वस्तुताविक अध्ययन के लिये अधिक उपयुक्त हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के वस्तुतात्विक अध्ययन के फलस्वरूप लेखक जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है उसे थोड़े में यहाँ बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिस वर्ग की सबसे अधिक प्रधानता है वह मध्यवर्ग है। यह उनके युग को देखते हुए स्वाभाविक है। मध्यवर्ग के कितने ही रूप प्रेमचन्द के उपन्यासों में व्यक्त हुए हैं। सामान्य नौकरी पेशा मध्यवर्ग से लेकर पुराना भूमि से सम्बन्धित मध्यवर्ग और नया औद्योगिक मध्यवर्ग सभी उचित परिप्रेक्ष्य में चित्रित हुए हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जमींदार आदि का, चित्रण देखकर कुछ लोग ऐसा मानने लगे हैं कि प्रेमचन्द ने उच्चवर्ग को भी चित्रित किया है। उदाहरण के लिये वे ज्ञानशंकर जैसे चरित्रों का हवाला देते हैं। ऐसा उच्च मध्यवर्ग के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रम के कारण ही होता है। वास्तव में उच्च मध्यवर्ग और उच्चवर्ग में इतना कम अन्तर है कि उच्च मध्यवर्ग को उच्चवर्ग मान लेना सर्वथा संभव है। लेकिन प्रेमचन्द के उपन्यासों में उच्चवर्ग कम है। उनके कुछ गिने-चुने उपन्यासों में जैसे 'रंगभूमि' 'गोदान' और 'प्रेमाश्रम' में कुँवर भरत सिंह, राजा साहब अमरपाल सिंह, कमलानन्द आदि कुछ ही चरित्र ऐसे हैं जो उच्चवर्गीय कहे जा सकते हैं। बाकी सबके सब मध्यवर्गीय चरित्र हैं चाहे वे ज्ञानशंकर हो या प्रेमशंकर। इसलिए प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिन्हें उच्चवर्गीय चरित्र समझा जाता है वास्तव में वे उच्च मध्य वर्गीय चरित्र हैं, छोटे जमींदार हैं, लघु उद्योगपति और पूँजीपति हैं। इन्हें मार्क्सवादी शब्दावली में पेटी बुर्जुआजी कहा जाता है। ये उच्चवर्ग तक पहुँचने की कोशिश में हैं, पर पहुंचे नहीं हैं, जैसे 'रंगभूमि' के जानसेवक या 'गोदान' के खन्ना।

---

१. प्रेमचन्द और उनका युग, (नवीन संस्करण) पृ० ११५

उच्च वर्ग में बड़े जमींदार और राजा महाराजा ही गिने जा सकते हैं। यह वर्ग भी प्रेमचन्द के उपन्यासों में है, पर उसका कोई स्पष्ट जीवंत सामाजिक व्यक्तित्व नहीं है। प्रेमचन्द ने इनका चित्रण कुछ इस प्रकार किया है कि ये बहुत अलग-अलग और ऐतिहासिक 'अवशिष्ट' के रूप में दिखाई देते हैं। इस बात को 'गोदान' के राय साहब अपने कथनों से स्पष्ट करते हैं। इस वर्ग के लोग सोचने लगे हैं कि इस वर्ग के रूढ़ स्वरूप और स्वभाव को लेकर बहुत दिनों तक नहीं जिया जा सकता है। इसीलिए ज्ञानशंकर जैसे लोगों ने सामन्ती संस्कारों की तुलना में पूँजीवादी संस्कारों को ओढ़ लेना आवश्यक और उपयोगी समझा है। इसलिये प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित उच्चवर्ग उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसे मेहता जैसे फिलासफर और ओंकारनाथ जैसे पत्रकार के सामने मुंह की खानी पड़ती है। ज्ञानशंकर जैसे धूर्त्त और चालाक जमींदार और पेटी बुर्जुआजी भी वकीलों, बैरिस्टरों, डाक्टरों और हाकिमों का सहारा लेते हैं, उनके कृपाकांक्षी बने फिरते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रेमचन्द के समय तक उच्चवर्ग के व्यक्तित्व का ओज समाप्त हो चुका था।

मध्यवर्ग का जैसा और जितना महत्व प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्पष्ट हुआ है, वैसा बाद के उपन्यासकारों के उपन्यासों में नहीं पाया जाता। मध्यवर्ग के पात्रों को बाद के लेखकों ने भी लिया है, लेकिन उनके उपन्यासों में अमृत राय, रमानाथ, सुमन, जालपा, प्रेमशंकर, चक्रधर, मेहता, जानसेवक जैसे पात्र नहीं मिलेंगे। वर्ग-जीवन को ये पात्र जितनी पूर्णता, गतिशीलता और स्पष्टता से व्यक्त करते हैं उतनी पूर्णता, गतिशीलता और स्पष्टता से 'परख', 'सुनीता' 'पार्टीकामरेड', 'शेखर : एक जीवनी' और नदी के द्वीप' आदि के मध्यवर्गीय पात्र नहीं कर पाते। आगे के इन पात्रों के संस्कार बदल गये हैं, उनका सामाजिक रूप व्यक्ति रूप के आवरण में छिपकर धुँधला हो गया है और इस रूप में उनका वैसा महत्व नहीं है जैसा कि प्रेमचन्द के मध्यवर्गीय पात्रों का है। यदि यह सच है कि गाँधी युग में भारतीय मध्यवर्ग ने सुधार-मूलक और राजनीतिक कार्यों के लिए विशिष्ट भूमिका निबाही थी तो प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही ऐसी भूमिका में अवतरित मध्यवर्ग का चित्रण मिलेगा।

सामाजिक दृष्टि से निम्नवर्ग का विशेष महत्व है। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यासों में निम्नवर्ग का जागरण दिखाया है, लेकिन उनका नेतृत्व मध्यवर्ग ही करता है। प्रेमचन्द के बाकी उपन्यासों में जैसे 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'गबन' और 'मंगलसूत्र' आदि में केवल मध्यवर्ग ही कार्यरत दिखाया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ निम्नवर्ग है वहाँ मध्यवर्ग अवश्य है, पर जहाँ मध्यवर्ग है वहाँ निम्नवर्ग हो ही, प्रेमचन्द ने यह आवश्यक नहीं माना है। इससे स्पष्ट है कि अपनी समस्त संभावनाओं के बावजूद निम्नवर्ग प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्ग की तुलना में कम विकसित, कम जाग्रत और कम सक्रिय है। इस कथन का कोई दूसरा अर्थ न लिया जाय। यह तुलनात्मक दृष्टि से ही सही है। चूँकि मध्यवर्ग अधिक विस्तार से चित्रित हुआ है, वह अधिक कार्यरत है, इसलिए उसकी समस्त विशेषताएँ, चाहे वह गुण हो या दोष, विस्तार से चित्रित हुए हैं। इनकी तुलना में निम्नवर्ग का चित्रण कम है इसलिये उसकी त्रुटियाँ भी कम प्रत्यक्ष हुई हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित भारतीय मध्यवर्ग तत्कालीन मध्यवर्ग से कितना अभिन्न है यह देखने के लिए हम संक्षेप में प्रेमचन्द युगीन मध्यवर्ग की विशेषताओं पर भी दृष्टिपात् कर ले सकते हैं।

प्रेमचन्द युगीन भारतीय मध्यवर्ग की विशेषताओं पर विचार करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है—"हमारी राजनीति पर मध्यवर्ग—कांग्रेस में, कौंसिलों में, अखबारों में और दूसरे सब तरह के कामों में–हावी है। किसान बोलना—अपने को व्यक्त या जाहिर करना–नहीं जानते। अभी हाल में चन्द सालों से ही वे गांवों की कांग्रेस कमिटियों और किसान-सभाओं और इस तरह की दूसरी सभाओं में हिस्सा लेने लगे हैं और उनकी राजनीतिक हस्ती शुरू ही हुई है"[१] "शहरों के खास तौर पर बड़े कारखानों के मजदूर ज्यादा जाग्रत हैं और उन्होंने मजदूर संघों की शक्ल में अपना संगठन भी कर लिया है। पर कारखानों के ये मजदूर, और उससे भी ज्यादा किसान, मध्यम श्रेणी से आये हुए

---

१. विश्व इतिहास की झलक (दूसरा खण्ड) पृष्ठ सं० १०३२

व्यक्तियों की तरफ ही अपने नेतृत्व और पथदर्शन के लिये देखते हैं।"[१] इस प्रकार प्रेमचन्द युगीन भारतीय मध्यवर्ग का ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट है। बावजूद अपने वर्ग की सारी असंगतियों और कमजोरियों के--जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में विस्तार से चित्रित हैं–मध्यवर्ग तत्कालीन समाज का महत्वपूर्ण वर्ग है, जीवंत शक्ति और इकाई है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित मध्यवर्ग ऐसा ही है।

मध्यवर्ग का यह ऐतिहासिक रूप सभी देशों में देखा जा सकता है। सुप्रसिद्ध साम्यवादी लेखक और विचारक ई० एम० नम्बूद्रोपाद ने लिखा है "प्रत्येक देश में, उसके राष्ट्रीय जनतांत्रिक आन्दोलन के इतिहास की विशेष परिस्थिति में, बुर्जुआ वर्ग ने एक ऐसी शक्ति के रूप में कार्य किया है, जिसने समूह को सामंतवादी उपनिवेशवादी या दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं के विरुद्ध प्रबुद्ध कर उसका संगठन किया है। बुर्जुआ वर्ग की इस भूमिका की मार्क्सवादियों और लेनिनवादियों ने प्रशंसा की है, यद्यपि वे यह बताना नहीं भूले हैं कि इस प्रकार समूह को प्रबुद्ध और संगठित करने में मध्यवर्गीय नेतृत्व की कुछ निश्चित और गम्भीर सीमाएँ रही हैं।"[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक देश के इतिहास में वहाँ के मध्यवर्ग की एक ऐतिहासिक या तत्कालीन भूमिका होती है, जिसका बड़ा महत्व होता है। लेकिन यह महत्व सार्वकालिक नहीं होता, क्योंकि मध्यवर्ग की अपनी सीमाएँ होती हैं।

निम्नवर्ग प्रेमचन्द के समय तक पूरी तरह जगा नहीं था। जागरण के लक्षण यत्र-तत्र मिलते जरूर थे, लेकिन वह व्यक्ति-चरित्र की विशेषता थी या क्षणिक आवेश का परिणाम था। यह आवेशमूलक जागरण भी स्थायी नहीं था और न बहुत तीखा था और न समस्त समयोचित साधन और उपाय–वर्ग संगठन, वर्गीय नेतृत्व आदि साथ थे। इसलिये कोई भी चक्रधर, अमरकान्त, सुखदा उनके नेतृत्व की बागडोर अपने हाथों सम्हाल लेते थे और उनके आन्दोलनों को मनमानी दिशा में मोड़ते या वांछित परिणति देते थे। बहुधा ऐसा भी होता था कि उनके

---

१. वही

२. द महात्मा एण्ड द इज्म, इण्ट्रोडक्शन

जागृत क्षोभ का कोई ख्याल न करते हुए ये आन्दोलनों या संघर्षों को रोक देते थे या उन्हें समझा बुझाकर पीछे हटा देते थे।

इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के समय का निम्नवर्ग अपनी समस्त शक्ति के बावजूद नेतृत्व के लिये मध्यवर्ग पर निर्भर है चाहे वे प्रेमशंकर हों, या चक्रधर या अमरकांत। जहाँ ऐसा नहीं होता वर्ग संघर्ष का सही रूप ही नहीं उभर पाता। उदाहरण के लिए मनोहर, बलराज और गोबर जैसों का रोष और क्षोभ संघर्ष की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं उभार पाता, न उनके किसी संगठन का कोई विशिष्ट रूप होता है और न कोई सुनिश्चित योजना सामने आती है—कम से कम वैसी योजना जो प्रेमशंकर, डा० शान्ति कुमार और अमरकान्त रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित निम्नवर्ग प्रेमचन्द के समय का ही निम्नवर्ग है। उसका चित्रण काल्पनिक नहीं है।

प्रेमचन्द युग की प्रमुख विशेषताएँ कांग्रेस की गतिविधियाँ, राष्ट्रीयता मूलक भावों और कार्यों का प्रचार-प्रसार और साम्प्रदायिकता का उन्मेष आदि हैं। कांग्रेस के बारे में विचार करते हुऐ पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है, उनमें से ज्यादातर मध्यम श्रेणी के लोग हैं चाहे वे लिबरल हों या कांग्रेसी।[१] मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यवर्गीय लोगों के हाथ में है और उस पर शहर वालों का कब्जा है।.'[२] राष्ट्रीय आन्दोलन पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिये शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यवर्गों में अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई और उसकी जड़ में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी[३]।"

हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय आन्दोलन का श्री गणेश भी मध्यवर्ग द्वारा ही हुआ माना जाता है। कहा गया है—"बोलने चालने वाला वर्ग असल में नया मध्यवर्ग था जो अंग्रेजों के संबंध से पैदा हुआ था लेकिन जिसने

---

१. मेरी कहानी, पृ० २६७
२. वही पृ० २७३
३. वही विश्व इतिहास की झलक (दूसरा खंड) पृ० ८८८

उनपर आक्षेप करना शुरु कर दिया था। यह वर्ग तरक्की करने लगा और इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढ़ा।"[१] राजनीतिक प्रश्नों में भी साम्प्रदायिकता के प्रवेश के मूल में मध्यवर्ग की समस्याएँ ही थी।[२] मध्यवर्ग के बेकार मुसलमानों ने महसूस किया कि हिन्दुओं ने सब नौकरियों पर कब्जा जमा रखा है और रास्ते में काँटे हैं। इसलिए उन्होंने अपने बारे में जुदा वर्ताव करने और हर चीज में अगल हिस्सा दिये जाने की माँग की। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू मुस्लिम सवाल में नौकरियों का झगड़ा और मध्यम श्रेणी का सवाल था।"

तत्कालीन मध्यवर्ग की ये सभी विशेषताएँ प्रेमचन्द द्वारा चित्रित मध्यवर्ग में प्रत्यक्ष हुई हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के वस्तुतात्विक अध्ययन पर जोर देने के कारण ऐसा नहीं समझा जाना चाहिये कि लेखक यह मानता है कि प्रेमचन्द का शैल्पिक अध्ययन हो हीं नहीं सकता या कि होना ही चाहिये। इस संबंध में बहुत पहले ही लिखा जा चुका है। इस दृष्टि से यह कहना सही होगा कि उनके वस्तु-पक्ष पर जितना विचार विमर्श हुआ है उतना शिल्प पक्ष पर नहीं, जबकि वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द का एक विशिष्ट शिल्प है जो अपनी सरलता और सहजता के कारण ही अनदेखा रह गया है। सम्प्रति इस विषय पर मैंने कम लिखा है। आगे फिर कभी विस्तार से लिखने का इरादा है।"[३] जिसकी यह प्रतिज्ञा हो वह प्रेमचन्द के शैल्पिक अध्ययन को अप्रासंगिक ठहरा भी कैसे सकता है? सम्भव है यह कठिन काम आगे कभी पूरा हो।

•

---

१. वही पृ० १०३२
२. वही पृ० १०१८
३. लेखक की पुस्तक 'उपन्यासकार प्रेमचन्द' के दो शब्द से।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में दाम्पत्य-चित्रण

डॉ० उर्मिला भटनागर

बीसवीं शताब्दी का उदय और उसमें प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास साहित्य में सामाजिक, पारिवारिक और दाम्पत्यपरक समस्याओं को लेकर अवतरित हुआ। भारतीय दाम्पत्यजीवन में दो धारायें समानान्तर रूप से प्रवाहित हुई—एक दाम्पत्य जीवन को आक्रोश, संत्रास, घुटन, कडुवा एवं तनावपूर्ण स्थिति में भी इसे अखण्ड बताये रखने में सहायक हुई, दूसरी दाम्पत्य जीवन में आये दुरावों, खीज और कटुता के कारण इसे खण्डित एवं विछिन्न बना गई।

प्रेमचन्द युग में आकर हिन्दी उपन्यास में परिवार की संस्था में एक परिवर्त्तन आया, जिसके परिणाम स्वरूप संयुक्त परिवार टूटने लगे। इस सम्बन्ध में एक आलोचक का[१] मत है—"इस युग की सामाजिक स्थिति भी पूर्णतया विश्रृंखलित थी। सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा अब एक स्वप्नमात्र ही बनती जा रही थी, और संयुक्त परिवार की जड़ें खोखली हो रही थीं।"

प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों में दम्पती संयुक्त परिवार के सुदृढ़ बंधन से निकल कर विश्रृंखल एव वैयक्तिक परिवार की नई भूमियाँ और परिस्थितियाँ तैयार करते हैं, जिसके कारण वे अपने निजी स्वातंत्र्य की रक्षा कर सकें। दाम्पत्य की दृष्टि से 'सेवासदन' 'निर्मला' 'प्रेमाश्रम' 'गबन' और 'गोदान' इनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं। दाम्पत्य जीवन की उक्त दो धाराओं को दृष्टि में रखते हुए प्रेमचन्द के इन उपन्यासों को भी दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है :—

[१] खण्डित और विच्छिन्न दाम्पत्य जीवन वाले उपन्यास

[२] अखण्ड दाम्पत्य जीवन वाले उपन्यास

---

१. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास उद्‌भव और विकास पृ० १३४

खण्डित और विच्छिन्न दाम्पत्य जीवन वाले उपन्यास

'सेवासदन' का दाम्पत्य की दृष्टि से विवेचन करने पर यह तत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि यह एक सामाजिक उपन्यास है, इसलिये दाम्पत्यचित्रण एक समस्या के रूप में चित्रित हुआ है, वर्णित प्रतिपाद्य के रूप में नहीं। सामाजिक उपन्यास होने के कारण इस समस्या का विराट् रूप नाना प्रश्नों और समाधानों के परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया गया है।

इस उपन्यास में तीन दम्पतियों की कथा संजोई गई है। सुमन-गजाधर, शान्ता-सदन, तथा सुभद्रा-पद्मसिंह शर्मा। सुमन-गजाधर का दाम्पत्य जीवन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि सुमन' उपन्यास रूपी चक्र की वह धुरी है, जिस पर सम्पूर्ण घटना चक्र घूम रहा है। सुमन-गजाधर का दाम्पत्य जीवन उपन्यास में दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में सुमन-गजाधर का सुगठित दाम्पत्य जीवन उल्लेखनीय है। पिता कृष्णचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् सुमन का विवाह दहेज के अभाव में गजाधर से हो जाता है, गजाधर ३० वर्ष का दुहेजु है तथा सुमन १६ वर्ष की अपरिपक्व बुद्धि की मुग्धा बालिका है। प्रथम मास में दोनों का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है, परन्तु कुछ समय पश्चात् ही दोनों के दाम्यत्य जीवन के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। गजाधर संदेहशील मनोवृत्ति का प्राणी है। एक दिन होली के उत्सव में भोली वेश्या के नृत्य में अधिक देर होने पर गजाधर सुमन को निष्कासित कर देता है। इसी कारण उपन्यास खण्डित दाम्पत्य की धारा में स्थान प्राप्त करता है। खण्डित दाम्पत्य जीवन की निरीहता, मानसिक असंतोष का लेखक ने खुलकर चित्रण किया है। भारतीय नारी एक विवाहिता के रूप में पति से विलग होकर भी विलग नहीं होती, मानसिक तारतम्यता टूटकर भी नहीं टूटती, यह यदि देखना परखना हो तो प्रेमचन्द का 'सेवासदन' अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

प्रत्यक्ष रूप से देखने परखने पर हमें सुमन-गजाधर का दाम्पत्य जीवन विघटित होता दृष्टिगत होता है, क्योंकि उनके भौतिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और वह दोनों अलग-अलग जीवन यापन करते हैं। इसीलिए मैंने इस उपन्यास को खण्डित दाम्पत्य जीवन के उप-

न्यासों में स्थान दिया है। परन्तु इन दोनों के दाम्पत्य जीवन की आध्यात्मिक भावना, आत्मा का स्नेह, पूर्वसंस्कार व दोनों का भाव ऐक्य दर्शनीय है।

"सेवासदन" में सुमन-गजाधर की मुख्य कथा के साथ वकील पदमसिंह-सुभद्रा के शान्त, स्निग्ध तथा संतोषपूर्ण दाम्पत्य जीवन की कथा भी सम्मिलित है। यह निम्न मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन की मधुर गाथा है।

इसी प्रकार इस उपन्यास में सुमन की बहन शान्ता की कथा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि यह उपन्यास का द्वितीय प्रमुख आकर्षण है। सुमन में संचित सदन की प्रेमानुभूति अत्यन्त आकर्षक है, दूसरी ओर पति के उसी की बहन से अनैतिक संबंध की गाथा इस दाम्पत्य की सबसे बड़ी जटिल समस्या है। इस उपन्यास में लेखक ने दाम्पत्य जीवन की विभिन्न ग्रंथियों को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि में देखा और परखा है। सदन के पिता मदनसिंह का बारात वापस ले जाना, शान्ता का पदमसिंह को पत्र लिखकर अपने दाम्पत्य जीवन की समस्या को सुलझाना, ऐसे स्थल हैं जहाँ लेखक ने दाम्पत्य की ग्रन्थियों को सुलझाया है, पाठक के मन में पात्र के प्रति सच्ची सहानुभूति जागृत की है।

"निर्मला"

यह प्रेमचन्द रचित अनूठा उपन्यास है, जिसमें अनमेल विवाह के प्रश्न को केन्द्र में रखकर भारतीय दाम्पत्य जीवन की करुण गाथा सँजोई गई है, इसमें मुख्य रूप से तीन दम्पतियों की जीवन-कहानी है—कल्याणी-उदयभानु सिंह, निर्मला-तोताराम तथा सुधा-भुवनमोहन। इन तीनों में मुख्य कथा निर्मला का यौवन मुंशी तोताराम की वृद्धावस्था की बलिवेदी पर चढकर खण्डित दाम्पत्य जीवन का करुण उदाहरण बन कर रह जाता है।

मुख्य दम्पती के दाम्पत्य जीवन में कटुता, नीरसता, विघटन अन्ततः बिखराव व टूटन तथा हरे-भरे परिवार का नाश "निर्मला" उपन्यास की मुख्य कथा के आधार यही हैं। उपन्यासकार ने अनमेल विवाह के कुपरिणाम सूक्ष्म दृष्टि से इस उपन्यास में प्रतिपादित किये हैं। इस परि-

वार का अन्त आखिर क्यों हुआ ? इस क्यों का उत्तर "निर्मला" के सम्पूर्ण कथानक में गुँथा हुआ है।

"निर्मला" उपन्यास में तोताराम-निर्मला का अनमेल विवाह होता है। तोताराम तीन पुत्रों का पिता है। सन्देहशील प्राणी है। उसकी संदेहमयी प्रवृत्ति दाम्पत्य जीवन को विघटन के कगार पर ला खड़ा करती है। पुरुष के सच्चे स्नेह से रहित नारी का जीवन कितना खोखला होता है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में "निर्मला" के रूप में नारी की इसी करुणा को बहुत अधिक उभारा है। सौतेली माँ के कारण मानसिक ग्रंथियों का शिकार बनकर तोताराम के तीनों लड़कों का नाश हो जाता है। तोताराम अपने चरित्र का विश्लेषण नहीं कर पाते, उन्हें निर्मला से घृणा हो जाता है। वह निरपराध निर्मला को सर्वनाश का कारण समझने लगते हैं। उनके दाम्पत्य जीवन में विघटन की प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र गति से प्रवाहित होती है। निर्मला ने जब सियाराम के विषय में पूछताछ की तो मुंशी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था "तुमने मेरा बना बनाया घर उजाड़ दिया, तुमने मेरे लहलहाते बाग को उजाड़ डाला, केवल ठूँठ रह गया है। उसका निशान मिटाकर तभी तुम्हें संतोष होगा। मैंने अपना सर्वनाश करने के लिये तुम्हें अपने घर नहीं लाया था।"[१]

इस उदाहरण से दोनों के क्षुब्ध दाम्पत्य जीवन के विघटन का परिचय मिल जाता है। अंत में मुंशी तोताराम निर्मला से अंतिम भेंट करके भी नहीं जाते, उनके वियोग में निर्मला का जीवन बिखर जाता है। अन्त में निर्मला के दाम्पत्य जीवन की करुण छाप इन शब्दों में प्रेमचन्द जी पाठक के मन पर अमिट रूप में डाल देते हैं—

"उसी समय निर्मला का कलेजा मसोसने लगा, उसे ऐसा जान पड़ा कि अब उनसे भेंट न होगी। वह अधीर द्वार पर आई कि मुंशी जी को रोक ले, पर ताँगा चल दिया था।"[२]

निर्मला और तोताराम का जीवन उनके जाने के पश्चात् छिन्न-भिन्न खंडित हो जाता है।

---

१. निर्मला :—प्रेमचन्द पृ० २६३
२. निर्मला प्रेमचन्द पृ० २६८

निर्मला और तोताराम के अतिरिक्त डा० भुवनमोहन सिंह और सुधा का दाम्पत्य जीवन भी उपन्यास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह दाम्पत्य सुखी दाम्पत्य जीवन का प्रतीक है। दाम्पत्य के इस उदाहरण से हम यह सिद्ध करने में समर्थ हो सकते हैं कि सुखी दाम्पत्य जीवन की आधारशिला, धन न होकर परस्पर सद्भावना, सुहृदयता, सच्चा स्नेह, मानसिक समझौता है। डा० भुवन मोहन सिंह और सुधा के दाम्पत्य जीवन में इन्हीं आदर्शों का समावेश करके एक स्थान पर मुंशी प्रेमचन्द लिखते हैं—

"सुधा के पास कोई ऐसी वस्तु थी, जो निर्मला के पास नहीं थी, जिसके सामने उसे अपना वैभव तुच्छ जान पड़ता था।"[१]

उपन्यास के अन्त में यह सुखी दाम्पत्य जीवन भी विघटित होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है, डा० भुवन मोहन सिह एक तुच्छ घटना के घटित होते ही मानसिक आघात होने पर आत्मघात कर लेते हैं। उपन्यास में तृतीय दम्पती है कल्याणी-उदयभानु सिंह। कल्याणी तथा उदयभानु सिंह का दाम्पत्य जीवन उपन्यास में एक नाटकीय चित्र उपस्थित करता है। उपन्यास में इस दाम्पत्य जीवन की एक संक्षिप्त झाँकी पाठक के मन पर अमिट प्रभाव डालती है। गृहकलह के कारण दाम्पत्य जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है, इसी तत्व की ओर मुंशी प्रेमचन्द ने सूक्ष्म दृष्टि से दृष्टिपात किया है।

व्यर्थ विवाद सन्देह द्वारा उदयभानु सिंह का मन मस्तिष्क विकृत हो जाता है। वह कल्याणी को अपने प्रति कठोर समझ बैठते हैं। अन्त में यह सोचकर कि पत्नी का मैके का व्यर्थ अभिमान कुछ दिन को बाहर जाकर तोड़ दूँ। मन के संकल्पों-विकल्पों में ही निश्चय करके वह निकल जाते हैं। मत्तई द्वारा उनकी हत्या होती है, उपन्यास को नया मोड़ मिलता है। कल्याणी का करुण दाम्पत्य और अर्थाभाव में निर्मला का दुहेजु से विवाह होता है। अत्यन्त कष्ट की स्थिति में निर्मला का दाम्पत्य जीवन भी अनमेल विवाह की वेदी पर बलिदान हो जाता है। दाम्पत्य जीवन

---

१. वही पृ० १५९-१६०

को विभिन्न स्थितियों में देखकर, परखकर कुछ स्थायी आदर्श भी प्रेमचन्द ने प्रतिपादित किये हैं। प्रेमचन्द जी दुःखी दाम्पत्य जीवन के विष से समाज को दूर रखने के लिए उपन्यास के अन्त में मरणासन्न निर्मला से रुक्मिणी के प्रति अत्यन्त मार्मिक शब्द कहलवाते हैं—

"बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ। अगर जीती जागती बचे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजियेगा। मैं तो अपने जीवन में इसके लिये कुछ भी नहीं कर सकी, केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ। चाहे कुंवारी रखियेगा चाहे विष देकर मार डालियेगा पर कुपात्र के गले न मढ़ियेगा, इतनी ही मेरी आपसे विनय है।" [१]

निर्मला के ये शब्द उसके जीवन की करुणा के प्रतीक नो हैं ही, साथ ही दाम्पत्य विषयक जीवन-दर्शन के वाहक भी हैं।

प्रेमाश्रम

"प्रेमाश्रम" का प्रेमचन्द के खण्डित दाम्पत्य जीवन वाले उपन्यासो में मुख्य स्थान है। इसी उपन्यास को हिन्दी का प्रथम राजनैतिक उपन्यास माने जाने का गौरव प्राप्त है। विभिन्न आलोचकों ने इस मत का समर्थन किया है। अपने आलोचना ग्रंथ में एक स्थान पर "ब्रजभूषण सिंह (आदर्श)" लिखते हैं, "प्रेमाश्रम हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें तत्कालीन जमींदारी प्रथा के विरुद्ध लखनपुर के कृषकों के संघर्ष की उज्वल गाथा किसान जीवन के विशाल फलक पर अंकित की गई है,, [२]

दाम्पत्य जीवन की दृष्टि से देखने परखने पर उपन्यास में दो दम्पती मुख्य रूप से पाये जाते हैं ज्ञानशंकर-विद्या तथा प्रेमशंकर–श्रद्धा। "प्रेमाश्रम" में विद्यावती ज्ञानशंकर का दाम्पत्य जीवन सम्पूर्ण उपन्यास की मुख्य धुरी है। दोनों दो विरोधी भावनाओं के प्राणी हैं। 'विद्यावती' यदि संतोषी अत्यन्त सौम्य स्वभावशीला नारी है तो ज्ञानशंकर लोभी

---

१. निर्मलाः—प्रेमचन्द पृ. २८४

२. हिन्दी के उपन्यासों का "अनुशीलन" ब्रजभूषण सिंह" (आदर्श) पृष्ठ १३१

तथा कठोर मनोवृत्ति के प्राणी हैं। एक में संकुचित प्रवृत्ति स्वार्थ, लोभ एवं छल की प्रधानता है, तो दूसरे में त्याग, सेवा जैसे दिव्य गुणों का आभास होता है। रात दिन जैसे विरोधी चरित्रों में विरोध मानसिक मनोग्रंथियों का कारण बनता है। विद्या हर स्थिति में ज्ञानशंकर को सत्पथ का वाहक बनाना चाहती है, परन्तु उसके प्रयत्न असफल रहते हैं, दोनों मानसिक धरातल पर दूर होते चले जाते हैं। अन्त में ज्ञानशंकर का परकीया प्रेम उसके दाम्पत्य जीवन में विष बो देता है। जिसका फल खाकर विद्या का अन्त हो जाता है और विद्या-ज्ञानशंकर का दाम्पत्य जीवन छिन्न भिन्न हो जाता है। इसीलिये विद्याज्ञानशंकर के दाम्पत्य जीवन का अवलोकन कर डा० गीता लाल इनको दुखी दम्पतियों में स्थान देती हैं। एक स्थान पर इनके दाम्पत्य जीवन का परिचय देते हुए वे स्वयं प्रेमचन्द के शब्द लिखती हैं—"वह ज्ञानशंकर इतने शिक्षित होकर भी स्त्री का आदर उससे अधिक न करते थे, जितना अपने पैरों के जूतों का। अतएव उनका दाम्पत्य जीवन भी, जो चित्त की शान्ति का प्रधान साधन है, सुखकर न था।"[१]

इन प्रमाणों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि विद्या—ज्ञानशंकर का दाम्पत्य जीवन कुंठित अत्यन्त क्षुब्ध व असफल है। 'प्रेमाश्रम' में श्रद्धा—प्रेमशंकर एक पवित्र दम्पती हैं। उनका दाम्पत्य जीवन मानसिक ऊंचाई के उस धरातल तक ऊंचा उठ चुका था कि सर्वसाधारण दम्पती उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। दोनों के हृदय में अध्यात्म प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। भौतिक व मांसल प्रेम से दोनों ऊंचे उठे हुए दृष्टिगत होते हैं। इन दोनों के दाम्पत्य जीवन को देखने परखने पर ज्ञात होता है कि दाम्पत्य जीवन की सुखद शान्ति के लिये भौतिक सुख व प्रेम ही सब कुछ नहीं है। आध्यात्मिक प्रेम और शान्ति मन की एकाग्रता को उससे और भी अधिक प्रेरित करती हैं।

श्रद्धा—प्रेमशंकर का दाम्पत्य जीवन उपन्यास में बाह्य रूप से देखने परखने पर उखडा उखडा तथा छिन्न भिन्न दृष्टिगत होता है,

---

१. प्रेमाश्रम:—प्रेमचन्द पृ० ॥

परन्तु आन्तरिक रूप से दोनों प्राणी इतने समीप हैं कि ज्ञानशंकर प्रयत्न करते हुए भी उन्हें भिन्न नहीं कर सका। दोनों पति-पत्नी बाह्य रूप से अलग क्यों रहे ? इस क्यों के उत्तर में प्रेमचन्द ने समाज की मान्यताओं को ही सर्वोपरि रखा है। प्रेमशंकर समुद्रयात्रा करके आते हैं। प्रायश्चित न करने के कारण उनका सामाजिक बहिष्कार हो जाता है। इस बहिष्कार का क्रूर दण्ड भोगना पड़ता है। उनकी पत्नी श्रद्धा को, जो दिव्य नारी है। श्रद्धा भीरु भी है, परम्परागत बंधनों को तोड़ने के लिये जिस विचार स्वातंत्र्य की आवश्यकता है, उसमें वह नहीं है। वहा प्राण व प्राणप्रिय स्वामी को छोड़ सकती है, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञ करना लोक निन्दा को सहन करना उसके लिए असम्भव है। वह मानसिक रूप से एक होकर भी पति से बाह्य रूप में अलग रहती है। इन दोनों का गंभीर दिव्य प्रेम सारे उपन्यास पर छाया रहता है, इसी कारण दोनों का दाम्पत्य जीवन स्थिर, अखण्ड देदीप्यमान बन सका है, जिसकी नींव अखण्ड विश्वास और आध्यात्मिक प्रेम पर आधारित है।

"प्रेमाश्रम" में तीसरी दम्पती शीलमणि–ज्वालासिंह हैं। दोनों का दाम्पत्य जीवन सहनशील, स्नेहपूर्ण तथा सहृदयतापूर्ण है। ज्वालाशंकर के सहपाठी रहे हैं। ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या तथा ज्वालाशंकर की पत्नी शीलमणि में घनिष्ठ स्नेह हो जाता है। ज्ञानशंकर इस मेल का फायदा उठाकर शीलमणि से डिप्टी साहब को सिफारिश करवा कर कोर्ट का निर्णय अपने पक्ष में करवा कर लखनपुर वासियों पर मनमाना अत्याचार बढ़ाना चाहता है। एक ओर शीलमणि के आग्रह से उसके सम्मान की रक्षा का प्रश्न है, दूसरी ओर कर्त्तव्य और पाप की पुकार। ज्वालासिंह असमंजस में पड़ जाते हैं। फिर चतुराई से सारी स्थिति पत्नी को बता देते हैं। पत्नी स्वयं निरपराधों की आह लेना नहीं चाहती, और पति के विचारों से सहमत हो जाती है। इन दोनों के दाम्पत्य जीवन के सुखी होने का रहस्य है। दोनों की अभिरुचियाँ विचार धारायें एक हैं। दोनों का प्रेमाधिकार एक दूसरे पर अथाह हैं, दोनों आदर्श दम्पती हैं, जिसकी समाज को आवश्यकता है।

"गबन"

यह प्रेमचन्द जी की एक सुगठित पारिवारिक रचना है। इस उपन्यास की नायिका आभूषणों से अपने शैशव कालसे ही अत्यन्त अनुशक्ति रखती है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने मध्यम वर्ग के दाम्पत्य जीवन और उनकी समस्याओं को चुना है। अन्य सामाजिक समस्याओं के साथ वह आभूषण प्रेम की समस्या को साथ लेकर चले हैं। इस संबंध में एक आलोचक का कथन है······"अन्य उपन्यासों में प्रेमचन्द समुदाय को लेकर चले हैं और वर्ग की समस्याओं पर विचार किया है, "गबन" की समस्या व्यक्तिगत है और परिवार तक ही सीमित रहती है।[1]

हम इस कथन से सहमत हैं। और उनके द्वारा कथित परिवार का सीधा संबंध दाम्पत्य जीवन से जोड़ते हैं। इसका कारण यह है कि "गबन" में संयुक्त परिवार उसके सदस्यों का चित्रण न होकर जालपा तथा रमानाथ के वैयक्तिक विचारों और दाम्पत्यगत आकाक्षांओं एवं भावनाओं तक ही वर्णन सीमित है। इसे पढ़कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेमचन्द "गबन" द्वारा मध्यवित्त वर्ग के दाम्पत्य जीवन पर खुलकर प्रकाश डालना चाहते थे। "गबन" पूर्णरूपेण दाम्पत्यवादी उपन्यास है, जिसमें भारतीय दाम्पत्य की करुणा का चित्रण ही कथाकार को अमीष्ट है।

जालपा-रमानाथ के समानान्तर ही देवीदीन और उसकी वृद्धा पत्नी भी मुख्य दम्पती हैं। जिनके दाम्पत्य जीवन में स्थायित्व है। जालपा-रमानाथ दाम्पत्य में नवयौवन गत उबाल है। यह नवीन दम्पती अपने आरम्भिक दाम्पत्य जीवनकाल में दो पर्वत श्रेणियों में तीव्र वेग से प्रवाहित होने वाले जलस्रोत के सदृश हैं। इस वेग में एक बार तो मध्यवर्गीय व आर्थिक समस्यायें तिरोहित हो गई हैं, पर फिर भी एक दम उभर कर सामने आई हैं, जालपा की आभूषण प्रियता, रमानाथ का मिथ्याभिमान और अपने को समाज में संभ्रान्त बनाने को दोनों

---

१. प्रेमचन्दः—कला और कृतित्व—लेखक डा० प्रेमनारायण टडंन पृ० ८१

की महत्ती आकांक्षा इनके मधुर दाम्पत्य में आग लगा देने वाले तत्व हैं। रमानाथ जालपा की चिरसंचित आभूषण लालसा की पुर्ति के लिये गबन करता है। वह रिश्वत लेना आरम्भ कर देता है। उसका नैतिक पतन हो जाता है। यह सब एक मात्र दम्पत्य जीवन के स्वप्निल संसार की मधुरिमा के लिये है परन्तु अन्त में "गबन" के कारण उसे भागना पड़ा, उनके दाम्पत्य जीवन में एक नई स्थिति आई—करुणा और वियोग की स्थिति। इसी कारण यह उपन्यास भी अन्त में विच्छिन्नतामुखी उपन्यास है। रमानाथ के कलकत्ता भाग जाने के पश्चात जालपा के करुण दाम्पत्य जीवन की विघटित प्रक्रिया अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित हुई हैं।

"गबन" हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जो भारतीय मध्य वर्गीय समाज के दाम्पत्य जीवन के कुछ मौलिक प्रश्न सामने प्रस्तुत करता है। प्रथम प्रश्न मध्यवर्गीय समाज के मिथ्या प्रदर्शन का है। मिथ्या प्रदर्शन के फेर में पड़कर रमानाथ का नैतिक पतन हुआ। दूसरा प्रश्न पहले प्रश्न की ही उपज है। वह है रमानाथ ने नये जीवन के प्रथम अध्याय में ही अपनी पत्नी जालपा का सहज विश्वास क्यों नहीं प्राप्त किया। वह सदैव उसके सामने विलग, तटस्थ, उद्यत सम्भ्रान्त युवक के रूप में आया, एक मर्यादित, संयत, गंभीर सुगढ़ जीवन सहचर के रूप में नहीं। वैवाहिक जीवन के प्रभात में अथक लालसा की गुलाबी मादकता ने उसे जालपा को यथार्थ जीवन सहचरी, सुखदुःख की साथिन के रूप में स्वीकारने से वंचित रखा, तभी तो वह नई दुल्हन को यह नही बताता कि जो जेवर उसे चढ़ाये गये हैं—वह किसी से मांग कर लिये गये हैं। वधू की दृष्टि में गिर न जाऊँ. यह मिथ्या अहं उसे अपनी प्रियतमा के गहने चोरी करने पर विवश करता है। इस घटना ने उनके दाम्पत्य जीवन को आगे चलकर अत्यन्त दयनीय बना दिया।

"गबन" की प्रत्येक समस्या दाम्पत्य जीवन की उपज है। रमानाथ की समस्त जीवनचर्या एक अवरोध के रूप में वर्णित है। व्यवहार कुशलता से अनभिज्ञ पति की यही दशा होनी चाहिये। रमानाथ जालपा के प्रेम में इतना अंधा हो चुका है, कि उसे वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक, मूल्यों का ध्यान ही नहीं रहता। अंध-प्रेमी होने के कारण वह स्वार्थी, घूसखोर, और भावुक हो उठता है। प्रेम जीवन की संचारिणी स्थिति

है, जीवन प्रवाहिनी विधा है। रमानाथ का प्रेम इस किंवदंती के लिये एक चुनौती है। उसका मन तो चोर है, भावुक है। उसके मन को अत्यधिक दुर्बल बनाने वाले तत्व को संचारिणी शक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती, यह तो आज के कृत्रिम समाज की परिस्थितियों और विषम दाम्पत्य जीवन की उपज है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'गबन' की घटना मूल रूप में असफल दाम्पत्य और पति पत्नी की मानसिक विषमता (Psychological maladjustment) का कुफल है, जिसे पढ़कर हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं, कि नव दम्पती की प्रथम और अन्तिम आश्वश्यकता मनोदशा में संतुलन लाना है, जिसका रमानाथ और जालपा के जीवन में अभाव है। इस संबंध में प्रसिद्ध आलोचक मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं—

"अब इस समाज के जो पति पत्नी हैं, उसका भी प्रेमचन्द सुघड़ चित्र देते हैं। थोड़े में पति पत्नी के प्रेम की कैसी पोल दिखाई गई है। जब घूस से प्राप्त पैसों से रमानाथ जालपा को एक चन्द्रहार बना देता है तो उस दिन से जालपा के पति स्नेह में सेवा भाव का उदय हुआ, इस तरह हम देखते हैं कि जैसे तैसे चन्द्रहार देने के कारण जालपा का पातिव्रत्य एकाएक जोर मारता है, और वह पति का रुख देखा करती है। इस प्रकार इस वर्ग के प्रेम, श्रद्धा, द्वेष, सदाचार, पातिव्रत्य सभी बातों में ढकोसलों का ही जोर है। जो असली हालत को न देखे और पति को गहना देने का एक यंत्र मात्र समझे वह प्रेम नहीं—प्रेम शब्द का उपहास है।"[१]

रमानाथ का कलकत्ता भाग जाना इस विच्छिन्नोन्मुखी दाम्पत्यपरक उपन्यास की महत्वपूर्ण घटना है। उसके भाग जाने से दाम्पत्य जीवन में विखराव आ जाता है। कलकत्ता पहुँचने पर रमानाथ का पारिवारिक विकास रुक जाता है। जालपा की सुहृदयता, स्निग्धता खुलकर सामने आती है। दिनेश की फाँसी के समाचार सुनकर वह पति के पाप का प्रायश्चित करने का दृढ़ निश्चय कर लेती है। सहिष्णुता, त्याग और सेवावृत्ति को अपनाकर, तन, मन, धन दिनेश के परिवार-हित

---

१. मन्मथनाथ गुप्तः प्रेमचन्द व्यक्ति और साहित्यकार पृष्ठ २८१-८२

समर्पित कर देती है। वह रमानाथ के सामर्थ्य से अधिक रकम के आभूषण लाने के संबंध में अपना विरोध इन शब्दों में व्यक्त करती है।

"जब तुम्हारी आमदनी इतनी कम थी, तो गहने लिये ही क्यों ? मैंने तो कभी जिद्द न की थी, और मान लो मैं ही बार-बार कहती थी तो तुम्हें समझ बूझ से काम करना चाहिये था.......आदमी सारी दुनियाँ से परदा रखता है, लेकिन अपनी स्त्री से पर्दा नहीं रखता। अगर मैं जानती, तुम्हारी आमदनी इतनी थोड़ी है, तो मुझे क्या शौक चर्राया था कि मुहल्ले भर की स्त्रियों को तांगे पर बैठा बैठा कर सैर कराने ले जाती–मैं क्या जानती थो कि मुझ से छल कर रहे हो, कोई वेश्या तो थी नहीं कि तुम्हें नोच खसोट कर अपना घर भरना मेरा काम होता। मैं तो भले बुरे दोनों की ही साथिन हूँ ।[1]

इससे सिद्ध होता है, कि "गबन" की मूल समस्या दाम्पत्य जीवन की विषमता की समस्या है। न कि आभूषण प्रियता की ट्रेजेडी, जैसा कि डा० रामरतन तथा कुछ अन्य आलोचकों का मत है, यदि आभूषण प्रियता और विलासितापूर्ण जीवन यापन ही जालपा का ध्येय होता तो रमानाथ के भागने पर चरित्र का गौरवशाली पृष्ठ न खुलता। उसके चरित्र के उत्थान ने सिद्ध कर दिया है कि जालपा पतिव्रता परम्परागत दाम्पत्य जीवन की पक्षपातिनी नारी है।

प्रेमचन्द के इस उपन्यास में भी प्रेमचन्द की आदर्शवादी भावना अन्त में मुखरित हो उठी है। उपन्यास का अर्द्ध भाग अखण्ड दाम्पत्य का और रमानाथ के कलकत्ता जाने के उपरान्त का भाग विच्छिन्न दाम्पत्य का उदाहरण है।

अखण्ड दाम्पत्य वाले उपन्यास

"गोदान"

'गोदान प्रेमचन्द का सर्वप्रसिद्ध उपन्यास है। इसकी ख्याति का कारण इसका वर्ग-चित्रण है। आलोचकों के मतानुसार यह ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का महाकाव्य है। इसमें मुख्यतया ग्रामीण वर्ग और जमींदार

---

१. प्रेमचन्द "गबन" पृष्ठ १४७

वर्ग-महाजनी प्रथा एवं निर्धन वर्ग के शोषण की लम्बी कहानी कही गई है। किन्तु बीच-बीच में कथाकार पति-पत्नी के परस्पर प्रेम, आत्मसमर्पण सहानुभूति, त्याग, सेवा, मनोमालिन्य आदि का भी विश्लेषण करता चलता है। उनकी अति सूक्ष्म दृष्टि ने 'गोदान' में दाम्पत्य जीवन को समग्र रूप में देखने परखने और उसका एक निष्कर्ष पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। 'गोदान' में हमें चार दम्पती मिलते हैं।

(१) होरी धनियाँ (२) गोबर-झुनियाँ (३) हीरा-पुनियाँ (४) खन्ना-गोविन्दी। इसके अतिरिक्त 'मातादीन-सीलिया' '·ोला-वीहरी' दिग्विजय सिंह मीनाक्षी, तथा मथुरा-सोना इत्यादि के दाम्पत्य जीवन का भी प्रासंगिक विश्लेषण पढ़ने को मिलता है।

होरी धनियाँ के दाम्पत्य जीवन को हम जमींदारी प्रथा के कारण आर्थिक रूप से जर्जर व टूटा-फूटा दाम्पत्य जीवन कह सकते हैं। इसमें कभी विघटन और कभी संगठन के दर्शन होते हैं. ऐसा विभिन्न साहित्यकारों ने भी माना है।[1] एक स्थान पर डा० राजेश्वर गुरु कहते हैं—"जहाँ 'गोदान' की कथा प्रारम्भ होती है, वहाँ किसान अब गाँव का अधिराजा नहीं है, जमींदार के पैरों की जूतियाँ बनकर रह गया है और श्रम के गर्व से उसका मस्तक अब ऊँचा नहीं है। वह इसी में अपनी व्यवहार कुशलता समझता है कि मिलजुल कर पैर सहला कर ही बने रहो।" कथन अक्षरशः ठीक है, होरी का सम्पूर्ण जीवन जमींदार के पैर सहला कर ही व्यतीत हो जाता है। रही सही कमी महाजन पूरी कर देते हैं।

तीनों महाजनों के नीचे उनकी गर्दन दबी रहती है, परस्पर अगाध स्नेह होते हुए भी वे दोनों सुखी दाम्पत्य जोवन का उपभोग नहीं कर पाते। होरी धनियाँ के मध्य गम्भीर स्नेह है, और एक दूसरे के चरित्र को वे भली प्रकार समझते हैं। होरी के इन विचारों द्वारा धनियाँ के जीवन पर प्रकाश पड़ता है—"जिसने घर के पीछे अपने को मिटा दिया, देवरानियों से काम करने को कहती थी तो क्या बुरा करती थो, आखिर उसे भी जो कुछ आराम मिलना चाहिये, लेकिन भाग्य में आराम

---

१. डा० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द एक अध्ययन—पृ० २२७

लिखा होता, तब तो मिलता। तब देवरों के लिये करती थी, अब बच्चों के लिये मरती है।"[१] धनियाँ को मन से चाहते हुए भी वह बीच-बीच में उसे मारता-पीटता भी है। प्रेमचन्द जी की दृष्टि अति सूक्ष्म थी। उन्होंने 'गोदान' में दाम्पत्य जीवन को समग्र रूप में देखकर उसका सारांश उपन्यास के आरम्भ में ही इन शब्दों द्वारा दिया है, वास्तविक दाम्पत्य जीवन क्या है ? उसके उतार-चढ़ाव प्रेमचन्द के इन शब्दों में दर्शनीय हैं—"वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है, फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण क्षण पर बबूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है, लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है, और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है, उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते सुनते हैं। तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जनरव हम तक नहीं पहुँचता।"[२]

ये शब्द दाम्पत्य जीवन की पीठिका हैं, जिन्हें होरी—धनियाँ के जीवन द्वारा 'गोदान' में उनके दाम्पत्य जीवन के उताव-चढ़ाव द्वारा प्रेमचन्द जी ने सिद्ध करने का प्रयास किया है। होरी-धनियाँ के स्नेह में गोदान में हमें परम्परागत गूढ प्रेम के दर्शन होते हैं। अतः इस उपन्यास में भी हमें परम्परागत दाम्यत्य जीवन के दर्शन होते हैं। गोदान एक सुगठित सामाजिक रचना है। दाम्पत्य जीवन को इसमें प्रेमचन्द ने समग्र रूप में देखा परखा है। दाम्पत्य जीवन की प्रगाढ़ता के लिये पति-पत्नी में निष्कपट स्नेहभाव अत्यन्त आवश्यक है। प्रेमचन्द ने इस तत्व को भी अछूता नहीं छोड़ा है।

दाम्पत्य-प्रेम की प्रगाढ़ता में पति प्रयत्न करते हुए भी पत्नी से कुछ भी नहीं छिपा सकता। जिस स्थान पर परस्पर भेद-भाव या कपट की भावना घर कर लेती है तो सुखद दाम्पत्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रेमचन्द इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं। इस कथन

---

१. प्रेमचन्द : गोदान—पृष्ठ ३१
२. प्रेमचन्द : गोदान पृ० ३६

की पुष्टि एक स्थान पर डा० गीतालाल भी इस प्रकार करते हैं "यदि पति-पत्नी एक दूसरे से कपट करते हैं, तो उनका जीवन कभी सुखपूर्ण नहीं हो सकता। प्रेमचन्द इसे सिद्धान्त रूप में मानते हैं और प्राय: इसका वर्णन करते हैं।"[१]

अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपालन 'गोदान' में भी प्रेमचन्द जी भली प्रकार करते हैं। एक स्थान पर गाय को विष देने की बात सोचते हुए भी होरी धनियाँ से नहीं छिपा पाता। वह कहता है—

"अच्छा तेरा संदेह किसी पर होता है"

"मेरा संदेह तो किसी पर नहीं। कोई बाहरी आदमी था।"

"मेरा सन्देह हीरा पर होता है।"

"झूठ, बिल्कुल झूठ। हीरा इतना नीच नहीं है, वह मुँह का ही खराब है।" इस घटना के कारण और होरी के हीरा द्वारा दिये गये विष[२] का रहस्य न छिपाने के कारण होरी तथा धनियाँ के दाम्पत्य जीवन में 'कुछ समय' के लिए विक्षेप आ जाता है तथा उनका दाम्पत्य जीवन अस्थायी रूप में कुछ दिनों के लिये विघटित हो जाता है। 'गोदान' में गाय को माहुर दिये जाने की घटना द्वारा होरी-धनियाँ के दाम्पत्य जीवन पर प्रकाश पड़ता है इस घटना द्वारा ही दोनों के दाम्पत्य जीवन में कटुता का पदार्पण होता है। होरी अपने भाई हीरा द्वारा विष दिये जाने की बात को छिपाना चाहता है। धनियाँ स्पष्टवादिता का सहारा लेती है।

धनियाँ होरी से पिटकर भी तथा-कथित पतिभक्ति नहीं सीखती। वह अन्धानुकरण करने को तैयार नहीं है, इसी कारण सच को झूठ कहने को तैयार नहीं हुई, उल्टे क्रोधित होकर होरी कहती है[३]—"मार तो रहा है, और मार ले। जा तू अपने बाप का बेटा होगा तो आज मुझे मार कर पानी पीयेगा। पापी ने मारते-मारते मेरा दम निकाल दिया, फिर भी इसका जी नहीं भरा। मुझे मारकर समझता है मैं बड़ा वीर हूँ, भाइयों

---

१. डा० गीतालाल : प्रेमचन्द का नारी चित्रण पृ० ७१

२. प्र मचन्द : गोदान पृ० १११

३. प्रेमचन्द : गोदान (संस्करण १९६६) पृ० ११३

के सामने भीगी बिल्ली बन जाता है ! पापी कहीं का हत्यारा।" धनियाँ का पति को पापी, हत्यारा, सम्बोधित करना नये दृष्टिकोण का परिचायक है।

आज की नारी परम्परागत मान्यताओं को ढोती नहीं चलेगी। प्रेमचन्द ने गोदान में धनियाँ के चरित्र द्वारा दाम्पत्य के प्रति स्वतन्त्र भावनाओं का भी परिचय दिया है। इस दम्पती के जीवन में विघटन-संघटन की प्रक्रिया पलती रहती है, परन्तु दाम्पत्य प्रेम की पुण्य-सलिला बिखर कर भी टूटती नहीं। यह तथ्य होरी और धनियाँ के दाम्पत्य जीवन द्वारा उपन्यास में स्पष्ट हो जाता है।

खन्ना—गोविन्दी 'गोदान' के दूसरे महत्त्वपूर्ण दम्पती हैं। इससे वर्तमान दाम्पत्य जीवन का अप्रत्यक्ष रूप से दिग्दर्शन हो जाता है। कुछ प्रतिशत सुहृद मानवों को छोड़कर आज का शिक्षित सभ्य संस्कृत धनीमानी समाज के सुसभ्य नागरिकों का दाम्पत्य जीवन विघटन की ओर अग्रसर हो रहा है। आखिर यह सब क्यों ? पुरुष-समाज स्वार्थी लम्पट व विलासी हो रहा है। नवीनता में दूसरी ओर पाश्चात्य मूल्यों ने प्राचीनतम मूल्यों को पराजित कर दिया है। "गोदान" में हम देखते हैं कि खन्ना-गोविन्दी का दाम्पत्य जीवन छिन्न-भिन्न है। ऊपर से प्रसन्नचित्त रहने वाली गोविन्दी के हृदयतल में असीम वेदना समायी है, क्योंकि गोविन्दी पुरानी हिन्दू संस्कारों में पली सच्ची धर्मपरायण नारी है। इसके विपरीत खन्ना का स्वभाव दम्भी, स्वार्थी तथा विलासी है। वैवाहिक जीवन में उसे अपनी पत्नी गोविन्दी से न सच्ची सहानुभूति है, न वह उसे जीवन संगिनी मानकर सच्चा स्नेह ही दे पाता है। इसके अतिरिक्त, गोविन्दी के सच्चे स्नेह, त्याग, व सेवा का मान न करके उसकी अपेक्षा करता है। वह मालती के चारों ओर भौंरे के सदृश भ्रमता रहता है। मालती नये मूल्यों में ढली नवीनतम धाराओं में रंगी पाश्चात्य भावनाओं से ओतप्रोत नारी है। खन्ना उनके नवीन विचारों तथा बाह्य रूप सौन्दर्य का पूर्ण उपासक है। उसकी दृष्टि गोविन्दी के आन्तरिक सौन्दर्य को देखने परखने की क्षमता नहीं रखती। दोनों के विषम दाम्पत्य का चित्रण प्रेमचन्द ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—"खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती। क्यों नहीं पटती, यह बताना

कठिन है। ज्योतिष के हिसाब में उनके गृहों में कोई विरोध है, हालांकि विवाह के समय ग्रह और नक्षत्र खूब मिला लिये गये थे। कामशास्त्र के हिसाब से इस अनबन का और कोई रहस्य हो सकता है और मनोविज्ञान वाले कुछ और ही कारण खोज निकाल सकते हैं। हम तो इतना ही जानते हैं कि उनमें नहीं पटती। खन्ना धनवान् हैं, रसिक हैं, मिलनसार हैं, रूपवान् हैं, अच्छे पढ़े-लिखे हैं, और नगर के विशिष्ट पुरुषों में से हैं। गोविन्दी अप्सरा न हो, पर रूपवती अवश्य है। बाह्य आकर्षण क्या वस्तु है और कैसे उत्पन्न हो सकता है इसका उसने कभी विचार नहीं किया, क्योंकि वह आन्तरिक सौन्दर्य की पक्षपाती है। वह पुरुष का खिलौना नहीं, न ही भोग की वस्तु; फिर क्यों आकर्षक बनने की चेष्टा करे। अगर पुरुष उसका असली सौन्दर्य देखने के लिये आँखें नहीं रखता, कामिनियों के पीछे मारा-मारा फिरता है, तो वह उसका दुर्भाग्य है। वह उसी प्रेम और निष्ठा से पति की सेवा किये जाती है जैसे द्वेष और मोह जैसी भावनाओं को उसने जीत लिया हो।"[१]

मि० खन्ना भी प्राचीनता के विरुद्ध नवीन भावनाओं से प्रभावित हैं। इसीलिये वह गोविन्दी की अपेक्षा मालती की ओर पूर्णरूप से आकर्षित हैं। खन्ना की गोविन्दी के प्रति उपेक्षा तथा मालती के प्रति प्रेम-भावना ही दोनों के दाम्पत्य में दरार का मुख्य कारण हैं। दोनों के जीवन में कटुता घर कर लेती है। बच्चे के अस्वस्थ होने पर डाक्टर को बुलाने की तुच्छ बात पर ही दोनों में विषम संघर्ष हो जाता है। खन्ना कहते हैं—"तुम मालती की चाहे कितनी बुराई करो, तुम उसके पाँव की धूल भी नहीं हो। 'मेरी दृष्टि में वेश्याओं से भी गयी बीती है, क्यों कि वह परदे की आड़ से शिकार खेलती है।' दोनों के निशाने ठीक बैठे। दोनों तिलमिला उठे। खन्ना की आँखें लाल हो गयीं, गोविन्दी का मुँह लाल हो गया। खन्ना आवेश में उठे और उसके दोनों कान पकड़ कर जोर से ऐंठे और तीन चार तमाचे लगा दिये।"[२] गोविन्दी रोती हुई अन्दर चली गयी। तत्पश्चात् वह व्यथित होकर घर छोड़कर चली जाती है। इस मर्मस्पर्शी घटना के बाद प्रेमचन्द जी की आदर्शवादी भावना कार्य करती

---

१. प्रेमचन्द : गोदान पृ० १९२

२. प्रेमचन्द : गोदान—पृष्ठ १९४

है। मेहता "गोदान" के आदर्शवादी पात्र आकर कार्य करते हैं। वह गोविन्दी को समझाकर पुनः घर भेज देते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द गोदान में परम्परागत अखण्ड दाम्पत्य जीवन की परम्परागत आदर्श भावनाओं का प्रतिपादन करते हैं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द जी आदर्शवादी लेखक थे, उन्होंने खन्ना—गोविन्दी के विक्षिप्त तथा छिन्न-भिन्न दाम्पत्य में भी अन्त में किसी न किसी प्रकार समझौता करवा ही दिया तथा उनके दाम्पत्य जीवन को विघटन से बचाकर समझौते द्वारा एकता के सूत्र में पिरो दिया।

प्रेमचन्द जी ने "गोदान" में जहाँ होरी धनियाँ जैसे सफल भोला-मोहरी जैसे अनमेल दम्पतियों का चित्रण किया है, वहाँ मीनाक्षी और दिग्विजय सिंह जैसे असफल दम्पती का चित्रण भी कुशलतापूर्वक किया है। मीनाक्षी-दिग्विजय सिंह का दाम्पत्य "गोदान" में विघटित दाम्पत्य का उदाहरण है। अन्त में "गोदान" के आधार पर कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कथाकार हैं। उन्होंने दाम्पत्य का विघटन आदर्श जीवन के विपरीत बताया है। वे दाम्पत्य विघटन के पक्षपाती नहीं हैं। इसी कारण मेहता' द्वारा उन्होंने एक स्थान पर स्पष्ट शब्दों में कहला दिया है कि विवाह-विच्छेदन नहीं हो सकता। क्योंकि "विवाह एक सामाजिक समझौता है, जिसे तोड़ने का अधिकार न तो पुरुष को है न स्त्री को। विवाह ऐकान्तिक उच्छृंखलता नहीं, सामाजिक बंधन है।" १

और इस सामाजिक बंधन को पवित्रता से निर्वाह करने में ही दाम्पत्य जीवन का सुख निहित है तथा समाज का कल्याण संभव है। संक्षेप में गोदान एक समाज सापेक्ष, व्यक्तिनिष्ठ नवीन शिल्पगत प्रयोग है, जिसमें प्रेमचन्द्र जी ने पति-पत्नी के संबंधों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

प्रेमचन्द्र जी के मुख्य उपन्यासों का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यासों

---

१. प्रेमचन्द: गोदान (द्वितीय संस्करण) १९६६ पृ० १६७

में किसान, जमींदार, मजदूर वर्ग के साथ ही पति-पत्नी के संबंधों को भी सूक्ष्म रूप से विश्लेषित किया है। खंडित दाम्पत्य जीवन वाले उपन्यास, और अखण्ड दाम्पत्य-जीवन वाले उपन्यास दोनों ही धाराओं के उपन्यासों में प्रेमचन्द्र जी ने दाम्पत्य जीवन को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखा परखा है, दाम्पत्य जीवन की विभिन्न समस्याओं की ओर दृष्टिपात करके समाधान भी प्रस्तुत किये हैं। समस्याओं के समाधान में वे आदर्शवादी दृष्टिकोण ही प्रतिपादित करते हैं। दाम्पत्य जीवन में नई मान्यताओं के पक्षपाती न होकर परम्परागत आदर्श दाम्पत्य जीवन के सिद्धान्त को ही प्रतिपादन करना उनका उद्देश्य है।



प्रकाशिका एवं लेखिका,
अर्चना प्रकाशन, कोटा (राजस्थान)

गोदान के नारी पात्र

डॉ० रामकुमारी मिश्र

प्रेमचंद स्वभाव से आदर्शवादी थे, परन्तु उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, उसका मूलाधार यथार्थवाद है। उन्होंने लगभग ३० वर्षों तक हिन्दी साहित्य तथा समाज को प्रेरणा प्रदान की। जिस समय वे हिन्दी क्षेत्र में उतरे, देश में विषमता का बोलबाला था। सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक दुर्व्यवस्था के कारण सर्वत्र घृणा और विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। सुधारक संस्थाओं की बाढ़ आ गई थी। गाँधी जनता को जागरित कर रहे थे। इन सब का प्रभाव प्रेमचन्द जी की रचनाओं पर पड़ा। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों का सजीव तथा यथार्थ चित्रण किया है। यदि दुर्भाग्यवश इन ३० वर्षों का इतिहास लुप्त भी हो जाय, तो उसकी पूर्ति प्रेमचन्द के उपन्यासों द्वारा हो सकती है। उन्हें 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का समर्थक और समस्यामूलक उपन्यासकार भी कहते हैं। इसीलिये उनके सभी उपन्यासों के पूर्वार्ध में यथार्थ है, जो अन्त में आदर्श का रूप धारण कर लेता है। 'गोदान' में भी प्रायः ऐसा ही हुआ है। आदर्श की स्थापना के लिये ही मालती-मेहता का शहरी प्रसङ्ग होरी-धनिया के ग्रामीण यथार्थ के साथ जोड़ दिया गया है।

हमारे देश में नारी सदैव से सम्माननीय स्थान ग्रहण करती रही है, किन्तु मध्यकाल में वह भोग की वस्तु तथा 'अबला' बना दी गई। कहाँ जीवन में स्त्री-पुरुष की समानता और कहाँ यह वैषम्य ! समाज सुधारकों को अच्छा अवसर मिला नारी स्वतंत्रता एवं समानता का आन्दोलन छेड़ने का। प्रेमचन्द जी आजीवन पुरुष की अपेक्षा नारी की श्रेष्ठता को स्वीकारते हुए उसे जीवन की समस्त सुविधाओं को उपलब्ध कराने के पक्ष में रहे हैं। वे नारी को और शक्ति सम्पन्न देखना चाहते थे। वे उसे शिक्षित तो देखना चाहते थे, किन्तु पाश्चात्य सभ्यता में न बहाकर उसे भारतीय आदर्शों के अनुकूल रखकर विवाह को आवश्यक समझते थे। वे दाम्पत्य जीवन को सुदृढ़ भूमि में खड़े होने के लिए दहेज-प्रथा, अनमेल

विवाह, बाल-विवाह को उखाड़ फेंकने की सलाह देते हैं। वे विधवा नारी के करुणचित्र खींचते अघाते नहीं। वे जाति-पाँति, छुआछूत, ऊँच-नीच के प्रबल विरोधी रहे हैं। वे स्वैराचार के घोर विरोधी हैं। वे स्त्री के पातिव्रत्य के हामी हैं। उनके लेखन का मूल स्वर भी वही है। उन्हें स्त्रियों का सौन्दर्य-प्रदर्शन या आभूषण-प्रियता सह्य नहीं। वे यह मानते हैं कि स्त्री में चारित्रिक दृढ़ता होनी चाहिये और उसे अपने चरित्र की रक्षा करनी चाहिये। वे प्राचीन परम्पराओं के साथ ही नवोनता के भी समर्थक थे।

यद्यपि प्रेमचन्द जी द्वारा 'गोदान' की रचना परतंत्र भारत में की गई, किन्तु उसमें नवोत्थित भारत का स्वप्न भी है। 'गोदान' कृषक जीवन का जीता-जागता दर्पण है। उसमें जहाँ ग्रामीण जीवन में गोबर तथा झुनिया एवं मातादीन तथा सिलिया के जैसे सम्बन्ध या कि ब्राह्मण और निम्नवर्गों के बीच का वर्ग संघर्ष उभरता है, तो मालती-मेहता के आदर्श यह बताते हैं कि वैवाहिक जीवन या मातृत्व के बिना भी नारी जीवन की कल्पना की जा सकती है। 'गोदान' सचमुच उस युग तक के विभिन्न विचारों का श्रेष्ठ कलात्मक समन्वय कहा जा सकता है।[1]

'गोदान' में पुरुष तथा स्त्री पात्रों की संख्या बहुत बड़ी है, किन्तु दोनों का अनुपात लगभग समान है। कुल २४ स्त्री पात्र हैं। जिसमें ग्रामीण क्षेत्र के १७ और शहरी क्षेत्र के ७ स्त्री पात्र हैं। चाहें तो इन स्त्री पात्रों को निम्न वर्ग तथा मध्यवर्ग के पात्र—इन दो वर्गों में रख सकते हैं। लेकिन इन्हें प्रधान, गौण तथा औपचारिक इन तोन उपविभागों में रखकर विचार करना उपयुक्त होगा। स्त्री पात्रों में प्रधान हैं—धनिया, झुनिया, सिलिया, मिसेज खन्ना (कामिनी या गोविन्दी) तथा मालती। गौण पात्रों में पुनिया, चुहिया, नोहरी, दुलारी, सोना, रूपा, सरोज, गोमती (सम्पादक ओंकारनाथ की पत्नी) मिस सुलताना के नाम आते हैं। कामता की बहू, जंगी की बहू, भोला की बहू, (सब्बों) कलिया (हरखू की पत्नी तथा सिलिया की माँ), कौशिल्या, दुलारी की पुत्री, कामता की बहू की सौतेली माँ, वरदा तथा मेम साहब क्षण भर के लिये प्रकट होती हैं, अतः ये औपचारिक पात्र हैं। इन सबों के अतिरिक्त कलूटो (जंगली लड़की) की उद्भावना वैसी ही है, जैसे तुलसोदास जी की इन

पंक्तियों में निहित चित्र 'बनहित कोल किरात किशोरी।' इतने अधिक स्त्री पात्रों की सृष्टि प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' को बोझिल करने के उद्देश्य से नहीं, वरन् साभिप्राय की है। जिस प्रकार के परम्परागत ग्रामीण समाज का वे चित्रण करने के लिए कटिबद्ध हैं, उसमें ऐसे ही 'टाइप पात्रों' की आवश्यकता थी। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो लगेगा कि पात्र किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आये हैं। वे सभी एक दूसरे से अन्तर्ग्रंथित भी हैं। ग्रामों में आज भी ऐसा अन्तःसम्बन्ध देखा जा सकता है। वास्तविक अंकन के लिये प्रेमचन्द के लिये यह लाजिमी था कि वे छोटे से भी छोटे 'टाइप' को न छोड़ते—सबों को समेट कर चलते।

लेकिन किसी भी कथा में कुछ केन्द्रीय पात्र होते हैं, शेष उनके सहायक होते हैं—कार्यकलापों में सहयोग देने वाले या कथा को अग्रसर करने में सहयोगी के रूप में। यदि प्रेमचन्द जी का उद्देश्य ग्रामीण तथा शहरी इन दो विरोधी परिवेशों में स्त्री के गुणों, उनकी जीवन स्थितियों, उनकी अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षा या उनकी विचार धाराओं को सही-सही चित्रित करना था, तो यह कहा जा सकता है कि उन्होंने धनिया तथा मिसेज खन्ना को विशिष्ट 'टाइप' के रूप में चुनकर सच्चे साहित्यकार का दायित्व निभाया है। सचमुच दोनों स्त्री कूल भूषण हैं। मालती की सृष्टि द्वारा देश के जागरण से उत्पन्न परिस्थितियों का आस्वाद कराना है। ग्रामीण समाज में, विशेषतया निम्नवर्ग में, कुछ समर्पितायें भी होती हैं—झुनिया तथा सिलिया उनकी प्रतिनिधि स्वरूप हैं। चुहिया जैसी परोपकार की ज्वलंत मूर्तियाँ आज भी उस समाज में मिलती हैं, जबकि शहरों में मीनाक्षी जैसे आचरण की स्त्रियों की कमी नहीं। वे ऐसे संस्कारों के द्वारा बनी हैं कि वे इस संसार में झुकना नहीं चाहती, उनमें स्वार्थ है, वे स्त्री गुणों की परवाह किये बिना अपने को आगे ले जाना चाहती हैं। वे परिस्थितियों से समझौता करना नहीं जानतीं।

देहातों में, स्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो पति के न रह जाने पर अपनी जीविका के लिये पूर्वसंचित धन से लेनदेन करता है—दुलारी उसी वर्ग की प्रतिरूप है। एक प्रकार से वे उस समाज की पोषक अधिक हैं, शोषक कम। लेकिन कुछ प्रचंडायें भी हैं, जो बात-बात में झगड़ती हैं, जिन्हें समाज में स्थापित छोटे-बड़े या अच्छे-बुरे की परवाह नहीं। वे अपनी तुनुकमिजाजी में अपने पति से भी बैर ठान लेती हैं और अपने

कुटुम्ब वालों पर व्यंग्य करना या कटु वचन कहना मानो उनकी ईर्ष्या की तुष्टि करने वाला हो। नोहरी तथा पुनिया ऐसी ही ग्रामीण स्त्रियाँ हैं। मीनाक्षी को शहरी क्षेत्र की ऐसी ही स्त्री पात्र कहा जा सकता है।

ग्रामों में कुमारियाँ किस प्रकार अपने घर-परिवार के लिए प्राणपण से कार्य करती हैं और अपने माता-पिता की इच्छा को सर्वोपरि मानते हुए अपने भाग्य निर्णय में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करती, इसका उदाहरण सोना तथा रूपा हैं, जो बाद में काफी वय वाले व्यक्तियों को ब्याह दी जाती हैं। वे अपने माँ-बाप की निर्धनता के कारण किस प्रकार गहरे गर्त में जा पड़ती हैं, लेकिन तब भी वे प्रसन्न रहती हैं। चूँ तक नहीं करतीं। शहरी क्षेत्र के ऐसे स्त्री पात्र 'गोदान' में नहीं ही आ पाये, यद्यपि शहरों में यह टाइप' मिल सकता था।

प्रेमचन्द जी के द्वारा चित्रित 'गोदान' के स्त्री पात्रों में परस्पर कितना वैषम्य है इसे देखने के लिए मिसेज खन्ना तथा मालती, धनिया तथा पुनिया, नोहरी तथा सिलिया, दुलारी तथा चुहिया और झुनिया तथा सिलिया के चरित्रों को साथ-साथ लेना होगा। झुनिया तथा मालती के चरित्रों को लेकर भी रोचक निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकते हैं। चुहिया तथा कलूटी सभी पात्रों से भिन्न हैं। वे समान रूप से परोपकारी हैं। लेकिन एक अपने घर में उपेक्षिता है, तो दूसरी का शरीर स्त्री (मालती) के लिए ईर्ष्या का कारण और एक अत्यन्त सुशिक्षित पुरुष (मेहता)के लिए भी आकर्षण का केन्द्र बनता है। प्राकृतिक वातावरण में रहने वाली ऐसी स्त्रियाँ निश्चित रूप से किसी के लिए भी 'अवसि देखिये देखन जोगू' कहावत चरितार्थ करती हैं—लेकिन क्या मालती भी ऐसी नहीं है ? 'गोदान' में उसे भी तो बारम्बार 'तितली' कहा गया है। अच्छा होगा कि हम कुछ प्रमुख स्त्री पात्रों का विस्तार से विवेचन करें।

धनिया

यह होरी की पत्नी और आदर्श गृहस्थिन है। इसके एक लड़का है गोबर, तथा दो कन्यायें हैं—सोना और रूपा। उसके परिवार में होरी के भाई हैं, जिसमें हीरा मुख्य है, जिसकी पत्नी पुनिया है। वस्तुतः 'गोदान' की सारी कथा इस एक परिवार के जीवन की कथा है। थोड़ी

सी जमीन है, सम्मिलत बँसवरिया है, अपने बैल हैं। धनिया, होरी व इसके बच्चों के मन में ललक है कि एक गाय उनके खूँटे में होती। यह गाय पास के गाँव के अहीर भोला से प्राप्त की जाती है। गाय को लाने पर मानों इस परिवार की चिरसंचित साध पूरी होती है—कितना उत्साह उमड़ता है। लेकिन होरी का अपना ही भाई हीरा ईर्ष्या के वशीभूत होकर गाय को विष दे देता है। गाय का मरना और हीरा का भागना–ये दो ही घटनायें हैं, जो कथा को अग्रसर करती हैं। गाँव के निम्नवर्ग का किसान किस प्रकार ऋण में पैदा होता है और ऋण में ही मरता है, मानों होरी-धनिया की कथा इसी का चित्रण है। गाँव में ही ऋण देने वाले, शोषण करने वाले हैं। उनके लिये दया, करुणा कोई अर्थ नहीं रखते। वे तो दिये गये धन के ब्याज पर ही कर्ज लेने वाले को दास बनाये रखना चाहते हैं। वे उसकी आत्मा को ऊपर नहीं उठने देना चाहते। उसमें गाँव का पुरोहित तथा अन्य मध्यस्थ (प्रशासन के समर्थक एवं दलाल) भी इन ऋण से बोझिल कृषकों के लिये जोंक साबित होते हैं। वे स्वयं ढोंगी हैं, किन्तु उन्हें नैतिकता की शिक्षा देते नहीं अघाते। ऐसी दुरभिसन्धि में कृषक की आत्मा छटपटाती है। वह अपने त्राण के उपाय न सोच सकने के कारण दया की गुहार करता है—वह न तो अपनी आत्मा को बेचना चाहता है न परम्परागत नैतिक मूल्यों से अपने आप विरत होना चाहता है। इसी मोह में बँधकर वह अपने हित तथा अनहित में अन्तर नहीं कर पाता। वह अन्य सब मामलों में समझौता कर सकता है, लेकिन अपनी आत्मा को नहीं बेचेगा। वह सत्य पर—अपने कहे हुये पर—अडिग रहना चाहता है। उसके समक्ष सतयुगी हरिश्चन्द्र का आदर्श रहता है, अन्यथा वह एक झूठ बोलकर, चापलूसी के दो शब्द कहकर सुखपूर्वक रह सकता है। अतः या तो वह जीने की कला नहीं जानता या जानकर भी निश्चेष्ट रह जाता है।

प्रेमचन्द जी ने बारम्बार किसान की स्वार्थपरता एवं उसकी होशियारी का संकेत किया है, लेकिन यह पुरुष के लिये सत्य हो सकता है—किसान की पत्नी धनिया के लिये नहीं। वह तो आदर्श पातिव्रत्य का पालन करती हुई किसी भी दमन या अन्याय का विरोध करती है। प्राण रहते हुये वह परिस्थितियों से समझौता करने को तैयार नहीं। उसके समक्ष सती सीता का आदर्श रहता है। उसके हृदय में अपने

पति के लिये निष्ठा है, सम्मान है, लेकिन अवसर चूकने पर वह उसे भी लथेड़ती है। वह प्रशासक (दरोगा), गाँव के धर्माधिकारियों या कि अपनी देवरानी या पतोह किसी से भी नहीं दबती। धनिया जैसा चरित्र तो दुर्लभ है, लेकिन यह तो देहातों की धरती से उपजी सीता है—यह कठिन से कठिन अग्नि परीक्षा के लिये तत्पर है! उसे अपने सुख की चिन्ता नहीं, उसे वंश का, परिवार का और सर्वोपरि अपनी माँ—धरती तथा पूज्य गऊ का लगातार ध्यान है। वह मिट जायेगी, लेकिन झुकेगी नहीं। आज के सुविधाभोगी समाज में ऐसी नारी रूढ़िवादी पिछड़ी तथा जिद्दी या सनकी कही जायेगी, लेकिन चाहे धनिया हो या सिलिया, उनमें ग्रामीण संस्कृति अथवा कृषि संस्कृति की सोंधी गन्ध को ही ढूँढने का प्रयास होना चाहिये। वे दिन, वे लोग—ऐसी स्मृति शायद अर्वाचीन को प्राचीन से विलग रखने की मानसिक प्रक्रिया होगी। झुनिया सर्वथा विपरीत 'टाइप' हैं धनिया की—उसके बाद की (भावी) पीढ़ी की प्रतिनिधि, जिसकी दृष्टि में धन का ही महत्त्व है। धनिया के बाद झुनिया का ही समाज होना है, लेकिन वह कितनी अस्थिर चित्त कितनी सुविधाभोगी तथा कितना स्वार्थपरक होगा ?

धनिया सचमुच 'गोदान' के समस्त नारी पात्रों में श्रेष्ठ है। वह दृढ़, कर्मठ ओर साहसी है। वह कर्तव्यपरायण, उदारशीला, अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने वाली नारी है। वह स्वयं कहती है कि किस कठिनाई से वह परिवार में जीवन-निर्वाह करती रही, लत्ते को तरसी और पैसे को प्राणों की तरह संचा। अपनी जवानी में वह रूपवती भी थी। उसने लल्लो-चप्पो करना तो सीखा ही न था। यदि वह अपने पति होरी को परस्त्री से बात करते देख लेती तो उससे भी हफ्तों न बोलती। हीरा को दरोगा के उत्पीड़न से बचाने के लिये होरी जब गऊ हत्या को छिपाने के लिये धनिया से तर्क करता है तो वह उबल पड़ती है, उस पर थू थू तो करती ही है, कहती है—'अनर्थ नहीं, अनर्थ का बाप हो जाय'—वह गऊ हत्या की बात प्रकट करके ही रहती है, भले उसे इसके लिये होरी की मार खानी पड़ती है। वह सत्य को छिपा नहीं सकती। न घूस देकर वह उत्पीड़न से बचना चाहती है। वह दारोगा को ललकारती है—'पहले दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ'। यहाँ तक कि दारोगा भी स्वीकार करता है कि 'औरत है बड़ी दिलेर'।

वह अपने पुत्र गोबर की उद्दंडता पर भी तरस नहीं खाती। वह लगातार झुनिया को भला बुरा (राँड) कहती है। लेकिन जब वह पाँच मास का गर्भ लेकर शरण में आती है, तो उसको शरण देने के लिये होरी से जोरदार वकालत करती है, लेकिन जब पंच डाँड़ लेने की बात करते हैं, तो वह उनके मुख पर उन्हें 'राक्षस' कहती है। सचमुच बादाम की भाँति कठोर पर हृदय की कोमल है धनिया। उसकी जबान तेज है, पर हृदय मोम जैसा है। अपनी लड़की रूपा के विवाह प्रस्ताव पर पहले वह होरी पर लड़की बेचने का अभियोग लगती है, किन्तु परिस्थितियों को सोच समझकर उसका समर्थन करती है।

उसे नोहरी जैसी स्त्री के आचरण से घृणा है। जो स्त्री पति को पीटे, भला बुरा कहे, अन्यों से प्रेम करे, वह धनिया को त्याज्य है। वह भोला से कहती है कि दुश्चरित्र नोहरी का सर वह गंड़ासे से काट ले। उसका यह गुण उसकी पुत्री सोना में भी इसी रूप में है। अमृतराय [२] ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि धनिया या लौंगी—इन सबके पीछे प्रेमचन्द की स्वयं की पत्नी बैठी हुई नजर आती हैं, जो एक साथ कोमल भी हैं, कठोर भी।

धनिया का पति होरी उसके गुणों का ग्राहक है। उसे सेवा और त्याग की देवी कहता है, लेकिन उसका चित्रण यह कहकर करता है कि—'उसकी नाक बड़ी लम्बी है, चाहे मिट जाय, मरजाद न छोड़ेगी। आगे भी चलती है, पीछे भी—तेरा मरम भगवान ही जाने'।

यह नारी का यथेष्ट मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

झुनिया

झुनिया भोला अहीर की लड़की है। जब छोटी थी तभी से ग्राहकों के घर दूध ले जाया करती थी, उसे तरह तरह के मनुष्यों से सामना पड़ चुका था। दो चार रूपये हाथ लग जाते थे, घड़ी भर के लिये मनोरंजन भी हो जाया करता था, मगर यह आनन्द जैसे मँगनी की चीज हो। उसमें टिकाव न था—वह ऐसा प्रेम चाहती थी जिसके लिये वह जिये और मरे।

गोबर को प्रेम-जाल में फँसाकर मानों उसकी ललक पूरी हुई। किन्तु वही गोबर जब उसे शहर ले जाता है और झुनिया बीमार रहती है तो गोबर अपनी वासनाओं को पूरा न करने के कारण उसे पीटता है। तब झुनिया सोचती है कि गोबर पशु है—वह उसे अपने भोग की वस्तु मानता है।

गाँव में उत्पन्न विरोध से डरकर जब गोबर प्रारम्भ में ही झुनिया को छोड़कर भाग जाता है, तो वह मातादीन से बात करती है, उससे कहती हैं कि 'मेरे खातिर गोबर को दर-दर की ठोकरें सहनी पड़ती हैं'। इसी प्रकार पुनः जब गोबर मिल के झगड़े में आहत हो जाता है, तो उसका नारीतत्व जागता है—वह नाराज रहकर भी गोबर के प्रति दयार्द्र हो उठती है, सोचती है कि शायद उसकी दुर्भावना से उसके पति का अनिष्ट हुआ।

झुनिया ऐसी नारी की प्रतिनिधि है, जिसकी दृष्टि में अपनी सुविधायें प्रधान हैं। उसे अपने पति के परिवार से विशेष सरोकार नहीं। उसको तो धन की चाह है। 'जिसके पास पैसे हों, वही बड़ा आदमी है, वही भला आदमी है, यदि पैसे न हों तो सभी रोब जमाते हैं।'

व्यावहारिक जीवन में अनुभवशून्य होने के कारण जब झुनिया शहर में बीमार पड़ती है और बच्चे को जन्म देती है तो चुहिया उसकी एकमात्र सहायिका बनकर आती है। उसे न अपनी ननदों का ध्यान आता है, न ही उन्हें चाहती है। वह आत्मकेन्द्रित है। धनिया के सर्वथा विपरीत नई पीढ़ी की एक नई टाइप।

सिलिया

यह जाति की चमारिन, साँवली, सलोनी, छरहरी बालिका है, जो रूपवती न होकर भी आकर्षक है। गाँव के ही ब्राह्मण युवक मातादीन (मतई) पर यह अनुरक्त हो जाती है, तो उसी पर सर्वस्व लुटा देती है। वह मजूरी करती है, भूखों मरती है और मतई के नाम पर बैठी है। गर्भवती होने पर मतई का बाप उसे घर से निकाल देता है तो वह होरी के यहाँ रहने लगती है। सोना से उसकी पटती है। वह उसकी ससुराल

तक पहुँच जाती है, लेकिन वहाँ उसका अपमान भी होता है (अपने रूपवश)।

स्वार्थी मतई प्रारम्भ में उसे काम करने की मशीन समझता है, लेकिन वह बेचारी उसी पर समर्पित होकर परकटी पक्षी की भाँति जीती है, अधिकारों से वंचित होकर। वह समझती है कि मतई उसे नहीं छोड़ेगा। उसके पुत्र भी होता है, किन्तु वह मर जाता है। अन्त में मतई उसकी कुटी में आकर आत्मसमर्पण करता है। प्रेमचन्द जी ऐसे मिलन के पूर्व इनकी उत्पन्न सन्तान को क्यों मार देते हैं—क्या इनके सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिये ?

वास्तव में सिलिया आत्मसमर्पित आदर्श नारी है। वह अपने माँ बाप की ताड़ना सहकर भी अपने चुने हुये पथ से डिगती नहीं। वह एक ब्राह्मण के साथ प्रेम करके भी मजदूरी से जीवन यापन करने में हिचकती नहीं है।

आलोचकों के अनुसार [१] सिलिया तथा उसके सम्बन्धी उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जिसका तथाकथित उच्च वर्ग ने अपने स्वार्थ तथा इच्छानुसार शोषण तो किया है, पर अधिकार नहीं दिया। लेकिन अब वे जागरूक हो रहे हैं, संगठित हो रहे हैं। मतई तथा सिलिया से जन्मी पीढ़ी वर्णसंकर होगी और सशस्त्र क्रान्ति सम्भावित है। वास्तव में यह ऐसी समस्या है, जिसका हल दिखाई नहीं पड़ता। आज अनेक प्रान्तों में हरिजनों पर जो अत्याचर हो रहे हैं, उसके मूल में क्या ऐसी ही समस्या नहीं है ? जब तक ऐसे वासनात्मक सम्बन्ध किन्हीं भी दो वर्गों के बीच स्थापित होते रहेंगे, तबतक ऐसे उत्पातों को रोका नहीं जा सकता। मानव की चरित्रगत निर्बलता के लिये मानवता को कलंकित होना पड़ेगा या कि जीवनमूल्य बदलने होंगे। अमृतराय[२] ने मातादीन और सिलिया में प्रेमचन्द जी के मामू और चम्पा के अवैद्य सम्बन्धों की छाप ढूँढ निकाली है। कहने का तात्पर्य यह कि सिलिया कोई काल्पनिक नहीं वरन वास्तविक पात्र है।

नोहरी

यह जाति की अहीरिन है, जो नोखेराम नामक ब्राह्मण को चंगुल में फँसाकर इतराती रहती है। इसने विधुर भोला की दूसरी पत्नी

का भी पद सम्भाल रखा है। यह मर्दों को नचाने वाली कला जानती है। वह दिल की ओछी है। वह उन औरतों में न थी, जो नेकी करके दरिया में डाल देती। वह थोड़ा भी उपकार करके उसका डंका पीटना चाहती है, वह चर्चा का विषय बनाना चाहती है। इस मनोवृत्ति से प्रेरित हो वह होरी को सोना के ब्याह के अवसर पर रुपये उधार देती है। वह छबीली, रंगीली और कुलटा है। दूसरों के साथ हँस सकती है, लेकिन भोला को देखकर कुप्पा सा मुँह फुला लेती है। वह उसे जूतों से पीटती भी है।

नोहरी सिलिया के बिलकुल विपरीत प्रकृति वाली स्त्री पात्र है। उसकी तुलना मीनाक्षी से की जा सकती है, जो पति पर शासन करने के लिये आतुर है, यद्यपि उसमें स्वयं चारित्रिक दुर्बलतायें हैं।

सोना और रूपा

प्रेमचन्द जी ने इन दो बहनों की सृष्टि करके बालसुलभ सरलता एवं चपलता की रसधारा बहाई है। वे छुटपन में गाय के लिये आतुर रहती हैं, उसकी कितनी सेवा करती हैं। अपने भाई गोबर से लड़ती झगड़ती हैं। रूपा तो सिलिया के बच्चे को भी दुलारती है। ब्याह जाने पर सोना की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप स्त्री का परपुरुष से सम्बन्ध है। इसके लिये वह अपने पति को भी क्षमा नहीं कर पाती। रूपा तो अधेड़ से ब्याही जाने पर भी अल्हड़ रही है। वह अपने यौवन में मस्त रहने वाली, अपने बनाव-सिंगार से ही खुश रहने वाली है। उसे गाय की याद ससुराल में भी आती है। वे दोनों ही बहनें अपने माँ बाप की निर्धनता के कारण गड्ढे में गिरकर भी उफ नहीं करतीं।

चूहिया तथा कलूटो

चूहिया का नाम मोटल्ली भी है। उसका पति एक्का हाँकता था और वह खुद लकड़ी की दूकान करती। दोहरी देह, काली कलूटी कुरूपा, बड़े स्तनो वाली किन्तु हृदय दया से ओतप्रोत। झुनिया के प्रसव काल में उसकी सहायक बनती है और उसके दूध न होने पर अपना दूध पिलाकर बच्चे के प्राण बचाती है। शहर के विपदाग्रस्त झुनिया के लिये वह वरदान सिद्ध होती है।

कलूटी जङ्गली लड़की है, जिससे मालती तथा मेहता का परिचय नदी में बहती हुई चिड़िया को पकड़ कर बाहर लाने के अवसर पर होता है। मालती के अनुसार—उसके वक्षों में उभार है, नितम्बों में भारीपन। और मेहता तो उसके गठीले बदन को देखकर कुछ क्षण के लिये मूछित हो जाते हैं। लेकिन कलूटी बेफिक्र है। वह तो प्रकृति की बेटी है। प्राकृतिक सुषमा कोई भी देखे !

मिसेज खन्ना

इनका नाम कामिनी या गोविन्दी भी है। ये पूँजीपति मिस्टर खन्ना की पत्नी हैं। गेहुंआ रङ्ग, लज्जाशील आँखें, अङ्ग-विन्यास सुडौल। घर-गृहस्थी में व्यस्त रहने के कारण इन्हें ऐश्वर्य भोग का अवसर ह नहीं मिल पाता। ये पढ़ी-लिखी हैं। कविता का भी शौक है। प्रेम और निष्ठा से पति-सेवा करती हैं, लेकिन पति धनाढ्यों के सभी गुणों से युक्त है—शराबी है एवं वेश्याओं के अनुरक्त। ये अपनी ऐसी पत्नी को पीट भी देते हैं। खन्ना कहीं भी दिल फेंकते रहते हैं। डाक्टर मालती के प्रति उनकी विशेष रुझान रहती है, मिसेज खन्ना को मालती से चिढ़ है। उनकी पारिवारिक अशान्ति का कारण यही मालती है।

वह मालती से विरोधी प्रकृति की, प्राचीन आदर्शों पर चलने वाली, सेवा और त्याग की मूर्ति, भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। पति की ताड़नायें सहकर भी निराशा और दुःख से ग्रस्त होने पर पति को सब प्रकार से सहायता करती है। मिस्टर मेहता को उसके गुणों की पहचान है, तभी तो वह उसे देवी की प्रतिमा कहते हैं। पति की उपेक्षा के कारण मिसेज खन्ना में सम्मान की भूख समाई हुई है। वे व्यायाम-शाला का उद्घाटन करना इसीलिये स्वीकार कर लेती हैं। मालती को मजा आता है इसे चिढ़ाने में, लेकिन अन्त में जब मिस्टर खन्ना की मिल जल जाती है, तो मालती रात भर खन्ना का उपचार करती हैं—शायद नीचा दिखाने के बाद हमदर्दी का गुण शहरी विरासत है मालती की या कि उच्च शिक्षा प्राप्त आधुकिक नारी की अनिश्चित प्रकृति की।

मालती

यह दलाली करने वाले मिस्टर कौल की तीन पुत्रियों में से एक, नई सभ्यता में पली रमणियों का प्रतिदिन का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री

पात्र हैं। इनकी बुद्धि तेज है, ये इंगलैंड से डाक्टरी पढ़कर आई हैं और बीसवीं शती की योरोपीय सभ्यता की पुतली हैं। इनका सम्बन्ध डाक्टर मेहता से भी है और मिस्टर खन्ना से भी। वैसे डा० मेहता के सम्पर्क में आकर उन्होंने त्याग और सेवा सीखी है। लेकिन मिस्टर खन्ना के हृदय में वह अपने 'तितली रूप' से घर करके मिसेज खन्ना के लिये उत्पीड़न और ईर्ष्या का कारण बनती हैं। वे आदर्श पत्नी मिसेज़ खन्ना के लिये सिरदर्द बन जाती हैं, मिस्टर खन्ना पर छा जाना चाहती हैं। उधर डा० मेहता के भी इतनी निकट दिखती हैं कि सबों को लगता है कि उनकी पत्नी होकर रहेंगी, किन्तु बाद में मिस्टर खन्ना की सेवा करती और झुनिया के लड़के को चुमकारती दिखाई देती हैं।

प्रेमचन्द जी ने मालती को बाहर से 'तितली' और भीतर से 'मधु-मक्खी' कहा है। शायद मध्यम वर्ग की जिन दो स्त्री पात्रों के पूरे चित्र प्रेमचन्द जी ने खींचे हैं (गोदान में), उनमें मिसेज खन्ना तथा मालती प्रमुख हैं।

मीनाक्षी तथा सरोज

मीनाक्षी रायसाहब की लड़की है और सरोज उनके पुत्र रुद्रपाल की पत्नी या उनकी बहू है। यह बहू और कोई नहीं मालती की बहन है, जो बी० ए० की छात्रा है। रायसाहब कभी नहीं चाहते थे कि उनका पुत्र यह शादी करे, किन्तु पुत्र ऐसा कुपुत्र निकला कि पिता की सभी आशाओं पर पानी फेर दिया। इस विवाह को कराने के लिए ही सम्भवतः मालती रायसाहब को चमत्कृत किये रहती थी। रायसाहब ने बड़े ही मनोयोग से पुत्र तथा पुत्री को पाल-पोसकर शिक्षित किया था। लेकिन ?

लेकिन मीनाक्षी प्रारम्भ में बेजबान दिखाई गई है। वह ऐसे ऐयाश से ब्याही गई जो शराबी था, नीचों की सोहबत में रहने वाला। फलतः मीनाक्षी उसे अन्तःकरण से पति का सम्मान नहीं दे पाती। वेश्या के साथ पाकर वह पति को हंटर से पीटती है और तबसे पति-पत्नी एक दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं।

मध्यवर्ग के सुशिक्षित स्त्री पात्रों में सम्भवतः सबसे घृणित चरित्र मीनाक्षी का ही है। यह सिलिया की तुलना में गिरी हुई स्त्री है। यदि कोई इससे तुलनीय है, तो वह नोहरी है।

इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने 'गोदान' में स्त्री पात्रों के अनेक 'टाइपों' को चुनकर रखा है। कुल मिलकार ग्रामीण स्त्री पात्र अधिक संघर्षशील एवं कर्मठ हैं। वे जीवन-संग्राम में जूझते रहने का साहस रखती हैं। इनके विपरीत शहरी स्त्रियाँ निश्चेष्ट रहती हैं, ऊपरी तड़क-भड़क तथा मनोवैज्ञानिक युक्तियों के सहारे अपना काम निकालने में पटु हैं। सरोज, मीनाक्षी तथा मालती जैसे पात्र तो आधुनिक शहरों की उपज हैं, लेकिन गोविन्दी जैसी पुरातनी स्त्रियाँ तो धनिया की ही प्रतिरूप कही जायेंगी। धनिया तो हर ग्राम में मिल सकती है, किन्तु आज सैकड़ों शहरों में एक गोविन्दी मिलेगी। नारी आदर्शों में बहुत परिवर्त्तन हो चुका है। फलतः 'गोदान' के स्त्री पात्र आज के ग्रामीण या शहरी समाज का सही सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पायेंगे। ४४ वर्ष पूर्व का सामाज काफी परिवर्तित हो गया है। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद समाज से विषमतायें हटी हैं, बिचौलियों एवं महाजनों का सफाया हुआ है और गाँव में विद्या का प्रचार बढ़ा है। कृषक सभ्यता में परिवर्तन हुआ है, यही नहीं वैवाहिक बन्धन भी ढीले हुये हैं।

किन्तु मनुष्य का मन अब भी उसके साथ है। उसकी महत्त्वाकांक्षायें बढ़ी हैं, जिनपर काबू कर पाना सहज सम्भव नहीं। वह आज अपने स्वार्थ के आगे सभी प्रकार के आदर्शों की बलि करने को तैयार है।

●

निर्देश

१. प्रेमचन्द : सम्पादक डा०सत्येन्द्र : राधाकमल प्रकाशन १९७६, पृ० १०६

२. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही : अमृतराय , पृ० ४३१ , २७—३०

३. गोदान गवेषणा ,पृ० ९८

—२५ अशोकनगर, इलाहाबाद-१

प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में क्रांतिकारी नारीपात्र

डॉ० प्रेम भटनागर

समाज को अपनी कला और कृतित्व का मूल आधार बताने वाले निम्न एवं मध्यवर्ग की समस्याओं तथा अनुभूतियों का चित्रण करने वाले तथा मानव को उसकी समस्त दुर्बलताओं व सबलताओं के साथ चित्रित करने वाले यशस्वी कथाकार प्रेमचन्द साधारणतया सुधारवादी सामाजिक उपन्यासकार के रूप में स्मरण किये जाते हैं। सामाजिकता की प्रधानता होने के कारण इनकी रचनायें मानव-सत्य को उसकी समग्रता में ग्रहण करती हुई नैतिक, आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं वैयक्तिक प्रश्नों को उठाकर नये मूल्यों को स्थापित करती हैं। उनकी दृष्टि गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की ओर न जाकर जीर्ण-तीर्ण झुग्गी-झोपड़ियों की ओर गई, जहाँ पुआलों पर सिसकती-धधकती करोड़ों भारतीय आत्माओं ने कथाकार को अनुभूति प्रदान कर विद्रोह के स्वर में गूँजने वाले कतिपय पात्रों के सृजन की प्रेरणा दी। तभी तो लोकमंगल की पावन भावना से अभिभूत लेखक चिरशोषित वर्ग के स्वर में स्वर मिला अपनी क्रान्तिधारा को प्रवाहित करता हुआ लिखता है—"जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।"[1] प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य इस सिद्धान्त का ज्वलन्त प्रमाण है। उन्होंने अपने उपन्यासों में निम्न एवं मध्य वर्ग की समस्याओं का यथार्थ चित्र खींचा है।

क्रान्ति का शंखनाद सबसे पहले प्रेमचन्द के पात्रों ने प्रस्तुत किया। इनके उपन्यासों में सभी प्रकार के पात्र मिलते हैं। परम्परागत रूढ़ियों के पोषक समाज एवं धर्मभीरु पात्र भी हैं, तो समाजद्रोही, रूढ़ि-विरोधी, क्रान्तिकारी, व्यक्तिवादी तत्त्वों के अन्वेषक, वैयक्तिक उद्भावनाओं के

---

१. कुछ विचार, पृष्ठ ६

उद्घोषक, जीवन में नवीन मूल्यों के संस्थापक, वीर, साहसी जनोद्-बोधक चरित्र भी इनकी देन हैं। आपके नारी पात्र भी दो प्रकार हैं, एक वे जो पत्नी, माता या पुत्री किसी भी रूप में पुरुष को अपने से श्रेष्ठ मानकर उसकी अनुचरी बन जीवन यापन करते हैं, दूसरे वे जो पुरुष प्रचालित सामाजिक मान्यताओं को ज्यों का-त्यों मानने को तैयार नहीं, बल्कि उनके अनैतिक, असामाजिक एवं आर्थिक प्रतिद्वन्द्वों के प्रति प्रतिकार की भावनायें जोर-शोर से गुंजायमान करते हैं। दूसरी कोटि में आने वाले नारी पात्र पुरुष वर्ग के शोषण एवं क्रूर अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर क्षण-क्षण घुल-घुलकर जीने व मरणासन्न होने की बजाय अपने प्रति किये गये अत्याचारों का खुलकर विरोध करते दृष्टिगोचर होते हैं। अपनी विद्रोहात्मक भावनाओं को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करने के कारण ही ये क्रान्तिकारी नारी पात्र बने हैं।

प्रस्तुत लेख में प्रेमचन्द के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी नारी पात्रों से पाठक का परिचय कराकर उनकी क्रान्ति-क्षमता का मूल्यांकन करना ही मेरा छोटा-सा प्रयास है। सन् १८५७ की भारतीय क्रान्ति, १९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की राजनैतिक चेतना, ईसाई मिशनरियों का प्रसार, जमींदारी का फैलाव, बंग-भंग, तिलक की विचारणा और १९१९ के व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन ने इससे पूर्व १९०७ की नई सामाजिक चेतना के मुताबिक विधवा विवाह के पक्षधरों द्वारा बाल-विधवा के विवाह की वकालत आदि कुछ ऐसे प्रसंग थे, जिन्होंने मुंशी प्रेमचन्द के मन में विद्रोह के बीज बो दिये थे। इस विद्रोही भावना को उन्होंने जहाँ १९०९ में बाल-विधवा शिवरानी देवी से विवाह करके साकार रूप दिया, इसे वे साहित्यिक कल्पना में १९०४ में अपने उपन्यास 'प्रेमा' में स्वर दे चुके थे। विधवा विवाह के अतिरिक्त प्रेम-विवाह, सलील-स्वच्छन्द यौन-संबंध दहेज आदि विषयों पर भी जहाँ एक ओर अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द ने स्वयं टिप्पणियाँ दी हैं, वहाँ दूसरी ओर इनके क्रांतिकारी पात्र भी मुक्त कंठ से इन विषयों पर अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। प्रश्न है—प्रेमचन्द ने क्रांतिकारी नारी पात्रों की परिकल्पना क्यों की? उत्तर सहज है। प्रेमचन्द युगद्रष्टा एवं युगस्रष्टा दोनों थे। उन्होंने अपने समय

में नारी शोषण का रूप स्वयं देखा था। वह युग, जिसमें नारी का सहज जीवन-यापन की सुविधा तो दूर, उसे ईश्वरीय सृष्टि का अभिशाप मानकर दण्डित किया जाता था। विधुर पुरुष बुढ़ापे में विवाह मंडप पर सिर ऊँचा कर बैठता था, विधवा नारी को इस मंडप की छवि देखने का भी अधिकार न था। विवाह के नाम पर पुरुष लाखों का दहेज सहेजता था और नारी बलिदान की बकरी बनती थी। पुरुष और समाज रथ के दो पहिये और दोनों के लिए दो प्रकार के मानदण्ड, इसी विडम्बना पर एक आलोचक लिखती हैं—"प्रेमचन्द युगीन समाज में नैतिकता का दोहरा मानदण्ड प्रचलित था। जिन कार्यों के लिये पुरुष की कोई आलोचना नहीं होती थी, उन्हीं के कारण नारी पतिता और कुलटा समझी जाती थी। नारी और पुरुष की इस सामाजिक स्थिति के वैषम्य तथा उसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न नारी-जीवन की समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपनी गहन सामाजिक दृष्टि से परखा था। नारी-जीवन की समस्यायें प्रेमचन्द के सम्मुख कितनी तीव्रता से विद्यमान थीं, इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों—प्रेमा, 'वरदान, सेवानदन आदि का केन्द्रबिन्दु नारी-जीवन और उसकी समस्यायें ही हैं।"[1] यह टिप्पणी सही है, नारी शोषण की समस्या ने उन्हें सदैव उद्वेलित रखा और इन उपन्यासों में तो उन्होंने मूल रूप से विद्रोही नारी पात्रों की सृष्टि की है, आगे आने वाले उपन्यासों में भी सशक्त क्रान्तिकारी नारी पात्र प्रस्तुत किये। अब हम उनके उपन्यास साहित्य के कतिपय सशक्त नारी पात्रों का चरित्र विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

पूर्णा

पूर्णा प्रेमचन्द के प्रथम उपन्यास 'प्रेमा' की नायिका है, जो भारतीय विधवा की प्रतिनिधि है। पूर्णा विवाह के मात्र दो वर्ष पश्चात् विधवा हो जाती है। जीवन की विडम्बना देखिये कि न तो पिहर में उसका निकट संबंधी जीवित है, न ससुराल में कोई नजदीकी रिश्तेदार नजर आता है। वह जिये तो कैसे जिये ? जाये तो कहाँ जाये ? वैधव्य से अभिशप्त उसका जीवन एक ओर है कमला प्रसाद की गिद्ध-दृष्टि दूसरी ओर, जो उसे

१. डाँ० रक्षापुरी, प्रेमचन्द साहित्य में व्यक्ति और समाज—पृष्ठ ११६

सम्पूर्ण रूप से निगल जाने को आतुर है। अपनी कामाग्नि शान्त करने हेतु जब कमला प्रसाद प्रेम का स्वांग रचाता है, तब एक बार तो पूर्णा का सतीत्व डगमगा जाता है। उसके सामने दो प्रमुख समस्यायें हैं—एक उसके अस्तित्व की, दूसरे संरक्षण की—प्रेमपूर्ण संरक्षण की। वह जानती है कि कमला प्रसाद उसके आश्रयदाता लाला बदरी प्रसाद का लाडला पुत्र है, उसे निराश कर अपने जीवन अस्तित्व का खतरा मोल लेना है, परन्तु वह यह भी जानती है कि कमला प्रसाद सुमित्रा का पति है, विवाहित है, उसका प्रेम उसे सरस संरक्षण प्रदान नहीं कर सकता, कारण, यह सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध है। यही विचार-मंथन जहाँ एक ओर उसकी समस्त आशाओं तथा आकांक्षाओं पर तुषारापात करता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें वज्र-सम कठोरता एवं दृढ़ता का संचार भी करता है। अन्ततः वह पूर्ण क्रान्तिकारी बन, नागिन रूप धारण कर उसे घायल व मूछित अवस्था में पहुँचा कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है।

पूर्णा-अमृतराय प्रेम जहाँ कथा को एक मोड़ देता है, वहाँ प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि का भी परिचायक है। प्रेमचन्द विधवा-विवाह के समर्थक थे। उन्होंने स्वयं शिवरानी देवी से विवाह कर अपने क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन का परिचय समाज को दिया था। 'प्रेमा' उपन्यास में पूर्णा-अमृत प्रेम-विवाह आदर्श की स्थापना है। पूर्णा का एक साहसिक व क्रान्तिकारी कदम है। इस विषय में एक आलोचक का यह कथन उचित ही है—'प्रेमचन्द ने इन समस्त बाधाओं के रहते हुए प्रेमा और अमृतराय जैसे सत्पात्रों की सृष्टि द्वारा समाज को गति देने का प्रयास किया है। उन्होंने स्वयं जो विधवा-विवाह किया, वह इस समाधान में उनकी आस्था का सजीव प्रमाण है। यद्यपि वैयक्तिक समाधान नारी की पराधीनता की समस्या के सुलझाव का अमोघ अस्त्र नहीं है, तथापि सामाजिक दृष्टिकोण से तत्कालीन युग में यह एक क्रान्तिकारी पग था।'[1]

सुमन

'सेवासदन' की नायिका सुमन प्रेमचन्द की दूसरी क्रांतिकारी नारी पात्र है। परिस्थितियों, चरित्रों तथा घटनाओं का घात-प्रतिघात प्रेमचन्द

---

१. सुषमा धवन—हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २१

के औपन्यासिक शिल्प का उच्चतम सोपान है। इन्हीं घात-प्रतिघातों में निखरती हुई नायिका सुमन न केवल 'सेवासदन' में अपितु पाठक एवं आलोचक के मन में स्थायी स्थान प्राप्त कर शाश्वतता प्राप्त करने में सफल होती है। 'सेवासदन' की भोली वेश्या समाज की प्रतीक है, किन्तु सुमन वेश्योन्मुखी वर्ग की प्रतिनिधि है। दोनों में ही नारी-स्वातंत्र्य की अग्नि समान रूप से धधक रही है। भोली उसकी प्रेरक है। यहाँ एक प्रमुख प्रश्न उत्पन्न होता है। सुमन वेश्योन्मुखी क्यों कही गई तथा भोली वेश्या किस लिये मानी गई ? बात यह है कि भोली जन्म जात वेश्या है। भोली का काम है, नित नवीन रूप धारण कर समाज को रिझाना तथा सुमन के सम्मुख वेश्या समाज की एक आकर्षक तसवीर प्रस्तुत करना। यह भी सोद्देश्य है। यह उसकी हीन भावना का उदात्तीकरण है कि हम भी किसी से कम नहीं, समाज में हमारी पूजा है, मन्दिर के पुजारी भी हमारे आगे नतमस्तक हैं, राजनेता भी हमारी अर्चना करते हैं। यही चित्र जहाँ एक ओर सुमन का मन डावाँडोल कर देता है, वहाँ एक छोटी-सी घटना सुमन को सुखद एवं अखण्ड दाम्पत्य के राजपथ से हटाकर दुःखद एवं खण्डित दाम्पत्य के कँटीले मार्ग पर से ले जाती हुई वेश्यालय की कीच में ला पटकती है। वह सुमन से सुमनबाई बन गई। भोली ने ही उसे नारी स्वतन्त्रता का मन्त्र पढ़ाया और कहा कि हम भेड़ बकरी नहीं हैं।

सुमन एक शशक्त विद्रोही नारी है। उसका चारित्रिक पतन क्षणिक सिद्ध होता है। हृदय से वह पवित्र है। एक निम्न मध्यवर्गीय भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। सोलह वर्षीय सुमन तीस वर्षीय गजाधर से केवल इसलिये ब्याह दी गई कि उसके पिता दारोगा कृष्णचन्द्र ईमानदारी की कमाई द्वारा उसके दहेज का प्रबन्ध करने में असमर्थ रहे और रिश्वत लेने पर जेल की हवा खाई तो परिणाम बेचारी किशोरी सुमन भोगती है और पुरुष रूप में गजाधर का रूप ? एक शंकालु, अहंवादी नर का ही प्रतीक है, जो समस्त घटना का विश्लेषण किये बिना सुमन को सुमनबाई बना डालता है। घर से बाहर पैर रखते ही सुमन का विद्रोही मन सामने आता है। वह मन से कभी वेश्या नहीं बनी। उसने अपने से दुगनी आयु के पति को भी परमेश्वर मानकर सम्मानपूर्वक जीना

चाहा, किन्तु निराश्रिता होते ही यह निष्कर्ष निकाला कि पुरुष की अहंवादिता का प्रतिकार होना ही चाहिये, फिर चाहे वह वेश्या बनकर लिया जाये। वह व्रत-नियम आदि सभी से घृणा करने लगती है और विद्रोह पर उतर आती है।

सुमन एक पतनोन्मुखी नारी अवश्य है, किन्तु पतिता उसे कदापि नहीं कहा जा सकता। वेश्यालय में पहुँच कर उसे नये अनुभव प्राप्त होते हैं। यथा—"सुमन को यद्यपि यहाँ भोग-विलास के सभी समान प्राप्त थे, लेकिन बहुधा उसे ऐसे मनुष्यों की आवभगत करनी पड़ती थी, जिनकी सूरत से उसे घृणा होती थी, जिनकी बातों को सुनकर उसका जी मिचलाने लगता था। अभी उसके मन में उत्तम भावों का सर्वथा लोप नहीं हुआ था।"[१] यह सिद्ध करता है कि सुमन जीवन की अनेक सरणियों को चढ़ते हुए, गिरती है, फिर ऊपर उठती है और न केवल स्वयं उठती है, अपितु वह अपनी दूरगामी दृष्टि के द्वारा अन्य पतिताओं का उत्थान भी करती है। वह पं० पद्म सिंह के चार-पाँच साल के अथक परिश्रम व सद्प्रयत्नों की सहधर्मी बन 'सेवासदन' की लगभग १०० वेश्या बालिकाओं को अपने सुयोग्य निर्देशन एवं क्रान्तिदृष्टि की किरण द्वारा सन्मार्ग पर लौटा लाती है। जहाँ 'प्रेमा' की पूर्णा विधवा विवाह द्वारा क्रांति की जीवनदृष्टि देती है, वहाँ 'सेवासदन' की सुमन वेश्याओं के विधिवत् विवाह की रीति की स्थापना कर महान् क्रांति के जीवन-दर्शन की मशाल जलाती है। सुमन इस अर्थ में भी क्रान्तिदर्शी है कि वेश्यालय में रहकर भी वेश्या का एक भी अवगुण नहीं ओढ़ती, न वह रूपगर्विता बनी, न अर्थ पिपासु, न दुःश्चरित्रा, न भोग-लिप्सु, एक अदद कमल की तरह खिली रही—निष्कलंक-अति पावन। उसमें इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज के पंछी' के वेश्यालय 'मिस साइमन' की अमला, जुलेखा, कोई भी तो नहीं, हाँ शरत् की नायिका की सुगन्ध अवश्य है।

सुमन का चरित्र एक विद्रोही नारी की क्षमता, साहसिकता एवं अतीव पराक्रम का प्रतीक है। भारतीय समाज में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रश्न, उसके स्वावलम्बी बनकर एकाकी रूप में समाज

---

१. सेवासदन, पृ० १११

में स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना का प्रश्न प्रेमचन्द युगीन समाज के लिए एक प्रश्न-चिह्न के रूप में आता है। प्रेमचन्द युगीन नारी दब्बू, पति-परायण एवं सतीत्वपरायण नारी थी, किन्तु 'सेवासदन' की सुमन विद्रोही, पतिद्रोही, सतीत्व के नये मानदण्ड प्रस्तुत करने वाली पात्र है। काजल की कोठरी में आकर भी वह अपने सतीत्व की रक्षा करती है। गजाधर के जीवित रहते भी सदन से प्रेम करती है, पर यह प्रेम भी वासना-प्रधान नहीं है, सुमन कहीं भी अन्य किसी व्यक्ति को अपनी छाया तक छूने नहीं देती, परन्तु मन की दुर्बलतावश सदन के प्रति सर्मापिता बनती है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसकी दुर्गति का दायित्व किस पर ? उसकी दुर्गति का मात्र कारण न तो पद्म सिंह ही हैं और न गजाधर। अनेक कारण हैं, जिनमें गजाधर-सुमन दाम्पत्य की घुटन एवं संत्रास, भोली बाई वेश्या का सामाजिक परिवेश, वकील पद्म सिंह की कायरता, समाज सुधारक विट्ठल दास की ईर्ष्या तथा स्वयं सुमन की मानसिक स्थिति, ये सभी सुमन को पतन के मार्ग का अन्वेषी बनाते हैं। सुमन एक आत्मद्रोही नारी पात्र है, एक आत्मान्वेषक चरित्र है। उसने अपने नारी रूप का सभी दृष्टियों से सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आश्रम में शान्ता के साथ भेंट के समय स्पष्ट स्वीकार करते हुए कह देती है कि तू अपने निर्मल स्वच्छ मन को मेरे वासनाओं, लालसाओं एवं दुष्कामनाओं वाले हृदय के पास न ला। उसके ये शब्द पाठक को झकझोर देते हैं। सुमन का विद्रोही रूप किसी समाजशास्त्रीय अध्ययन या राजनैतिक मंच से अवतरित रूप नहीं, वह तो उसके हृदय की पुकार, उसकी मर्मान्तिक आहों और सिसकियों से उपजा विद्रोह है, जो उसे पतित होते हुए भी पतिता नहीं बनने देता, उसके मन की समस्त कलुषता धोकर उसे निर्मल बना देता है।

रंगीलीबाई

प्रेमचन्द का एक करुणा प्रधान लघु उपन्यास है—'निर्मला'। इसमें प्रेमचन्द ने अनमेल विवाह की विसंगतियों एवं विडम्बनाओं की कथा कही है, जिसे व्यंग्यात्मक शैली में कथाकार ने र्वणित किया है। जहाँ प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में चिरशोषिता नारी समाज की प्रतीक के रूप में आहों और सिसकियों से धधकती अग्नि के रूप में निर्मला को पाठक के सामने प्रस्तुत किया, वहीं एक क्रान्तिदर्शी नारी पात्र रंगीलीबाई को

भी सामने रखा है। रंगीली-भालचन्द दाम्पत्य-जीवन की विलासिता एवं वैभव का प्रतीक है, किन्तु क्रान्तिमयी रंगीली को यह विलासिता रास नहीं आती। वह पूर्णरूप से परम्परावादी पति-भक्त नारी नहीं है, अपितु लीक से हटी पति की आलोचक क्रान्तद्रष्टा स्त्री है। जब उसके पति बाबू भालचन्द निर्मला की सगाई उसके पुत्र भुवन से तोड़ देते हैं, तब वह उनकी धन लोलुपता को नंगे रूप में पाठक के सामने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है। अपने पति को व्यंग्य बाण द्वारा दुतकारते हुये उसने कहा—"क्यों जी, तुम मुझसे भी उड़ते हो, दाई से पेट छिपाते हो, मैं तुम्हारी बातें मान जाती हूँ, तो तुम समझते हो इसे चकमा दे दिया। मगर मैं तुम्हारी नग-नग पहचानती हूँ····जब वकील साहब जीते थे, तो तुमने सोचा था कि ठहराव की जरूरत ही क्या है, वह खुद ही जितना उचित समझेंगे, देंगे, बल्कि बिना ठहराव के और ज्यादा मिलने की आशा होगी। अब जो वकील साहब का देहान्त हो गया तो तरह-तरह के हीले-हवाले करने लगे। यह भलमानसी नहीं छोटापन है।"[1] रंगीली द्वारा अपने पति की आलोचना करने की यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द युगीन नारी समाज की प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाती। यह उसके अपने पति पर व्यंग्य नहीं हैं, पुरुष प्रवृत्ति पर व्यंग्याघात है, जिसमें समस्त पुरुष समाज के दोहरे जीवन-मूल्यों का पर्दाफाश किया गया है, जो नई परिस्थिति, परिवेश और पात्र देखकर गिरगिट की भांति रंग बदल लेता है। 'सेवासदन' और 'निर्मला' की क्रान्तिदर्शी इन नारी पात्रों द्वारा पुरुष के बर्बर रूप का उद्घाटन, प्रौढ़ पुरुषों के चंगुल में नवयौवना-पत्नियों की सिसकियों का विश्लेषण प्रेमचन्द की क्रांतिसृजक कलम का ही चमत्कार कहा जायेगा।

गायत्री

'प्रेमाश्रम' की एक क्रांतिपात्र 'गायत्री' है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने भारतीय ग्रामीण जीवन के अंधकारपक्ष का महाकाव्य तैयार किया है। इसमें प्रभाशंकर और ताराशंकर को दो अन्य-अन्य विचार-धाराओं के जमींदार वर्गों का प्रतिनिधि बनाकर सामंती और महाजनी सभ्यता

---

१. निर्मला, पृष्ठ १७

की दम तोड़ती तसवीर खिंची है। इस संबंध में एक आलोचक कहते हैं—"किसानों के शोषण का भयङ्कर रूप प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में दिखाया है। जबतक किसान वर्ग जमींदारों के चंगुल से मुक्त नहीं हो जाता, तबतक उनकी समस्यायें सुलझ नहीं सकतीं। जमींदारों और सरकारी अफ़सरों व कर्मचारियों के द्वारा शोषित किसान के अनेक चित्र प्रेमचन्द ने चित्रित किये हैं।[1] 'प्रेमाश्रम' में गांधीवादी काल्पनिक क्रान्ति है—इसलिये किसी सशक्त क्रान्तिदर्शी नारी पात्र की सर्जना प्रेमचन्द इस उपन्यास में नहीं कर पाये। हाँ, एक पात्र गायत्री अवश्य हमें नजर आती है, जो वैधव्य की विभीषिका से त्रस्त होकर समाज के द्वारा लगाये गये नैतिक प्रतिबंधों का खुलकर विरोध करना चाहती है, पर कर नहीं पाती। बौद्धिक स्तर पर वह परम्परावादी स्वर में कहती है—जिस पुरुष के साथ विवाह हो गया, उसके साथ निर्वाह करना प्रत्येक कर्मनिष्ठ नारी का धर्म है—विवाह स्त्री-पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्मायें एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।'[2] किन्तु भावात्मक स्तर पर गायत्री एक प्रवंचक नारी बन जाती है, उसकी वासना विकृत रूप धारण कर लेती है। वह प्रतिदिन ज्ञानशंकर के साथ हास-विलास करती है, प्रेम-वार्ता करती है, उसकी नैतिक अवमानना के क्रान्तिकारी रूप के संबंध में प्रेमचन्द ने टिप्पणी की है कि भक्ति की आड़ में वह आत्मविस्मृति की दशा में मग्न हो गई थी। वह अचेत-सी हो गई थी। उसे लेश मात्र भी अनुमान न होता था कि यह भक्ति उसे वासना की ओर खींचे लिये जाती थी। वह इस प्रेम के नशे में कितनी ही ऐसी बातें करती थी और कितनी ही ऐसी बातें सुनती थी, जिन्हें सुनकर वह पहले कानों पर हाथ रख लेती, जो पहले मन में आती तो आत्मघात कर लेती, परन्तु अब वह गोपिका थी, वह सदानुराग की साक्षात् प्रतिमा थी। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर गायत्री में क्रान्तिदर्शिता की अपेक्षा स्वेच्छाचारिता ही अधिक उपलब्ध होती है। इसीलिये जब प्रेम के क्षेत्र में क्रान्ति का पग उठाकर अपने जीजा ज्ञानशंकर की ओर चंचल चितवनों से ताकती तथा उन्हें प्रेम-पत्र लिखती, तब

---

१. डॉ० महेन्द्र भटनागर—समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० १३२

२. प्रेमाश्रम पृ० २६४

उसके पिता रायसाहब कमलानन्द ने भी इसका विरोध किया। इस पर वह पिता का खुला विरोध कर कहती है कि प्रेम का संबंध केवल दो हृदयों से है, किसी तीसरे प्राणी को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। प्रेमचन्द ने इस नारी पात्र के माध्यम से उपन्यास में विवाह, प्रेम, परकीया-प्रेम, स्वकीया-प्रेम, वैधव्य, विधवा-प्रेम आदि शाश्वत समस्याओं पर विचार किया है तथा गायत्री के रूप में एक ऐसे नारी पात्र का सृजन किया है जो लीक पर नहीं चली।

इन्दु

इन्दु 'रंगभूमि' की एक सशक्त क्रान्तिकारी नारी पात्र है और 'रंगभूमि' प्रेमचन्द का ही नहीं, हिन्दी साहित्यका प्रथम राजनैतिक उपन्यास है। इस दृष्टि से इन्दु का राजनीतिक चेतना से ओत-प्रोत होना स्वाभाविक ही है। उसका भाई विनय देश-सेवा हेतु एक सेवासमिति गठित करता है, इन्दु इस समिति के प्रति समर्पित है। भारत में अंग्रेजों के शासन में बढ़ रहे अत्याचारों का वह खुलकर विरोध करती है। जब जिलाधीश मिस्टर क्लार्क के प्रभाव में आकर उसके पति महेन्द्रकुमार भिखारी सूरदास की छोटी-सी भूमि हथिया लेना चाहते हैं और उसे जानसेवक को दिलाने में सहयोग देते हैं, तब वह पति-विद्रोही बन स्पष्ट शब्दों में कहती है—' केवल अधिकारियों के भय से या बदनामी से बचने के लिये न्यायपथ से मुँह फेरना अत्यन्त अपमानजनक है। आपको नगर-वासियों और विशेषतः दीनजनों के स्वत्व की रक्षा करनी चाहिये। अगर हुक्काम किसी पर अत्याचार करें, तो आपको उचित है कि दुखियों की हिमायत करें। निजी हानि-लाभ की चिन्ता न करके हुक्काम का विरोध करें........ चाहे इसके लिये पदत्याग ही नहीं, किसी बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़े।' [१] इन्दु को पति का यह रूप स्वीकार्य नहीं। इसलिये दोनों का दाम्पत्य जीवन भी मधुर नहीं बन पाता। इन्दु टूट तो सकती है, झुक नहीं सकती। वह पति की नैतिक-अनैतिक हर कार्यवाही का समर्थन करने को तैयार नहीं है। वह एक शिक्षित जागरूक नारी-पात्र है, अपने अधिकारों, परिवेश तथा राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति सचेत है।

१. रंगभूमि, पृ० १७४

सोफिया

'रंगभूमि' की सोफिया भी राजनैतिक-चेतना-सम्पन्न क्रान्तिदर्शी नारी है। वह विनय से इस कारण प्रेम करती है कि वह राष्ट्रभक्त है, उसके विचार भी उदार कोटि की राष्ट्रीयता से परिपूर्ण हैं। जब विनय परिस्थितिवश रियासत की प्रजा का शोषण करने को आतुर हो जाता है, तब सोफिया की क्रान्तिकारी आत्मा फूत्कार उठती है, वह जोरदार शब्दों में विनय की भर्त्सना करती है।

राष्ट्र, धर्म, ईश्वर और समाज के संबंध में सोफिया के विचारों को क्रान्तिकारी कहा जायेगा। प्रभुसेवक से वार्ता करते हुये वह धर्म, ईश्वर और सम्प्रदाय की घोर भर्त्सना करती हुई कहती है—"मैं तुम से सत्य कहती हूँ, धर्म का रहा सहा महत्त्व भी मेरे दिल से उठ गया। मूर्खों को यह कहते हुये लज्जा नहीं आती कि मजहब खुदा की बरकत है। मैं कहती हूँ कि ईश्वरीय कोप है—दैवी वज्र है, जो मानव जातिके सर्वनाश के लिये अवतरित हुआ। इसी कोप के कारण मैं आज विष का घूंट पी रही हूँ।"[१]

सोफिया की क्रान्तिकारिता हिंसा, द्रोह तथा घात-प्रतिघात में परिणत न होकर आत्मोत्सर्ग की उच्च वेदी पर न्योछावर होती है। आत्म-दोहन एवं स्वपीड़न का उसका जीवन-दर्शन एक उच्चकोटि का क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन है, इसे वह उस समय वरण करती है, जब विनय की माता जाह्नवी के सम्पर्क में पूरी तरह आकर जान लेती है कि दोनों का प्रेम विवाह में परिणत होते ही साम्प्रदायिक सद्भाव नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अतः उसकी क्रान्तिदृष्टि नाश नहीं, निर्माण चाहती है और केवल आत्मोत्सर्ग द्वारा ही वह संभव होता है, जिसे वह हंसते हंसते स्वीकारती है। उसका आत्मदान उपन्यास की क्रान्तिकारी घटना है।

जालपा

आज 'गबन' की नायिका जालपा हिन्दी उपन्यास की सर्वाधिक विवादास्पद नारी पात्र बनती जा रही है। अभी तक प्रायः सभी आलो-

---

१. रंगभूमि, पृ० २०६

चकों ने मुक्तकण्ठ से उसे नारी के आभूषण-प्रेम का प्रतीक पात्र कहा है, किन्तु मेरी दृष्टि में जालपा भारतीय राजनैतिक मंच की जागरूक नेत्री है। जिस समय 'गबन' लिखा गया, देश भर में भारतीय स्वतन्त्रता का उद्‌घोष होने वाला था, एक ओर पूरे राष्ट्र में अंग्रेजों का शोषण, दमन-चक्र भयङ्कर रूप धारण कर चुका था, दूसरी ओर नेहरू ने रावीतट पर पूर्ण स्वतन्त्रता का बिगुल बजा दिया था, तीसरे समस्त राष्ट्र में नमक सत्याग्रह ने नई चेतना फूँक दी थी। आन्दोलन-काल में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जा रही थी, शराब की दुकानों पर धरने दिये जा रहे थे, नर और नारी समान रूप से इस युद्ध में कूद पड़े थे। ऐसे समय 'गबन' लिखा गया और इसकी नायिका है जालपा, फिर वह कैसे इस नवचेतना से अछूती रहती ?

जालपा का चरित्र एक गतिमय (Dynamic) उज्ज्वल चरित्र है। आरम्भ में वह प्रयाग के छोटे से गाँव में पली, लाड़ और प्यार के संस्कार में ढली, आभूषणप्रिय युवती के रूप में पाठक के सामने आती है। अपने पति रमानाथ के अनुरूप ही वह प्रदर्शनप्रिय भी है। अपनी निम्न मध्यम-वर्गीय आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ वह नारी समाज में अपनी झूठी प्रतिष्ठा स्थापित करती है, पर शीघ्र ही उसे इस जीवन की विषमताओं, विडम्ब-नाओं और सीमाओं का ज्ञान हो जाता है और वह एक बिजली के झटके के समान कलकत्ता पहुँचते ही विलासिता का जामा उतार फेंकती है। पति को गबन के धब्बे से बचाने के लिए जी जान की बाजी लगा देती है। अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का परिचय पाठक को वह उस समय देती है, जब दिनेश की फाँसी का समाचार उसे मिलता है और इसमें अपने पति के रंगे हाथ वह भाँप लेती है। वह सहिष्णुता, त्याग, सेवा की त्रिमूर्ति बन दिनेश को बचाने के लिए सब कुछ कर डालती है। जालपा बेझिझक पुलिस के क्रूर अत्याचारों को अनावृत करती जाती है। वह निर्भय बन रमानाथ को झूठी साक्षी देने से रोकती है, ताकि चौदह राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं पर से झूठे मुकदमे वापिस लिये जा सकें।

कलकत्ता पहुँचकर पुलिस के शिकंजे में आकर जालपा का पति जहाँ मध्यवर्गीय स्तर से ऊपर उठकर बुर्जुआ वर्ग की श्रेणी में बैठने का स्वप्न देखता है, वहाँ वह सर्वहारा वर्ग के स्वर में स्वर मिलाकर भारतीय

स्वतन्त्रता का जयनाद करने लगती है। वह समाज में समानता का स्वप्न देखती है। शोषण, भोग तथा आर्थिक विषमता उसे खाने को दौड़ती है। अंग्रेजों के शोषण के कुचक्र का उसने भयङ्करतम रूप देखा तथा जान हथेली पर रखकर उस जाल को काटने में सफल हुई, यही उसकी नव-चेतना का ज्वलन्त प्रमाण है। उसके सतत सेवाभाव, त्याग, बलिदान द्वारा ही रमानाथ के स्वार्थपूर्ण बुर्जुआ विचारधारा में परिवर्तन होता है और १४ निर्दोष व्यक्तियों के प्राण बचते हैं।

सुखदा

'कर्मभूमि' की सुखदा प्रेमचन्द का एक और सशक्त क्रान्तिकारी नारी चरित्र है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द वर्गसंघर्ष का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने में सफल हुए और इस धर्मयुद्ध का उद्‌घोष सबसे ऊँची आवाज में बुलन्द किया है—हमारी नायिका सुखदा ने। इस सम्बन्ध में एक आलोचक कहती हैं—"कर्मभूमि में पुरुष-समाज से अधिक नारी-समाज में राजनीतिक चेतना दिखाई देती है। सुखदा, नैना, कुन्ती, सकीना मध्यवर्गीय नारियाँ हैं, जो राजनीति में सक्रिय भाग लेती हैं। सुखदा मजदूरों तथा किसानों का नेतृत्व करती है। वह मजदूरों की सभा में मध्यवर्ग के स्वार्थी व्यक्तियों की आलोचना करती हुई कहती है कि मैंने पढ़े-लिखे स्वार्थियों को खूब देख लिया। अब मुझे मालूम हुआ कि ये लोग बातों के शेर हैं। मैं उन्हें दिखा दूँगी कि जिन गरीबों को तुम कुचलते आये हो वही अब साँप बन कर तुम्हारे पैरों में लिपट जायेंगे। सुखदा शान्तिकुमार के माध्यम से मध्यवर्ग के व्यक्तियों की आलोचना करती हुई उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करती है। इस प्रकार सुखदा के माध्यम से मध्यवर्ग की नारी की जागरूकता, कर्मठता, चारित्रिक दृढ़ता का लेखक ने विवेचन किया है।"[1]

वस्तुतः सुखदा इस उपन्यास की सर्वाधिक चर्चित क्रान्तिकारी नारी सिद्ध हो जाती है। ऐश्वर्य के क्रोड़ में पली सुखदा का दाम्पत्य-जीवन जब अमरकान्त के स्वभाव के कारण खण्डित हो जाता है और उसपर सकीना के प्रेम का भूत सवार होने पर डाह नहीं करती, उसकी क्रांतिदृष्टि समय

---

१. डॉ० मंजुलता सिंह—हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग, पृष्ठ १०८

के अन्तराल और आत्मपीड़न के दर्शन में विश्वास रखती है। प्रेमचन्द के सेवा और त्याग के जीवन-दर्शन को अपनाती हुई वह डॉ० शान्तिकुमार द्वारा संस्थापित संस्था (सेवासदन) में कार्यरत रहकर जोवन में समता, निःस्वार्थता, सेवाभाव प्रचारित करती है। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता और दया को वह स्त्रियोचित गुण मानती है, जिनपर सृष्टि थमी हुई है, इन्हें ही उजागर करने का सद्प्रयास वह रात-दिन करती है। सुखदा का सविनय अवज्ञा आन्दोलन का समर्थन करना, स्वतन्त्रता-संग्राम में पुलिस के नाना अत्याचारों का विरोध करना, धार्मिक पाखण्डों की हँसी उड़ाना, अछूतों को मन्दिर प्रवेश का अधिकारी मानना, उनके आर्थिक व सामाजिक शोषण को तुरन्त बन्द कराने का नारा देना, उसके क्रान्तिकारी स्वभाव के अनुकूल हैं। सुखदा क्रान्ति द्वारा ही देश का उद्धार संभव मानती है, किन्तु यह क्रांति अहिंसक आन्दोलनों पर आधारित है। वह महिला समाज में राष्ट्रीय चेतना जगाने का बीड़ा उठा लेती है। जनता के आन्दोलन का संचालन करते हुए उसने कहा है कि हमें लड़ाई नहीं करनी है, फसाद नहीं करना है, सिर्फ हड़ताल करना है, यह दिखाने के लिये कि तुमने बोर्ड के फैसले को मंजूर नहीं किया है। इसी उपन्यास में नैना का बलिदान भी क्रान्तिकारी है।

धनिया

प्रेमचन्द की अन्तिम और अन्यतम कृति 'गोदान' की नायिका धनिया न केवल इस उपन्यास की, अपितु तीसरे शतक तक हिन्दी उपन्यास-जगत् की सर्वाधिक चर्चित सशक्त आंदोलनकारी, क्रान्तिकारी, पुरुष वर्ग पर प्रश्न चिह्न लगाने वाली नारी पात्र है। वैयक्तिक तत्त्वों से अवतीर्ण धनिया का चरित्र 'गोदान' की सामाजिकता के लिये एक चुनौती बन जाता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति को निजी क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता देते हुये उद्घोषणा करता है—' व्यक्तिवाद व्यक्ति के निजी मुआमलों के विषय में वैसा करने की अनुमति देता है, जैसा व्यक्ति की आत्मा कहे।'[१] इस दृष्टि से परखने पर धनिया सधे अर्थ में व्यक्तिवादी है, स्पष्टवादी है। उपन्यास में वह सर्वत्र वही कहती है, जो उसकी आत्मा

१. इन्सायक्लोपीडिया आफ् सोशल सांइन्स, पृ० ६२४

कहती है, न कि वह जो समाजशास्त्र या पति कहता है। उसकी निर्भीकता और अन्तर्भेदिनी दृष्टि बेमिसाल हैं।

धनिया के विद्रोही व्यक्तित्व के निर्माण में कौन से तत्त्व महत्वपूर्ण हैं, एक विचारणीय प्रश्न है। मुझे लगता है कि 'गोदान' तक पहुँचते पहुँचते प्रेमचन्द गांधीवादी जीवन-दर्शन की आदर्शवादिता से ऊबने लगे थे तथा उन्होंने भारतीय जीवन के यथार्थरूप को सामने लाने का संकल्प किया था। तभी तो 'गोदान' के संबंध में आलोचकों ने लिखा कि यह ग्रामीण जीवन के अंधकार पक्ष का महाकाव्य है एवं 'गोदान' आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है, इत्यादि। 'निर्मला' में उन्होंने निर्मला के रूप में भारतीय आदर्श पत्नी को नारी की मर्यादा के रूप में प्रस्तुत किया था। 'गबन' की जालपा तक पहुँचने पर इस आदर्श पत्नी में यथार्थ के स्वर का पुट मिला दिया गया और 'गोदान' की धनिया तक पहुँचते-पहुँचते लेखक ने नारी पात्र में सामाजिकता के प्रति पूर्ण विद्रोह का बिगुल बजा दिया। धनिया के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया मे प्रेमचन्द ने यथार्थ-परक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की स्फूर्ति, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक आस्थाओं के प्रति विद्रोह-भावना तथा अन्तर्भुक्त संघर्ष को बहिर्जगत् के चित्रफलक पर संघातात्मक रूप से प्रस्तुत करने का साहस दिखाया। वे गांधीवादी दर्शन की हार देखने लगे थे। इस संबंध में एक आलोचक ने लिखा है—' गोदान तक आते आते प्रेमचन्द जी बदल अवश्य गये थे, इतना स्वीकार करना पड़ेगा। उन्होंने जीवन भर कठिनाइयों और संघर्षों से जूझकर जो मान्यतायें मानव जीवन के प्रति स्थापित की थीं, वे सब उन्हें ही असत्य जान पड़ने लगीं। मानवता की अन्तिम विजय के प्रति भी उनका विश्वास डिगने लगा था। सभी समस्याओं, कठिनाइयों, विपत्तियों तथा बुराइयों से लोहा लेने पर भी प्रेमचन्द होरी के रूप में पिसते ही गये।'[१] और इस हार, इस टूटन की स्मृति दिलाने के लिये धनिया का सृजन हुआ। जहाँ 'गोदान' का होरी जमींदार, साहूकार और पंडित मातादीन के तलुवे सहलाने में ही अपनी कुशल मानता है, वहीं धनिया इस तलुवे सहलाने वाली नीति का खुलकर विद्रोह करती है।

---

१. डॉ त्रिभुवन सिंह—हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० ११७

होरी की पत्नी होते हुये भी चारित्रिक एवं वैचारिक दृष्टि से वह ठीक उसके दूसरे कोने खड़ी है, विपरीत दिशा में कदम उठा रही है। वह आत्मनिर्णय लेने वाली विद्रोही नारी है। उसके चरित्र में वैयक्तिकता है, क्रान्तिदर्शिता है, विद्रोह के स्वर हैं। वह परिवार में दृढ़ता के साथ, समाज में अपूर्व कठोरता के साथ, दाम्पत्य में अडिग साहिसकता के साथ दीवार की तरह गौरवमयी नारी के रूप में खड़ी मिलती है। होरी द्वारा हीरा व शोभा के प्रति सहज स्नेह को स्वीकारती है तो हीरा के गाय को माहुर दिये जाने का समाचार सुनकर बौखला उठती है— 'ऐसे होते हैं भाई, जिन्हें भाई का गला काटने में भी हिचक नहीं होती। उफ्फोह ! हीरा मन का इतना काला है·······अनर्थ नहीं, अनर्थ का बाप हो जाय, मैं बिना लाला को बड़े घर भिजवाये मानूंगी नहीं।'[१] वास्तव में उसकी इस बौखलाहट के पीछे भी एक लम्बा इतिहास है। संयुक्त परिवार में रहकर उसने त्याग ही त्याग किया है। अपने देवरों को अपने पुत्र-समान स्नेहदान किया, फिर बदले में जब देवर पशुता का परिचय दें, खून पसीने की कमाई पर हाथ साफ करें, तो बौखलाहट होना स्वाभाविक है। आधुनिक काल में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दबावों ने संयुक्त परिवार-व्यवस्था पर तीव्र प्रहार किये हैं। जो परिवार अधिकांशतः ग्रामों में रहते थे, उनकी मुख्य आजीविका का साधन कृषि था। कृषि को परिवार के सभी सदस्य पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना के बल-बूते पर उन्नत करते थे। जहाँ हीरा और शोभा जैसे स्वार्थी भाई हों, वहाँ संयुक्त परिवार कैसे पनप सकता है, इसी सत्य को स्वीकारते हुये प्रेमचन्द ने अपनी धनिया द्वारा इस प्रणाली को नकार दिया। धनिया होरी को डाँटते हुये जमीन पर थूक कर कहती है—' थुड़ी है तेरी झुठाई पर। तूने खुद मुझसे कहा कि हीरा चोरों की तरह नाद के पास खड़ा था और अब भाई के लिये झूठ बोलता है। अगर मेरे बेटे का बाल भी बांका हुआ तो घर में आग लगा दूंगी। सारी गृहस्थी में आग लगा दूंगी। मुझे मारकर समझता है मैं बड़ा वीर हूँ। भाइयों के सामने भींगी बिल्ली बन जाता है, पापी कहीं का, हत्यारा।"[२]

---

१. गोदान, पृ० १०८ २. वही पृ० १२०

धनिया का पति को हत्यारा कहना एक प्रश्नवाचक है। यह पढ़ते ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धनिया भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अनुरूप अपने पति के प्रति एकनिष्ठ तो है, किन्तु उसकी हर उचित अनुचित कार्यवाही का समर्थन करने को बाध्य नहीं है। वह सच्चे अर्थ में उसकी जीवन सहचरी है, मित्र है और आलोचक होने की अधिकारिणी है। इसमें पुरुष वर्ग की उपेक्षा के प्रति प्रतिकार की विद्रोही भावना है। समाज की मनचाही अनाचरपूर्ण नीति का वह खुलकर विरोध करती है। हीरा के गाय को माहुर देने के पश्चात् जब होरी थानेदार को घूस देकर भाई को बचाने का प्रयत्न करता है, तब वह गाँव के नेताओं की बन्दर-बाँट नीति देखते ही आक्रोश के साथ नागिन की तरह फुँफकार कर कहती है—"ये रूपये कहाँ लिए जा रहा है ? बता, भला चाहता है तो सब रूपये लौटा दे, नहीं कहे देती हूँ...अञ्जली भर रूपये लेकर चला है इज्जत बचाने। ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत। जिसके घर में चूहे लोटें, वह भी इज्जत वाला है। दारोगा तलासी ही तो लेगा। ले, जहाँ चाहे तलासी। एक तो सौ रूपये की गाय गई, उस पर यह पलेथन, वाह री तेरी इज्जत।"[1] धनिया की हुंकार सुनते ही दारोगा का मुँह जरा-सा निकल आया। दारोगा का ही क्यों, उस समस्त पुरुष-वर्ग का मुँह लटक गया, जो जन्म से ही नारी जाति के शोषण का समर्थक है। धनिया पूर्णरूप से नारी अधिकारों के प्रति जागरूक है। वह पति-समाज द्वारा पत्नी-समाज किये जाने वाले अत्याचारों की विरोधी है तथा समकालीन नारी को सजग करने के लिए कटिबद्ध है। सामन्तवाद के ध्वंसावशेष संयुक्त परिवार परिपाटी को उसने इन शब्दों के साथ-साथ सदैव के लिए विदा दे दी, जिसका अनुकरण आगे चलकर उसके पुत्र गोबर तथा उसकी रखैल झुनिया ने ग्राम को तिलांजली देते हुए नगर की ओर प्रस्थान के रूप में किया। धनिया के ये शब्द 'वाह री तेरी इज्जत' होरी की पुरुष-वर्गीय अपने को बड़ा मानने की प्रवृत्ति व संयुक्त परिवार की आस्था पर करारा व्यंग्य कसते हैं। इनसे उपन्यास में एक 'आयरनी' भी आ गई है, जो धनिया के रूढ़ियों के प्रति विद्रोहात्मक दृष्टिकोण की परिचायक है।

---

१. गोदान, पृष्ठ १२१

झुनिया

गोबर की रखैल झुनिया भी एक विद्रोही नारी है। सबसे बड़े विद्रोह का परिचय तो वह उस समय देती है, जब बिला-विवाह की वेदी पर पैर रखे गोबर का दामन पकड़ लेती है। धनिया उसे आश्रय देती है। इस पर पंचायत होती है, होरी गर्दन झुका देता है, किन्तु समाज-द्रोही धनिया कहती है—"मैं न एक दाना अनाज दूंगी, न एक कौड़ी डांड, जिसमें बूता हो चलकर मुझसे ले लो।"[१] वही झुनिया जो धनिया द्वारा इतना स्नेह, आश्रय और पारिवारिक सम्मान पाती है, धनिया को ठेंगा दिखा-कर अपने गोबर के साथ नगर चली जाती है। धनिया झुनिया के प्रति संदेह प्रकट करती हैं, जिसे सुनकर गोबर झल्ला जाता है। इस पर प्रेम-चन्द टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—"इसके बाद संग्राम छिड़ गया। ताने-मेहने, गाली-गलौज, थुक्का-फजीहत, कोई बात न बची। गोबर भी बीच-बीच में डंक मारता जाता था।"[२] इसमें प्रेमचंद ने युवती बहू का वृद्धा सास के प्रति आक्रोश, क्षोभ एवं संत्रास अभिव्यक्त करते हुए युवा पुत्र का माँ के प्रति समस्त उत्तरदायित्वों को तिलांजलि देकर पक्ष लेना सिद्ध किया है एवं आधुनिक जीवन में युवा मानस की क्रांति की झलक प्रस्तुत करते हुए अशिक्षित किन्तु चतुर झुनिया के विद्रोही मगर परम स्वार्थी मानस का परिचय पाठक को दे दिया है।

सिलिया एवं उसकी माँ दोनों नारी पात्र भी कम क्रांतिकारी नहीं हैं। सिलिया यह जानते हुए कि वह अमारिन है और मातादीन ब्राह्मण, दोनों का विवाह संभव नहीं, उससे प्रेमकर एक क्रान्ति प्रस्तुत करती है। पर इससे भी सशक्त क्रान्तिकारी है उसकी माँ, वह मातादीन को विद्रोहात्मक स्वर में कहती है—"तुम बड़े नेमी-धर्मी हो। उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पीओगे।'[३] कितनी टीस है इन शब्दों में, साथ ही कितनी 'आयरनी'। यह वाक्य व्यंग्य की संवेदना से सज्जित है।

---

१. वही, पृष्ठ १२८
२. गोदान, पृष्ठ २३०
३. वही, पृष्ठ २६१

मालती

'गोदान' की मालती भारतीय नवयुवती को अधुनातन प्रवृत्तियों की प्रतीक है। प्रेमचन्द ने इसके चरित्र का संक्षेप केवल एक पंक्ति में यह लिखकर कर दिया कि वह बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी वह नवयुग की साक्षात् प्रतिमा है। झिझक और संकोच तो उसे छू भी नहीं पाते।

मालती का विद्रोही नारी-रूप विवाह नामक संस्था में अनास्था प्रकट करता है। अपने प्रेमी प्रो० मेहता से वह स्पष्ट शब्दों में कह देती है—"मित्र बनकर रहना, स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझपर विश्वास करते हो····मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ, तुमपर विश्वास करती हूँ····हमारी पूर्णता के लिये, हमारी आत्मा के विकास के लिए और क्या चाहिए।"[1] मालती की यह विचारणा आधुनिक नारी की विचारणा है, जो विवाह शीर्षक संस्था को गली-सड़ी व संकीर्ण तथा क्षुद्र मानती हैं। मालती विवाह द्वारा आत्म-विकास का पथ संकीर्ण नहीं होने देना चाहती, वह अपनी शक्ति, सामर्थ्य, बौद्धिक तेजस्विता के विराट् स्वरूप को पहचान चुकी है, अतः मेहता के साथ मैत्री-संबंध स्थापित कर मानवता के नव-दर्शन का प्रचार कर अपनी विद्रोही नेचर का परिचय हमें देती है। ग्राम में जाकर ग्रामीणों की सेवा करती है।

इस प्रकार प्रेमचंद के उपन्यासों के अधिकांश नारी पात्र क्रान्तिकारी आवाज उठा कर जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं का पर्दाफाश करने में सफल हुए हैं।



—वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
स्नातकोत्तर राजकीय महाविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

---

१. वही, पृष्ठ ३४३

प्रेमचंद का ग्राम-समाज और आज का सन्दर्भ

डॉ० प्रभाकर माचवे

प्रेमचन्द शताब्दि-वर्ष में यह प्रसंग कई परिसंवादों, संगोष्ठियों, सेमिनारों, व्याख्यानों और लेखों में उभरकर आया कि प्रेमचन्द अपने ग्रामजीवन से निकट से जुड़े थे, उसके यथार्थ से वे प्रभावित थे, अतः वे एक सफल और अमर कथाकार हुए। उनसे पहले और उनके बाद में भारतीय उपन्यास में और हिन्दी कथा–उपन्यास में ग्राम–जीवन का जो चित्रण हुआ है, उसमें प्रेमचन्द की प्रासंगिकता क्या है ? क्या वह ग्राम–समाज, जो प्रेमचन्द ने चित्रित किया, आज भी सार्थक है ? क्या गांव और देहात बदल नहीं गये हैं ? क्या हमारे पाठकों का साहित्यिक के सामाजिक भावकों का और समीक्षकों का ग्रामीण यथार्थ के प्रति रुख बदला नहीं है ? क्या सूचना-प्रसार माध्यमों द्वारा, भारत की स्वतंत्रता के बाद, इतना प्रचार होने से, साक्षर प्रसार से कोई फर्क नहीं आया है ? यह सब प्रश्न प्रेमचन्द साहित्य के विचार में बहुत अर्थपूर्ण और पुनर्विचारणीय हैं।

पश्चिम बंगाल की सी. पी. (एम.) सरकार के मुख्य मंत्री ज्योति बसु गत वर्ष चीन की यात्रा पर गये थे। उन्होंने आकर जो बयान कलकत्ता रेडियो पर दिया, उसके अनुसार भारत के तीन लेखकों को चीन वाले सर्वाधिक जानते हैं, उनका सम्मान करते हैं–रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मुहम्मद इकबाल और प्रेमचन्द। यह संयोग की बात नहीं है कि एशिया के तीन बड़े देशों के तीन बड़े लेखक प्रायः समकालीन थे और तीनों की किसान और कर्मकर समाज से गहरी आत्मीयता थी। मैक्सिम गोर्की, प्रेमचन्द और लु-हसुन, रूस, भारत और चीन के तीन महान् आदर्शवादी यथार्थवादी लेखक हैं।

भारतीय कहानी-उपन्यास लेखकों की प्रेमचन्द के लेखन-क्षेत्र में आने से पहले दृष्टि राष्ट्रीयतावादी, नीतिरपक और विशुद्ध आदर्शवादी थी। गुजरात के गोवर्धनराम त्रिपाठी ('सरस्वतीचन्द्र' के लेखक) एक मात्र उपन्यासकार थे, जिन्हें महात्मा गांधी ने पढ़ा था। उनके ग्रामचित्र

आदर्श प्रकृति के नैसर्गिक और मानवीय दोनों के उत्तम उदाहरण हैं। ऐसे ही हरिनारायण आपटे मराठी के उपन्यासकार थे, जिनका निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण इसी प्रकार के मूल्यों पर आधारित था—प्रामाणिकता, देशभक्ति, परिवार--मर्यादा, पातिव्रत्य, मातृ-हृदय का त्याग आदि। ऐसे उदाहरण बंकिमचन्द के सामाजिक उपन्यासों में बंगला में और भाई वीर सिंह के पंजाबी उपन्यासों में पाये जाते हैं, जहाँ नायक धर्म-प्रचारक होते हैं, नैतिक निष्ठाओं के उदात्त उदाहरण होते हैं।

यह आदर्शवादी परम्परा प्रेमचन्द ने विरासत में पाई थी। हमें भूलना नहीं चाहिए कि प्रेमचन्द ने 'राम-कथा' भी लिखी है, विवेकानन्द की जीवनी भी लिखी है, 'बोस्तां' का अनुवाद भी किया है, कालिदास पर उर्दू में लेख लिखे हैं। दयानन्द के प्रभाव में विधवा-विवाह भी किया और टालस्टाल की नीति-कथाओं से वे बेहद प्रभावित हुए। प्रेमचन्द के जीवन का पहला तिहाई हिस्सा इसी राष्ट्रीयतावादी, आदर्शवादी, नैतिक उपदेशवादी वैचारिक वातावरण में बीता है। इसी के परिणाम हैं—उनके अतिमानवीय लगने वाले आदर्शवादी चरित्र। ऐसे हृदय परिवर्तन हो जाने वाले दुष्ट लोग या वेश्या या जुआड़ी प्रेमचन्द की रचनाओं में हैं, तो वे किस्सा अलिफलैला, होशरुबा, गुल-बकावली की दुनियाँ का बचा हुआ तिलस्म देवदूत का रूप लेता है। 'भूतनाथ' और 'चन्द्रकांता-संतति' के पाठक इतनी आसानी से दर्शन-प्रधान उपन्यास पढ़ सकने के आदि नहीं हो सके थे। इंगलिश में भी 'पिकैरस्क' उपन्यास से डिकैन्स-थैकैरे की दुनियाँ तक पहुँचने में दशाब्दियाँ लगीं।

इस समय भारत की राजनैतिक रंगभूमि पर आये एक जादूगर—गांधी। सहसा पढ़े-लिखे लोग भी स्कूल-कालेज, कोर्ट-कचहरी छोड़कर 'नंगे पैर' गांवों की ओर दौड़ पड़े। एक चमत्कार सारे देश में घटित हुआ। सारी भारतीय भाषाओं में—यहाँ तक कि अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय उपन्यासकारों ने भी सन् २० से ४० तक गांवों को अपना लक्ष्य बनाया। कुछ उपन्यासों के नाम यों हैं–

असमिया—मिरि जियारी,

उड़िया—छमण अठगुंठ, माटीर माणिक
उर्दू—चौगाने हस्ती
कन्नड़—मरलि मण्णिगे ग्रामायण
गुजराती—सोरठ तारा वहेता पाणी, मलेला जीव, झेर तो पीधुं छे जाणियु जाणियु
तमिल—राजाजी की कहानियाँ, 'कल्कि' के सामाजिक उपन्यास
तेलुगु—मालपल्ली, नारायणराव, वेयि पडगलु
पंजाबी—पवित्र पापी, आदमखोर,
बंगाली—पल्ली समाज, पथेर पांचाली, ढोढाई मानसकथा, गणदेवता
मलयालम—रंटिटंगषी, उम्माचू, बाल्यकालसखी,
मराठी—सात लाखातीस एक, कांचनमृग, शाम, आई डभी शेतात
सिंधी—अमरडिनोमल की कहानियाँ
हिन्दी—ठेठ हिन्दी का ठाठ, देहाती दुनियाँ, रंगभूमि, गोदान
भारतीय अंग्रेजी—कंठपुरा, दि विलेज

ये कुछ नमूने के नाम हैं, पर सूची बहुत लंबी हो सकती है। यहाँ दो तरह की प्रेरणाएँ काम करती थीं—एक ओर ग्राम के सादगी भरे जीवन, ईमानदार किसान, त्यागमय संयुक्त परिवार। हिन्दू धार्मिक आस्थाओं के प्रति ललक थी, तो दूसरी ओर गाँवों की उखड़ती-उजड़ती आर्थिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश, ग्रामों के तिहरे शोषण-'जमींदार, महाजन, सरकारी तंत्र'—के कारण सहानुभूति। जो था वह बहुत सुन्दर था, जो विघटित हो रहा है उसका कोई इलाज नहीं। और कहीं-कहीं उस अन्याय और अत्याचार के प्रति संगठित आक्रोश और विद्रोह की क्षीण आवाज।

भारत में किसी सम्मेलन की स्थापना, स्वामी सहजानन्द जैसे नेता और विहार में कार्य, समाजवादी कार्यक्रम में किसान और कामगार की मुक्ति, कांग्रेस के लंबे-चौड़े आश्वासन—इसी सबमें प्रेमचन्द के परवर्ती लेखन, और प्रेमचंद की मृत्यु के बाद स्वराज्य की स्थापना तक का समय बीत जाता है। प्रस्ताव पास होते रहते हैं। नेता कहते हैं—पहले अंग्रेज को जाने दो। हम अपना सब ठीक कर लेंगे। पर अंग्रेज जाने के पहले ही देश में खानाजंगी, भाई-भाई में भयानक रक्तपात होता है। देश का

विभाजन होता है। प्रेमचंद जैसे हिन्दी-उर्दू में एक साथ लिखने वाले लेखकों का विभाजन कैसे सम्भव है ?

स्वराज्य १९४७ की पन्द्रह अगस्त को आया। उसे भी अब तैंतीस बरस बीत गये। दो पीढ़ियाँ गुजर गईं। गाँवों में कोई बड़ी तब्दीली नहीं नजर आई। यह परिस्थितिहीनता धीरे-धीरे उपन्यासों में गूँजने लगी। हिन्दी में फणीश्वर नाथ 'रेणु' और श्रीलाल शुक्ल, रामदरश मिश्र और विवेकी राय, नागार्जुन और शिवप्रसाद सिंह, जगदीशचन्द्र और गोविन्द मिश्र, जगदीश चंद्र पांडेय और उदयराज सिंह आदि अनेक लेखकों की सशक्त कृतियों में वह स्वर मुखर हुआ है। यह मोहभंग और स्वप्नभंग का कटु-कठोर स्वर है, यह व्यंग्य और विद्रूप का स्वर है। यह नये रास्ते टटोलने का स्वर है। रोमैंटिक गाँव, गाँधी का आदर्श 'रामराज' वाला गाँव बहुत पीछे छूट गया है—अब बचे हैं बेलछी और नारायणपुर, परसबीधा और पिपरी जैसे दाहक जख्म।

इस सारी कथा-यात्रा में प्रेमचन्द को श्रेय है कि उन्होंने निम्न दस प्रश्नों को, जो ग्राम-जीवन से संबद्ध थे, पहली बार छुआ और उन दिशाओं की ओर संकेत किया, जिनपर आज का हिन्दी उपन्यास और उसमें का ग्रामाँचल-चित्रण रहा है—

(१) गाँव के सम्बन्धों का आधार आर्थिक है, केवल नैतिक नहीं।

(२) संयुक्त परिवार की चौखट चरमरा रही है।

(३) जात-पाँत की जड़ें बहुत जहरीली हैं और समाज-शरीर में कैंची की तरह घुसी हैं।

(४) गाँव में धर्म के नाम पर व्यापार करने वाले दोगले हैं।

(५) गाँव के महाजन का पूर्ण अमानवीकरण हो चुका है।

(६) गाँव का जमींदार राजनैतिक शोषकों के केन्द्रीय कानूनों के संरक्षण में कार्य करते हैं।

(७) ऐसे समाज को बदलने में व्यक्ति—कितना भी इच्छुक हो—निस्सहाय और हतबल है।

(८) बौद्धिक की भूमिका बहुत सहायक नहीं है। पत्रकार, प्रोफेसर, लेखक, आदि सब बड़े ही स्वार्थी और दुरंगे हैं।

(९) ऐसे गाँव के पात्रों की भाषा भद्रवर्ग की 'मानक' भाषा से, कोश की भाषा से भिन्न होगी। यह भी हो सकता है कि उनका व्यवहार और भाषा हमारे मध्यवर्गीय पाठकों को चौंकाने वाली लगें।

(१०) दलित, वंचित, मुंचित, सर्वहारा अल्पसंख्यक शोषित का सहारा ईश्वर नहीं—समाज-परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील होने वाली धारा ही है। तब प्रेमचंद के समय 'सर्वोदय' शब्द गांधी ने चलाया था, 'जे० पी०' का 'अंत्योदय' नहीं आया था। पर साम्यवादियों ने वैसा प्रयत्न किसान-क्रांति से किया था। 'प्रेमाश्रम' में किसान उसकी बात करते हैं।

परन्तु प्रेमचन्द का किसान इस तरह से अपने में क्रांति के अग्नि-स्फुलिंग रखे हुए थे, इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि प्रेमचन्द का किसान कम्युनिस्ट पार्टी (आई) या (एम) का मेंबर था। कुछ लोग आज-कल प्रेमचन्द का मनमाना अर्थ लगा रहे हैं। उनकी कहानियों पर नाटक, रेडियो-रूपांतर, फिल्में, दूरदर्शन-रूपांतर बनाते हुए अपनी-अपनी इच्छानुसार "जाकी रही भावना जैसी। प्रेमचंद मूरत देखी तिन तैसी ।।" करते हैं।

हाल में कलकत्ते में मृणाल सेन ने अपनी तेलुगु फिलम 'ओका ओरू कथा' (हिन्दी डबिंग) के साथ दिखाई और उसके आरंभ में पौन घण्टा बंगाली में भाषण दिया। यह फिलम 'कफन' कहानी पर आधारित बताई गई है। पर श्री सुंदरैया आंध्र प्रदेश में मृणाल सेन को जुझारू किसान-क्रांतिवीरों के पास ले गये, और उन्होंने घीसू चमार को तेलंगाना हीरो बना दिया। अब सिनेमा के दिग्दर्शक और नाटक के निर्देशक भी यह अधिकार रखते हैं कि वे मूल कथा का सम्भावना 'इन्टरप्रिटेशन' (भाष्य) करें। एक बड़े उर्दू समालोचक, जवाहर लाल नेहरू युनिवर्सिटी के प्रोफे-सर, मेरे पास बैठे थे। बोले—इग्लैंड में शेक्सपीयर के हैम्लेट को समलैं-गिक स्नेह की समस्या पर नाटक मानकर एक निर्देशक ने मंचित किया। मैंने ग्रीक ट्रेजेडी के रंग पर संस्कृत नाटक उज्जैन में पेश करने वाले एक बड़े भारतीय निर्देशक की आलोचना सुनी—नाट्योत्सव था, और सारी पोशाकें अशुभ काली ! मैं सोच रहा था यदि स्वयं प्रेमचन्द 'शतरंज के खिलाड़ी' या यह तेलुगु 'कफन' देखते तो क्या सोचते ! मृणाल सेन का दावा यह है कि यह फिलम अन्तर्राष्ट्रीय फिलम

समारोह में दिखाया गया तो अर्जेण्टाइना का फिल्म-प्रोड्यूसर बोला—यह किसान तो मेरे देश जैसा है। गरीबी का कोई प्रदेश या राष्ट्र नहीं होता। गरीबी सब जगह गरीबी ही होती है।

इसी तर्क से प्रेमचन्द की सहानुभूति और तोल्स्तोय की सहानुभूति में एक विश्वात्मक समानता है। सारी महान् कला, सब राजनैतिक मतवादों से परे उसी अनंत-अनादि व्यथा-कथा को कहती है। प्रेमचंद ने उस स्तर को छुआ 'ईदगाह' जैसी कहानी में, 'गोदान' जैसे उपन्यास में और अनेक रचनाओं में—इसलिये उनका सन्दर्भ सामयिकता से उठकर सार्वकालिक हो गया, विशिष्ट से अधिक वह सार्वजनीन हो गया। उनका गाँव केवल उत्तर प्रदेश का गाँव नहीं रहा—वह 'भारत माता ग्रामवासिनी' का उच्छ्वास बन गया। उन्होंने ग्रामचित्रण को 'डी-रोमांटिसाइज' किया।



प्रेमचन्द की प्रांसगिकता

—डॉ० आदर्श सक्सेना

प्रेमचन्द के साथ आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की बात इस तरह जोड़ी जा चुकी है कि वह एक 'स्टिग्मा' बनकर रह गई है। प्रेमचन्द के लेखन को समझने और समझाने का इतना सरलीकृत तरीका है कि इसके आगे प्रेमचन्द की महत्ता की बात करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की जाती। परन्तु सत्य यह है कि यह एक ऐसी प्रारम्भिक बात है, जिसके आगे ही प्रेमचन्द की कला की बात की जानी चाहिए, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास को जो दिशा दी, उसपर वह अभी तक आगे बढ़ता चला जा रहा है और यह कोई आश्चर्यजनक बात भी नहीं; क्योंकि प्रेमचन्द ने उपन्यास को उसकी मूल प्रकृति से जोड़ दिया था। उपन्यास (उप = निकट, न्यास = रखना) को उन्होंने जीवन के यथार्थ को निकट रखने का माध्यम बनाया और इस प्रकार हिन्दी में साहित्य को जीवन के निकट पहुँचाया। कहने को जीवन की बात काव्य भी करता है और नाटक भी। कहानी तो उसके एक टुकड़े को ही सामने रख देती है। परन्तु इन विधाओं की अपनी सीमाएं हैं। उपन्यास ही जीवन के सत्य को उसकी सम्पूर्ण सहजता में प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यास अपनी इस शक्ति से अनभिज्ञ था। प्रेमचन्द ने उसे सही दिशा ही प्रदान नहीं की, उसके स्वरूप और प्रकृति का भी परिष्कार किया। एक कुशल शिल्पकार की भाँति प्रेमचन्द ने उपन्यास की प्रतिमा को उसके सम्पूर्ण सौष्ठव में निर्मित किया, इसके बाद यह आगे के कला-साधकों का काम रह गया कि वे इसे वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर नवीन और आकर्षक रूपों में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करें। हिन्दी उपन्यास साहित्य को यह प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन थी। आज जब हिन्दी उपन्यास पुनः जीवन के यथार्थ से जुड़ने की बात कह रहा है और विभिन्न आग्रहों और आरोपों से मुक्त रहकर उसे उसकी सहजता में ग्रहण करने की चेष्टा में लगा है, तब प्रेमचन्द की प्रासंगिकता को समझना कठिन नहीं रह

जाता। हाँ, आज विकास की दृष्टि से इतना अवश्य हुआ है कि यह चित्रण अधिक गहन और वैविध्यपूर्ण हो रहा है, परन्तु यह बदली हुई परिस्थितियों का भी परिणाम है। इस स्थिति पर किंचित् व्यापक परि-प्रेक्ष्य में विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' १८८२ में प्रकाशित हुआ था। उस समय देश की विशिष्ट राजनीतिक स्थिति के कारण सामाजिक जीवन भी काफी बदल गया था। कृषिप्रधान सामन्ती व्यवस्था और देशी उद्योग नष्ट होने लगे थे तथा पाश्चात्य शिक्षा और भौतिक-वाद से प्रभावित तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजी सभ्यता का अनुकरण करने लगा था। इसी के समानान्तर एक ऐसे वर्ग का भी उदय हो रहा था, जिसने पाश्चात्य नवजागरण को प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया था और सामाजिक जीवन के विकृत रूप के परिष्कार में लगा हुआ था। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन जैसे संगठन राष्ट्रीय संस्कृति की गरिमा को पाश्चात्य सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार उभार रहे थे कि हीनता की भावना से ग्रस्त भारतीय मानस गौरव की नवीन ज्योति से उद्दीप्त हो उठे। साहित्यिक मनोरंजन की दृष्टि से भी अबतक भारतीय जनमानस संस्कृत अथवा अपभ्रंश भाषाओं की उपदेशमूलक, प्रेमपरक एवं लोकजीवन की विस्मयकारी कथाओं अथवा अरबी-फारसी की कहानियों से अपना उद्देश्य सिद्ध कर रहा था। उपन्यास-लेखन की पहली बात साहित्य के भण्डार को भरने के उद्देश्य से कही गई थी। भारतेन्दु ने अपने अमृत-सरवाली मित्र संतोषसिंह को एक पत्र में जो कुछ लिखा था, उससे इसकी पुष्टि होती है। जैसे—भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं, अब तक उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सम्पादक जैसे बाबू काशीनाथ व गो० राधाचरण जी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो। इस स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि उपन्यास के रूप में जो रचना आती, उसमें इन विभिन्न तत्वों का समन्वय होता। 'परीक्षागुरु' में ऐसा ही हुआ है। इसमें एक ओर यथार्थ चित्रण है, तो दूसरी ओर व्यंग्यपूर्ण चित्रात्मतमक वर्णन भी है और सोद्देश्यता भी। उपन्यास के प्रारम्भ के उस युग में जब यथार्थवाद की बात उठी ही नहीं थी, तब यथार्थ जीवन

की घटनाओं को आधार बनाकर उपन्यास लिखना साहस का काम था, भले ही उसकी प्रकृति आदर्शमूलक हो। 'परीक्षागुरु' में तत्कालीन यथार्थ का विशद् वर्णन है। मध्यवर्गीय समाज की स्थिति देश की दशा तथा नयी पुरानी पीढ़ी के बीच के अंतर की भी सांकेतिक व्यंजना इसमें उपलब्ध होती है। उपन्यास का नायक मदनमोहन, नवशिक्षित मध्यवर्ग की कमजोरियों का प्रतीक बनकर आया है, जबकि उसका मित्र ब्रज-किशोर नयी रोशनी से प्रभावित सदाचारी, देशभक्त और जाग्रत वर्ग का प्रतिनिधि है। इस यथार्थवादी–आदर्शवादी के साथ कतिपय अन्य कथा-धाराएं भी चल रही थीं। एक थी भावनात्मक प्रेम-कहानियों की धारा, जिसकी प्रतिनिधि रचना ठा० जगमोहन सिंह की 'श्यामा स्वप्न' (१८८८) है, दूसरी थी ऐय्यारी–तिलस्मी धारा, जिसकी प्रतिनिधि रचना देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' है, तीसरी थी जासूसी कथाधारा, जिसके प्रतिनिधि लेखन श्री गोपालराम गहमरी थे। रोमानी ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे जा रहे थे, जिनके लेखकों में प्रमुख थे किशोरीलाल गोस्वामी। इस प्रकार यदि मोटे तौर पर देखा जाय तो इन विविध प्रवृत्तियों वाले उपन्यासों में दो प्रमुख तत्व थे–उपदेश और मनोरंजन, और इसलिए कल्पनाशीलता को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हुआ, यद्यपि हुआ ऐसा समसामयिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही, और इसीलिए उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक कारणों से बदलते हुए भारतीय समाज के विभिन्न रूप उन उपन्यासों में प्रतिबिम्बित हुए।

इन परिस्थितियों में प्रेमचन्द का आगमन हुआ। प्रेमचन्द का पहला प्रमुख उपन्यास 'सेवासदन' १९१९ में प्रकाशित हुआ। इस बीच स्थितियां और बदल चुकी थीं। सम्पूर्ण प्रेमचन्द युग, जिसका प्रारम्भ ही जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड से हुआ था, उथल-पुथल का युग था। इसी समय गांधी जी के देश की राजनीति में उदय से सत्याग्रह, अहिंसा, सुधार, साम्प्रदायिक समन्वय और आर्थिक परिवर्तन का युग भी प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश कूटनीति की यह आवश्यक परिणति थी। इसलिए यह आवश्यक था कि प्रेमचन्द का उपन्यासकार इनसे प्रभावित होता। ऐसा हुआ भी। साम्प्रदायिक दंगों की राजनीति को उन्होंने 'कायाकल्प' में, ग्रामीण जीवन की समस्याओं को 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में, नारी

जीवन की समस्याओं को 'निर्मला' में, मध्यवर्गीय मानसिकता को 'गबन' में और टूटती हुई आस्थाओं को 'गोदान' में चित्रित किया है। इस चित्रण में उन्होंने यथार्थ का आश्रय लिया, यह दूसरी बात है कि उस पर आदर्श का मुलम्मा चढ़ा था। वह पिछले उपन्यास-लेखन काल का प्रभाव था, जिससे 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द मुक्त हो गये और जिस कुण्ठित, पीड़ित, मजबूर परन्तु विरोध के लिए उद्यत मानसिकता का उन्होंने उसमें चित्रण किया, वहाँ से आज का उपन्यास आरम्भ होता है।

'गोदान' तक प्रेमचंद ने एक यात्रा की थो। 'गोदान' एक मंजिल थी। पर क्या प्रेमचन्द उस तक अनजाने ही पहुँच गये थे? ऐसा नहीं था। गोदान तक के उपन्यासों में उस यात्रा के दर्शन किये जा सकते हैं, यद्यपि अपने पात्रों की प्रकृति-विशेष के कारण इस यात्रा के विविध पड़ावों के दर्शन कठिन हो जाते हैं। यह यात्रा थी उपन्यास को यथार्थ तक पहुँचाने की, उस यथार्थ तक जहाँ सारी कल्पनाशीलता, आरोपित नैतिकता, अर्थहीन उपदेशवादिता और प्रभावशील चमत्कारिता बेमानी हो जाती है और जब 'गोदान' में उपन्यास यथार्थ से जुड़ गया तो वह सारा साज सामान अनावश्यक हो गया, जिसकी इस यात्रा के लिए आवश्यकता थी। इस प्रकार प्रेमचंद ने तत्कालीन यथार्थ को खण्डों में समेटने का प्रयास किया। विधवा-विवाह की समस्या 'प्रतिज्ञा' (१९२७) में, दहेज तथा अनमेल विवाह के कुपरिणाम 'निर्मला' (१९२६) में, स्त्रियों की आभूषणप्रियता के दुष्परिणाम 'गबन' (१९३१)में, अछूत-समस्या 'कर्मभूमि' (१९३२) में, विधवा जीवन तथा वेश्या जीवन की समस्यायें 'सेवासदन' (१९१९) में तथा नगर जीवन की समस्याएँ 'रंगभूमि' में (१९२५) चित्रित हुई हैं। इस प्रकार नगरों और ग्रामों की विविध समस्याओं पर प्रेमचंद ने जमकर लिखा। गोदान (१९३६) तक आते-आते इन सबका ध्रुवीकरण हो गया। इस ध्रुवीकरण की दिशा थी। जीवन के यथार्थ पर बिना आदर्श का रंग चढ़ाए जिस सहजता से प्रेमचन्द ने उसे चित्रित किया, उसके कारण 'गोदान' सामान्य भारतीय जीवन-संघर्ष की गाथा बन गया और किसी भी प्रकार के आदर्शवादी अथवा प्रयोजनवादी आग्रह से रहित होने में उसने आगे के उपन्यासों को दिशा संकेत भी किया। गोदान की कथा में ही नहीं, उसके शिल्प और भाषा में भी सहजता और सजीवता

है। उसमें खुरदुरापन भले ही हो, कृत्रिमता नहीं है। आगे के उपन्यासों में इन्हीं गुणों का विकास दिखाई देता है। इस प्रकार यथार्थवादी चित्रण को जो टोन प्रेमचन्द ने गोदान में प्रदान किया था, वही आज के उपन्यासों का भी आदर्श बन गया है। आज के उपन्यास की यह विशेषता है कि वह जीवन के यथार्थ को सही रूप और सही परिवेश में खोलकर रख देता है। वह समस्याओं के किसी समधान की ओर संकेत भी नहीं करता, क्योंकि इन स्थितियों में समाधान कहीं है ही नहीं। घुटन-संघर्ष, पीड़ा और टूटन आज के आदमी की नियति है और उपन्यासकार निर्लिप्त भाव से इनका चित्रण कर देता है। कलाकार की संवेदनाशीलता में निश्चय ही आज अधिक गहनता आई है, क्योंकि वह द्रष्टा ही नहीं भोक्ता भी है। यह गोदान की परम्परा में ही है और उन्हीं स्थितियों के कारण भी जो गोदान का प्रेरणा स्रोत थीं। ऊपर से देखने पर ऐसा अवश्य लगता है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि का विकास प्रेमचंद की तुलना में अधिक हुआ है। परन्तु यह गहनतर अनुभूति का नहीं, समस्याओं के बहुमुखी, बहुआयामी और बहुस्तरीय होने का परिणाम है। समस्यायें माइक्रोफाइण्ड हो गई हैं। तब कुछ मोटी-मोटी समस्याएँ ही ध्यान आकर्षित करती थीं। अब उन्हीं का अधिक सूक्ष्म खण्डों में विभाजन हो गया है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनका प्रभाव अधिक व्यापक और गहन हो। यही हुआ है। उपन्यास चाहे महानगरीय जीवन के हों, चाहे आंचलिक; चाहे मनोवैज्ञानिक या सामाजिक, सभी में जीवन से सीधी और प्रमाणिक पहिचान का प्रयास होता है।

प्रेमचंद के मूल्यांकन में एक बड़ी कमी यह रह जाती है कि लोग वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर चल पड़ते हैं और भूल जाते हैं कि वह संघर्ष, विरोध, आक्रोश, असन्तोष आदि का समय उस रूप में नहीं था, जिस रूप में आज है। तब सहयोग, स्नेह, प्रेम, बलिदान और सहनशीलता की बातें भी महत्त्व रखती थीं। विदेशी शासन की दमनकारी नीतियों, स्वतन्त्रता-संघर्ष की अनिश्चितता तथा शिक्षा और वैज्ञानिक प्रगति का सीमित प्रभाव, वे स्थितियाँ थीं, जिनके संदर्भ में ही उस समय के यथार्थ को देखा जाना चाहिये। यह सत्य भी नहीं भूल जाना चाहिये कि स्थिति की विशिष्टता और उग्रता ही कलाकार की प्रतिक्रिया की तीव्रता और दिशा का निर्धारण करती है। तत्कालीन परिस्थितियों में

समस्याओं के आदर्शवादी समाधान की स्थिति से भिन्न स्थिति बन ही नहीं सकती थी—जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों में दिखाई देती है। परन्तु जब भिन्न स्थिति बनी तब उन्होंने 'गोदान' लिख डाला, जिसे उनकी आस्थाओं का गोदान भी कहा जाता है। परन्तु न परिस्थितियाँ स्थिर थीं और न प्रेमचन्द की दृष्टि सीमित, उनकी गहन संवेदना यथार्थ को उसके विकास की प्रक्रिया में ग्रहण कर रही थी। इसका प्रमाण भी गोदान में उपलब्ध होता है, जहाँ उन्होंने नयी उभरती पूँजीपति—मजदूर समस्या को खन्ना के मिल की हड़ताल के संदर्भ में उठाया है। सच तो यह है कि उस समय पूँजीवाद और वर्ग-संघर्ष की बात महाजनी सभ्यता और सामाजिक शोषण के रूप में ही हो रही थी। होरी ने इस महाजनी सभ्यता के समाज पर कसे हुए शिकंजे की बात कही है—'जमींदार तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग।' होरी इन महाजनों के शोषण से जीवन भर नहीं उबर पाता और उसकी मृत्यु के बाद घर की एकमात्र पूँजी बीस आने, जो घनिया सुतली बेचकर लाई थी, भी महाजन ब्राह्मण को समर्पित कर दी जाती है, गोदान के रूप में। यहीं करुण वातावरण में उपन्यास समाप्त हो जाता है।

इस स्थान पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि वर्गवाद की लहर बिलम्ब से आई और साहित्यिक स्तर पर उसके निरूपण के लिए भूमि बाद में तैयार हुई। यही स्थिति उस मनौवैज्ञानिक निरूपण की भी थी, जिसकी बिलम्बित प्रतिक्रिया भी प्रेमचन्दोत्तर युग में हुई। इन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह कह सकने के लिये सशक्त आधार है कि प्रेमचन्द का यथार्थ उनके युग का यथार्थ था, जो अपने विकास से गुजरने की प्रक्रिया में था।

वर्ग-संघर्ष और मनोवैज्ञानिक चित्रण के व्यापक संदर्भों से हट कर उस मध्यवर्गीय मनुष्य की मानसिकता के चित्रण की दृष्टि से देखें जिसे आज आम आदमी की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, तो हम पायेंगे कि वह बहुत बदली नहीं है और इस दृष्टि से प्रेमचन्द आज से भी जुड़े हुए हैं। समझौतावाद और आदर्शवाद आम आदमी की प्रकृति में समाये हुए हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इसके चित्रण के प्रयास इसलिए अखर जाते

हैं, क्योंकि तब व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ यथार्थ के बीच विभाजन रेखा स्पष्ट नहीं थी। सत्य तो यह है कि मध्यवर्गीय भारतीय प्रवंचक है। वह हृदय से न क्रान्तिदर्शी है न सुधारवादी, हालांकि उसकी प्रबुद्धता इन दोनों छोरों को छूकर चलती है। अपने सही रूप में वह समझौतावादी हैं और इसका कारण यह है कि सत्ता को उसने नियंत्रणकारी शक्ति के रूप में स्वीकार कर रखा है और वह 'सत्ता' कबीर की 'माया' की तरह भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न रूपों में नचाती है। प्रेमचन्द के समय यह अंग्रेज शासकों, सरकारी अधिकारियों, पुलिस पटवारी, सेठ-साहूकारों और पण्डे-मुल्लों के रूप में थी। आज भी इसके क्रिया-कलाप में अन्तर नहीं आया है। बस हुआ यह है कि विदेशी शासकों के स्थान पर देशी शासक आ गये हैं। प्रेमचंद का युग राष्ट्रीय उथल-पुथल का युग था और आज का युग जैसा भी है राष्ट्रीय (?) उथल-पुथल के कारण ही है। इसने अपनी शक्ति और क्षमता बढ़ा ली है, क्योंकि छात्र, मजदूर, किसान, कर्मचारी सभी इसके अंग बन गये हैं और आज का मध्यवर्ग भी इन सबसे बचकर चलना चाहता है, हालांकि वही इनके लिए आधार का काम करता है और नासमझी में इनके साथ भी हो जाता है। अगर वह कभी संगठित होकर विद्रोह करता है तो मजबूरी में। यह आज का यथार्थ है, पर नया नहीं। प्रेमचन्द के 'गोदान' में इसका प्रारम्भ देखा जा सकता है। जहाँ प्रथम बार भारतीय जनजीवन की वह यथार्थ झाँकी मिलती है, जो अपनी सम्पूर्ण दुर्बलताओं, सबलताओं, परम्पराओं, वर्गभेदों, शोषण-पीड़न के प्रति आक्रोश और दुःख-सुख के घात-प्रतिघातों में अंकित हुई है। नायक होरी उस भारतीय मानसिकता का प्रतीक है, जो नाना कठिनाइयों, दुःखों और पीड़ाओं के बावजूद भी अपनी आस्था से डिगता तो नहीं, पर जिसके दर्शन में मजबूरी और निरीहता है। उसकी पत्नी धनिया अपनी सम्पूर्ण तेजी के बाद भी शक्तिहीनता के प्रमाण ही प्रस्तुत करती है और पुत्र गोबर युवा आक्रोश और असंतोष का आदर्श बनते-बनते रह जाता है। इस प्रकार उपन्यास गाँव से शहर तक फैले उस जीवन की तस्वीर बन गया है, जो विभिन्न स्तरों पर विविध समस्याओं से जूझ रहा है, टूटते-टूटते भी जुड़ा रह जाता है तथा जागरण और आग्रहों के बावजूद भी एक नपुंसक असंतोष और आक्रोश में जीता रहता है। आज के उपन्यासों में इस स्थिति को हर कहीं देखा जा सकता है

और यह स्थिति आज कहीं अधिक विकट बनकर प्रस्तुत हुई है। यहाँ तक उपन्यास प्रेमचंद के रास्ते पर ही आया है। नये नामों और नये नारों ने कुछ विशेष नहीं दिया है, सिर्फ समसामयिक यथार्थ से जुड़ने के पृथक्-पृथक् प्रयत्न किये हैं। मानवीय संवेदना ने प्रभावशीलता के नये क्षेत्र ढूँढ़ लिए हैं, पर उनका दिशा-संकेत प्रेमचन्द ने ही दिया है। आज भौतिक चिन्तन एवं बौद्धिक आग्रह के कारण समस्याओं को कतिपय नये मोड़ भी प्राप्त हो गये हैं, पर उनकी आधारभूमि बदली नहीं है, दिशायें भंगिमाएँ बदली हैं, पर आसन नहीं बदला है, यही प्रेमचन्द की प्रासंगिकता है और महत्व भी।

●

—श्री जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
गंगाशहर, बीकानेर–०३४००१

प्रेमचन्द की साहित्यक मान्यताएँ

—डॉ० मक्खनलाल पाराशर

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द एक नाम है। वे ८ अक्टूबर सन् १९३६ ई० में इस असार संसार को (यद्यपि प्रेमचन्द जी की मान्यता के अनुसार संसार को 'असार' कहना उपयुक्त नहीं है) छोड़कर चले गये। तब से हिन्दी–कथा–साहित्य–गंगा में प्रभूत जल प्रवाहित हो चुका है, तथापि तीर्थराज प्रयाग की भाँति कथाकार प्रेमचन्द की महिमा अक्षुण्ण है।

कथाकार के रूप में उनकी प्रतिभा की व्याप्ति बहुत अधिक थी। देश की बदलती हुई परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न समस्याओं के प्रति उनका संवेदनशील कलाकार पूर्णतया सजग, सतर्क एवं सचेतन था। सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में व्याप्त दोषों, रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों एवं विश्रृंखलताओं के प्रति उनकी सजगता उनके साहित्य में प्रतिफलित हुई है। प्रेमचन्द जी का व्यक्तित्व बहुत संवेदनशील, साथ ही अत्यधिक चिन्तनशील था। देश की तत्कालीन दुरवस्था से उनका मानस अति क्षुब्ध एवं पीड़ित था। वे एक ऐसे समाज की रचना का स्वप्न देखते थे, जहां शोषण, उत्पीड़न अन्ध-विश्वास, छल-कपट, ईर्ष्या–द्वेष, भ्रष्टाचार और गुलामी न हो। स्नेह-प्रेम, सरलता, निश्छलता, सौहार्द्र, समानता, स्वाधीनता और श्रम की प्रतिष्ठा उन्हें काम्य थी। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे, जिसकी भौतिक सीमाओं में मार्क्सवाद और समाजवाद आयत्त हैं, तो आध्यात्मिक सीमाओं में राम-राज्य का आदर्श भी। जो उनपर मार्क्सवाद का 'लेबिल' लगाकर उन्हें सीमित करते हैं, वे अपनी दृष्टि से उनका उपयोग करना चाहते हैं। यह ठीक है कि वे शोषण के विरुद्ध थे, दलित-शोषित वर्ग के वे मसीहा थे; रूढ़ियाँ किसी भी प्रकार की हों—सामाजिक अथवा धार्मिक–उन्हें तोड़ फेंकने की उनमें आतुरता थी; परन्तु सनातन मानव मूल्यों एवं मानव के आन्तरिक देवत्व के प्रति वे आस्थावान् थे। उनकी समाज-संरचना की कल्पना उस वर्ग–विग्रह को साधन रूप में स्वीकार

नहीं करती, जिसका आधार घृणा, हिंसा व द्वेष है। समाज के बदलाव के लिए उनमें छपपटाहट है, उस पुरातन के प्रति विद्रोह भी है, जिसने मानव-समाज को विविध बन्धनों में जकड़कर उसे पंगु, जड़, दीन विवश और मूक बना दिया है। परन्तु इस विद्रोह की झोंक में वे स्वयं जड़ीभूत नहीं हुए। मानव-हृदय के स्पन्दनों को उन्होंने सुना है। राक्षस में छिपे देवता को उजागर करने में उनकी आस्था है। यह आस्था उनके साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है। मानवता को विनष्ट कर मानवता की सेवा करने की पद्धति में उनका विश्वास नहीं है। कोई चाहे तो इसे प्रेमचन्द पर उस युग की गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव कह सकता है।

सत्–साध्य के लिए सत्-साधन पर गांधी जी बल देते थे, परन्तु सत् की व्याख्या स्वयं में बड़ी जटिल है। अतः प्रेमचन्द जी का सत् यथार्थ है अथवा आदर्श अथवा आदर्शोन्मुखयथार्थ—यह विवाद का ही विषय है। यों सत् ही सत्तावान् अर्थात् सच्चाई है। प्रेमचन्द जी साहित्य को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उसमें सच्चाई का होना आवश्यक मानते हैं—'साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सच्चाइयों का दर्पण हो।' [१]

सच्चाई से प्रेमचन्द जी का तात्पर्य जीवन के उन प्रत्यक्ष अनुभवों से है, जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य का लक्ष्य है—'हमें निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है और अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।' [२]

प्रेमचन्द जी का उपर्युक्त कथन स्वयं उनके साहित्य पर भी बराबर लागू होता है। उनकी आत्मा एक सच्चे साहित्य की आत्मा थी—उस कवि की आत्मा, जो वहाँ पहुँच जाती, और प्रत्यक्ष अनुभव करती है, जहाँ रवि भी नहीं पहुँच पाता–और तब वह कवि–वह साहित्यकार अपने पात्रों को जबान से खुद बोलता है। उनकी कहानी–'दो बैलों की आत्म-कथा' इसका प्रमाण है। उन दो मूक पशुओं–हीरा और मोती को प्रेमचन्द जी की लेखनी ने वाणी प्रदान की है तथा 'मूक होय वाचाल' की

१. कुछ विचार—भाग १, पृ० ६—प्रेमचन्द
२, कुछ विचार—भाग १, पृ० ११—प्रेमचन्द

भगवत्-कृपा का साहित्यकार की प्रतिभा में चमत्कार दिखा दिया है। इसी प्रकार 'पूस की रात' का झबरा कुत्ता सूखे आम के पत्तों के विशाल जलते हुए ढेर को लांघकर 'पंगु चढ़इ गिरिवर गहन' का दृश्य उपस्थित करता है—यह प्रेमचन्द जी की प्रतिभा का ही कमाल है। मानव संवेदन की ऐसी व्यापक विवृति जिसकी पहुँच चर-अचर तक है—सत् है, यथार्थ है, प्रत्यक्ष अनुभव है।

परन्तु प्रश्न उठता है कि इस सत् या यथार्थ का चित्रण किसलिए? केवल इसलिए कि उसका अस्तित्व है अथवा इसलिए कि वह अनभीष्ट है, उसे नहीं रहना चाहिए। हाँ, प्रेमचन्द जी के यथार्थ की परिधि में जो अज्ञान-रूढ़ि, अन्धकार, अत्याचार, शोषण, उत्पीडन और दारिद्रय है, उनका चित्रण इसलिए कि समाज को इन सबके जटिल बन्धनों से मुक्त करना है। उनकी मान्यता है कि साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं, अपितु वह दीपक भी है, जो उसे प्रकाश देता और मार्ग दिखाता है। इस मार्ग-दर्शन के लिए साहित्यकार में दृष्टि चाहिए। प्रेमचन्द जी के शब्दों में—'उसकी (साहित्यकार की) दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।' [१]

प्रेमचन्द जी यह तो मानते ही हैं—साहित्य का लक्ष्य सौन्दर्य की सृष्टि है, परन्तु इस सौन्दर्य की सृष्टि आध्यात्मिक सामंजस्य से उत्पन्न होती है। 'साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। [२]

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि प्रेमचन्द जी ने जिस आध्यात्मिक सामंजस्य की चर्चा की है वह वस्तुतः मानसिक धरातल की वस्तु है, जीवन एवं व्यवहार की दृष्टि से उसकी पूरी उपयोगिता है। जिन्हें हम मानवता के गुण कहते हैं, उन्हीं का समरस रूप कलाकार का आध्यात्मिक सामंजस्य है। 'यह हममें वफादारी, सच्चाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये सब हैं,

---

१. कुछ विचार—पृ० ११, प्रेमचन्द

२. कुछ विचार—पृ० १३, प्रेमचन्द

वहीं दृढ़ता और जीवन; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध स्वार्थ-परता है, शत्रुता और मृत्यु है।'[1] जाहिर है कि प्रेमचन्द जी का आध्यात्मिक सामंजस्य उस 'नित्य समरसता' के अधिकार से भिन्न है, जो कामायनीकार को काम्य है। क्योंकि वहाँ तो—

'समरस थे जड़ औ चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।'[2]

किसी ऐसे आनन्दलोक के सामंजस्य की बात कही गई है, जो कदाचित् योगियों को प्राप्य है। इस दृष्टि से प्रेमचन्दजी इस धरती के जीव थे; यहाँ के सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, कलह-मेल, पाप-पुण्य, अच्छाई-बुराई—सबसे उन्हें सरोकार था। वे अपने चारों ओर के समाज को आँखें खोलकर देखते और उसे अपने साहित्य में चित्रित करते थे। अतः जीवन, कर्म और संघर्ष से उनका साहित्य सजीव और प्राणवन्त है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सदेश हो।'[3]

अतः जो आध्यात्मिकता व्यक्ति को संसार की नश्वरता का पाठ पढ़ाकर उसे जीवन, कर्म और संघर्ष से विमुख करती है, वह उन्हें कदापि मान्य न थी। साहित्य के इस संसार-विमुखभाव का निरूपण उन्होंने इन शब्दों में किया है—'जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।'[4]

---

१. कुछ विचार—पृ० १३, प्रेमचन्द
२. कामायनी, सर्ग १५, प्रसाद
३. कुछ विचार, पृ० १५, प्रेमचन्द
४, वही, पृ० ८, वही

तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद जी की दृष्टि में उनके युग की छायावादी कविता का प्रेम या शृङ्गार-चित्रण समय की प्रतिकूलता का रोना था। छायावाद का कल्पनाजीवी कवि सामाजिक यथार्थ के धरातल से ऊपर कहीं हवा में तैर रहा था। यौवन के प्रेम में पागल कला प्रेमचन्द जी को पसन्द नहीं थी। वे तो अपने युग के समस्त संघर्ष—राजनीतिक सामाजिक या आर्थिक—को वाणी प्रदान करते थे। अतः उनकी नजरों में जवानी प्रेम का पागलपन नहीं, अपितु जवानी संघर्ष और आत्मत्याग का नाम है—

'हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का।'[1]

स्पष्ट है कि भारतीय जीवन-पद्धति में जो शुभ है, श्रेष्ठ है, आदर्श है, प्रेमचंद को कला के क्षेत्र में वह मान्य है। पाश्चात्य जीवन-दृष्टि भोगपरक है, जबकि भारतीय दृष्टि त्यागपरक। आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान से वह सप्राण है। इसलिये जो आलोचक इस कलम के सिपाही को 'कलम का सौदागर' कहने से नहीं चूकते। उन्हें उनके जीवन-मूल्यों एवं मान्यताओं पर भी दृष्टिपात करना होगा, जो उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में बिखरे पड़े हैं। प्रेमचद कभी धन के पीछे नहीं पड़े। उनका सारा जीवन अभावों की करुण-कथा एवं संघर्षों की जूझती हुई कहानी है। धन के उपासकों के लिए साहित्य-मंदिर में जगह कहाँ ? उन्हीं के शब्दों में—जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिये स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो।'[2]

प्रेमचंद जी जिस मुहब्बत या प्रेम की चर्चा करते हैं, वह उद्दाम-वासना से बिल्कुल पृथक् दिव्य प्रेम है, जिसकी परिधि में सम्पूर्ण मान-

---

१. कुछ विचार, पृ० १६, प्रेमचन्द

२. वही, पृ० १६, प्रेमचन्द

वता ही नहीं सारी सृष्टि आ जाती है। ऐसा दिव्य प्रेम ही दिल में दर्द की तड़प पैदा करता है। इसीलिए उन्होंने प्रेम को आध्यात्मिक खुराक माना है, जिससे कलाकार स्वयं छककर जगत् को तृप्ति प्रदान करता है।

'प्रेम, ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जबतक कलाकार खुद सौन्दर्य से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्यों कर दे सकता है।'[१]

प्रेमचन्द जी ने इस अन्तःकरण और आत्मा के प्रकाश को बराबर महत्त्व दिया है। बाह्य परिवर्तन के लिए आन्तरिक परिवर्तन आवश्यक है। इसीलिए उनकी अधिकांश कहानियों एवं उपन्यासों में पात्रों के हृदय-परिवर्तन द्वारा आदर्श प्रस्तुत किया गया है। हृदय-परिवर्तन की यह पद्धति एकमात्र गाँधीजी का मार्ग ही नहीं है, भारतीय मनीषा मानव के अन्दर प्रतिष्ठित इस देवत्व की अभिव्यक्ति की संभावना में सदा से विश्वास करती आई है। संघर्ष का पथ भी भारत के लिए नया नहीं है, रावण और कंस जैसे अन्यायियों एवं अत्याचारियों का इलाज उनका वध ही रहा है। जहाँ हृदय-परिवर्तन के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती, वहाँ कुरूक्षेत्र के मैदान में महाभारत की संरचना भी भगवत्कार्य है। रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, अज्ञान एवं शोषण की स्थितियों के प्रति विद्रोह भी भारत-भूमि की ही उपज है। बुद्ध, कबीर, नानक, दयानन्द ऐसे ही व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने समाज में व्याप्त दोषों पर निर्मम प्रहार और सड़ी-गली व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह किया है। अतः प्रेमचन्द जी किसी आयातित 'वाद' की उपज नहीं हैं। भारतीय समाज में व्याप्त शोषण, जाति-भेद, दारिद्रय, टूटन-विघटन की उपज हैं प्रेमचन्द। पश्चिम से आई हुई उस हर बात को अपनाने से उन्होंने हमें आगाह किया है, जो मनुष्यता को चर जाती है।

---

१. कुछ विचार, पृ० १२, प्रेमचन्द

सारांश यह है कि प्रेमचन्द जैसे मानवतावादी साहित्यकार को 'वादों' के संकीर्ण घेरे में बाँधना उनके प्रति अन्याय करना है। उनकी कृतियों में वर्तमान के प्रति आक्रोश है, असंतोष है, विद्रोह है और है भविष्य का सुखद संदेश। यदि उनका कोई 'वाद' है, तो वह है मानवतावाद, यदि कोई दर्शन है, तो मानव-दर्शन और कोई कसौटी है, तो मानवता की— 'वे साहित्य को कोरा मनोरंजन का साधन नहीं, अपितु उस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मानते हैं, जिसमें चिन्तन की ऊँचाई और जीवन की सच्चाई है। इसके लिए उनकी दृष्टि में नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है, । हाँ, उनकी उपदेश की विधि में अन्तर है।'[१]

वे यह भी मानते हैं कि 'पुराने जमाने में जो काम समाज के लिए धर्म ने किया वही काम अब साहित्य का है।'[२] धर्म का काम क्या है?— 'जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका [साहित्यकार का]—फर्ज है।' धर्म को प्रेमचन्द जी ने 'फर्ज' के इसी व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है और वस्तुतः 'धर्म' का सच्चा अर्थ भी यही है—वह भारत में कभी 'मत' या सम्प्रदायवाची नहीं रहा।

मनु ने धर्म के निम्नलिखित लक्षण गिनाए हैं—

'धृत्तिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।'

धैर्य, क्षमा, दम (इच्छाओं का दमन), अस्तेय (चोरी न करना), (अन्तर्बाह्य) शौच (पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों को वश में करना), धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्म के दश लक्षण हैं। अब इन लक्षणों में कोई पूजा-पाठ की पद्धति का निर्देश नहीं है, ईश्वर को मानने न मानने का आग्रह नहीं है, किसी पीर-पैगम्बर, संत-महात्मा पर यकीन लाने का दबाव नहीं है। प्रेमचन्द जी जब साहित्य और धर्म के लक्ष्यों में समानता का दर्शन करते हैं, तो उनकी धर्म-सम्बन्धी धारणा का आधार

१. कुछ विचार, पृ० ९, प्रेमचन्द
२. वही, पृ० ९, वही

यही मानवता का व्यापक भाव है। इसीलिए ऐसा साहित्य जो उपयोगी न हो—समाज को सुखी बनाने के काम न आ सके, व्यर्थ है। वे कहते हैं—'मुझे यह कहने में हिचक नहीं है, कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।' क्योंकि कला द्वारा सृष्ट 'सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति सापेक्ष है।'[1] परन्तु धर्म और नैतिकता के नाम पर समाज में जो ढोंग और पाखण्ड प्रचलित था, उसका प्रेमचन्द जी ने विरोध किया है। इस पाखण्ड ने इस देश और समाज का बड़ा अहित किया है। अतः धर्म और नैतिकता के इन पुराने नुस्खों से समाज का रोग ठीक होने वाला नहीं है—"आजमाए को आजमाना मूर्खता है।" इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी।'[2]

यह तो ठीक है कि प्रेमचन्द जी धन की असमानता पर आधारित महाजनी सभ्यता के विरुद्ध थे (हर धर्म इस असमानता का अपने ढंग से विरोध करता ही है), परन्तु उनके विरोध के मूल में भी मानवतावादी आध्यात्मिक दृष्टि थी। सारे मानवीय संबन्धों को 'बिजनेस' में बदलने वाली महाजनी सभ्यता धिक्कार के योग्य है। प्रेमचन्द जी ने सितम्बर १९३६ के 'हंस' में (अपनी मृत्यु से केवल एक मास पूर्व) 'महाजनी सभ्यता' नामक अपना लेख प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने लिखा है—'इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीतियाँ चलाई हैं, उसमें सबसे घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धान्त है। मियां-बीबी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस। सारे मानवीय आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच कोई लगाव है तो बिजनेस का।[3]

प्रेमचन्दजी ने इस पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध और रूस की समाजवादी व्यवस्था का स्वागत किया है, परन्तु उसका आधार अपने

---

१. वही, पृ० १५, प्रेमचन्द

२. कुछ विचार, पृ० १६, प्रेमचन्द

३. हंस, मासिक, सितम्बर १९३६

देश की सामाजिक विषमता विशृङ्खलता, शोषण, अन्याय एवं अत्याचार के प्रति आक्रोश है। अच्छा चाहे वह किसी देश का है, ग्राह्य है, क्योंकि-जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिक उच्चता और सौन्दर्य-बोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी है।'[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द मानवता के उस धरातल पर खड़े हैं, जिसमें मिट्टी और जलवायु तो भारत की है, परन्तु उसे उर्वरा सुन्दर उपवन बनाने के लिये यदि आवश्यक हो तो—विदेशी खाद दिया जा सकता है। ऐसा व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण था प्रेमचन्दजी का।

अंत में उनकी साहित्यिक कसौटी प्रस्तुत करते हुए हम लेख को समाप्त करते हैं—हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।[२]



—अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
एस० आर० के० कालेज
फिरोजाबाद (आगरा)

१. कुछ विचार, पृ० १५, प्रेमचन्द
२. कुछ विचार, पृष्ठ २४, प्रेमचन्द

प्रेमचंद के साहित्य-सिद्धांत

—डा० आनन्दनारायण शर्मा

"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती चलने वाली सच्चाई है।"—प्रेमचन्द (प्रगतिशील लेखक संघ में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से)

उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रेमचन्द की संपूर्ण साहित्य-साधना का निचोड़ है। यह साहित्य और साहित्यकार का महत्त्व बढ़ाने के लिए की गई अतिशयोक्ति मात्र नहीं, प्रत्युत लेखक के जीवन का ऐसा अनुभूत सत्य है, जिसकी प्रतिष्ठा के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहा। प्रेमचन्द ने न तो सिर्फ लिखने के शौक से लिखा और न केवल आर्थिक कारणों से कलम पकड़ी। उन्होंने बराबर एक निश्चित उद्देश्य और लक्ष्य सामने रखकर लिखा है। वह लक्ष्य है जन समाज का पथ-प्रदर्शन और एक बेहतर जिंदगी के लिए संघर्ष।

प्रेमचन्द एक सृजनशील साहित्यकार थे। अतः अक्सर उन्होंने अपने उद्देश्य को अपनी कहानियों और उपन्यासों में फैला कर रखा है। वे जानते थे कि जो काम किस्से-कहानीं सुनाकर, भावों को स्पंदित कर, मन के कोमल तारों को छूकर किया जा सकता है, वह लाख कोशिश करने पर भी उपदेश-निदेशों द्वारा सम्भव नहीं। प्रेमचन्द के पहले हिंदी का कथा-साहित्य अपने 'गल्प' नाम को चरितार्थ कर रहा था। प्रेमचंद ने उसमें जीवन के गहरे सत्यों का विनियोग कर उसे एक सामाजिक शक्ति के रूप में परिवर्त्तित कर दिया। इसी क्रम में उन्होंने साहित्यिक समस्याओं पर भी यत्र-तत्र कुछ विचार व्यक्त किये हैं, जो उनके निबंधों, भाषणों और समय-समय पर लिखी टिप्पणियों में उपलब्ध हैं। चूँकि ये निबंध योजनाबद्ध रीति से नहीं लिखे गये, इसलिए बहुत बार इनमें पुनरुक्ति मिलती है। फिर भी प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को समझने और उनके कथा-साहित्य के मूल्यांकन में इनका महत्त्व निर्विवाद है।

प्रेमचन्द ने साहित्य की अनेक समस्याओं पर विचार किया है। उनके बहुतेरे साहित्य-सिद्धान्त उनके उपन्यासों कहानियों और चिट्ठी-पत्रियों में बिखरे पड़े हैं। निबंधों में उन्होंने प्रमुख रूप से साहित्य की प्रकृति और उद्देश्य, उपन्यास-कहानी के स्वरूप और भाषा की समस्या पर चिंतन किया है। 'जीवन में साहित्य का स्थान' निरूपित करते हुए वे पहले ही वाक्य में जीवन और साहित्य में आधार-आधेय संबंध स्थापित कर देते हैं—"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है।"[१] अन्यत्र वे यथार्थ जीवन के चित्रण और अनुभूति के खरेपन पर बल देते हुए कहते हैं-"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्णरूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।"[२]

लेकिन प्रेमचन्द साहित्य को जीवन का अविकल प्रतिबिंब या अनुवाद नहीं मानते। इसी निबंध में मैथ्यू आर्नल्ड से अपनी सहमति प्रकट करते हुए वे यह भी कह जाते हैं—"साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ, की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या, करनी चाहिए।"[३] 'जीवन की आलोचना और व्याख्या' से प्रेमचन्द का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार वास्तविकता के चित्रण के साथ यह भी दिखाने का प्रयास करे कि जीवन को कैसा होना चाहिये। कोरे यथार्थवाद की सीमाओं का उद्घाटन करते हुए उन्होंने बड़ी स्पष्टता से कहा है—"यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल-से-उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ-न-कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न

---

१. जीवन में साहित्य का स्थान—कुछ विचार, पृ० ८०

२. साहित्य का उद्देश्य—कुछ विचार, पृ० ४ ३. वही

चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है।"[१] यथार्थ के इस अवांछित प्रभाव को दूर करने के लिए आदर्श की आवश्यकता है। साहित्यकार एक इन्जीनियर है, जो हमें सिर्फ जीवन के मलवे ही नहीं दिखाता, उस मलवे को साफ कर भवन-निर्माण की योजना भी प्रस्तुत करता है। आदर्श की महत्ता बताते हुए प्रेमचन्द कहते हैं--"साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिये। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती।"[२]

लेकिन आदर्श पर ध्यान टिकाए हुए इस बात की सावधानी तो रखनी ही होगी कि हमारा सम्पर्क यथार्थ से बिल्कुल छूट न जाये। हम कहीं ऐसे चरित्रों की सृष्टि न कर बैठें जो सिद्धांतों के पुतले मात्र या नितांत हवाई हो, क्योंकि ऐसे चरित्रों का हमारे जीवन पर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ सकेगा। इसलिए प्रेमचन्द बीच का रास्ता अपनाने का आग्रह दिखाते हैं। वे यथार्थ का आदर्श से गठबंधन करना चाहते हैं, जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का नाम दिया है। गरचे उनकी प्रारम्भिक कृतियों में आदर्श का पलड़ा भारी है, मगर इसमें भी कोई शक नहीं कि उनमें उत्तरोत्तर वस्तून्मुखता बढ़ी है, यथार्थ की उनकी पकड़ मजबूत होती गई है।

प्रेमचन्द साहित्य की सोद्देश्यता के कायल थे। उनके संबन्ध में प्रसिद्ध है कि वे ताजमहल अथवा इस प्रकार की अन्य कलापूर्ण इमारतों को देखकर कहा करते थे कि इनका सार्वजनिक हित के लिए उपयोग होना चाहिये। कला के बारे में भी उन्होंने अपनी धारणा दो टूक शब्दों में व्यक्त की है—"मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का कार्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक

---

१ उपन्यास, कुछ विचार—पृ० ४३

२. जीवन में साहित्य का स्थान, कुछ विचार—पृ० ८८.

आनन्द की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वतः एक उपयोगिता युक्त वस्तु है।....कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि कर परिस्थिति को विकास के लिए उपयोगी बनाता है।"[१]

साहित्य भी हमें आनंद देता है। पर कोरा आनंद साहित्यकार का अभीष्ट नहीं। यदि साहित्य का उद्देश्य मात्र प्रसादन या मनोरंजन हो, तब तो उसका स्थान खेल-तमाशे की कोटि में ही कहीं होगा। किंतु साहित्य की विशिष्टता इस बात में है कि वह हमें आनंद के माध्यम से उन्नयन की प्रेरणा देता है। प्रेमचन्द के अनुसार "साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में उसकी बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"[२] साहित्यकार चूँकि 'मन का संस्कार' करता है वह हमें ऊपर उठने की प्रेरणा देता है, इसलिए वह स्वभावतः प्रगतिशील होता है। जिसमें प्रगतिशीलता नहीं, उसे साहित्यकार कहलाने का अधिकार नहीं। तब इतना अवश्य है कि साहित्यकार की प्रगतिशीलता का अर्थ किसी मतवाद की दासता नहीं। इस प्रगति में भौतिक विकास और आत्मिक उन्नयन दोनों ही समाहित हैं। प्रेमचन्द को इकबाल इसीलिए बेहद पसंद हैं और उनको दुहराते वे नहीं अघाते कि इकबाल हममें बेचैनी और तड़प पैदा करते हैं। प्रेमचन्द ने भी 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[३]

प्रेमचन्द ने उपन्यास और कहानी के स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंध पर भी विचार किया है। उपन्यास की मूलभूत विशेषता पर

---

१. साहित्य का उद्देश्य—कुछ विचार, पृ० १३
२. वही—पृ० १०-११
३. वही—पृ० २१.

प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—"मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" [1] उपन्यासकार अपनी कृति द्वारा मानव-चरित्र की गहन रहस्यमयता से हमें परिचित कराता है, अभिन्नता की तह में बैठी भिन्नता और भिन्नता के अंतराल में वास करती अभिन्नता का साक्षात्कार कराता है। लेकिन वह मात्र यथार्थ का चितेरा नहीं, आदर्श का संदेशवाहक भी होता है। प्रेमचन्द का ख्याल है कि 'उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन से ही लेना चाहिए।' उन्होंने सोदाहरण यह दिखाया है कि किस प्रकार चोटी के अनेक साहित्यकारों ने जीवन से कच्चा माल लेकर प्रथम कोटि की कलाकृति की सर्जना की। खुद प्रेमचन्द ने बहुतेरे चरित्र जीवन से सीधी तरह उठाए हैं। यथार्थ के सजीव अंकन के लिए मुंशी, जो नए लेखकों की नोट बुक रखने की भी राय देते हैं; गरचे वे यह कहना नहीं भूलते कि उन्होंने स्वयं कभी नोट बुक नहीं रखी।

उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह अपने पात्रों को सामने लाकर स्वयं ओट में हो जाय। एतदर्थ उपन्यास में कथोपकथन होना अनिवार्य है। जिस उपन्यास में वार्तालाप की मात्रा जितनी अधिक होगी वह उतना ही रोचक होगा। हाँ, तब यह वार्त्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। यह चुस्त तीक्ष्ण और पात्रों के अंतः शील को उद्घाटित करनेवाला हो।

उपन्यासकार के लिए उन्होंने एक और आवश्यक बात बताई है। वह है त्याग और ग्रहण-संबंधी विवेक। "कुशल लेखक वही है, जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो, उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है, तो कहानी में मजा नहीं आता।" [2] यहाँ पर मैं इतना और जोड़ देना चाहूँगा कि लेखक

---

१. उपन्यास—कुछ विचार, पृ० ४१

२. वही—पृ० ५२

में यह विवेक आसान नहीं। इसका एक कारण शायद यह भी है कि सभी पाठकों की कल्पनाशीलता एक जैसी नहीं होती। स्वयं प्रेमचन्द की अनेक प्रारंभिक कहानियाँ और उपन्यास इस विवेक के अभाव में शिथिल हो गए हैं।

कहानियों में अन्य अनेक लेखकों की भाँति प्रेमचन्द ने सबसे पहले उसकी संक्षिप्तता पर बल दिया है—"हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाए।" [१] प्रेमचन्द के अनुसार कहानी का आरंभ आकर्षक होना चाहिए और उसमें अंत तक उत्सुकता बनी रहे। "सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।" [२] कहानी संपूर्ण जीवन का चित्र प्रस्तुत नहीं करती। उसमें केवल एक प्रसंग, आत्मा की एक झलक का सजीव, मर्मस्पर्शी चित्रण होता है।

कहानी के संबंध में ये सब तो औपचारिक बातें हैं और प्रेमचन्द के पूर्व अनेक विदेशी कथाकारों और आलोचकों द्वारा कही जा चुकी हैं। किन्तु एक बात प्रेमचन्द ने ऐसी कही है, जो उनकी गहरी अंतर्दृष्टि और व्यापक लोकचेतना की परिचायिका है। कहानी और उपन्यास का अंतर बताते हुए कहते हैं—"उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिसके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिसके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है।" [३]

कहना अनावश्यक है कि कहानी के इस लोकोन्मुख स्वरूप की ओर इतने स्पष्ट शब्दों में संकेत करनेवाले प्रेमचन्द पहले व्यक्ति हैं। उन्होंने कहानी की इस विशेषता को बहुत पहले पहचान लिया था और जन-जागरण के एक सशक्त माध्यम के रूप में उसका सफलतापूर्वक उपयोग

---

१. कहानी कला—कुछ विचार--पृ० ३१
२. वही—पृ० ३२
३. वही—पृ० २४-२५

किया। उनकी पहली कहानी 'संसार का एक अनमोल रतन' (१९०७ ई०) से लेकर अंतिम कहानी 'कफन' (१९३६ ई०) तक का विकासक्रम उनकी इस मान्यता को उदाहृत करता है।

प्रेमचन्द ने भाषा, विशेष रूप से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर एकाधिक कोणों से विचार किया है। राष्ट्रभाषा के संबंध में उनके विचार इतने सुलझे हुए, ठोस और परिपक्व थे कि आज भी हमें आश्चर्य होता है। राष्ट्र की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है—"राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं कि जिसकी एक विद्या, एक तहजीब हो, एक राजनैतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो।" [1] इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने किसी राष्ट्र के लिए एक संस्कृति और एक राजनीतिक संगठन के अतिरिक्त भाषा की एकता को भी आवश्यक समझा था। अन्यत्र उन्होंने भाषा की एकता के साथ उसकी निजता पर भी बल देते हुए घोषित किया—"जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है ? जब तक आप के पास राष्ट्रभाषा नहीं, तब तक आपका राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का संबंध है।" [2] भारतेन्दु ने भी तो कहा था—निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल !' जो लोग अंग्रेजी के मोह में बुरी तरह जकड़े हैं और उसे राजभाषा के रूप में चिरकाल तक बनाए रखना चाहते हैं, उनके भ्रामक दृष्टिकोण और मिथ्याभिमान पर प्रहार करते हुए प्रेमचंद कहते हैं—"हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नजर नहीं आती।" [3]

प्रेमचंद राष्ट्र की समृद्धि और स्वाभिमान-रक्षा के लिए उसकी अपनी राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य मानते थे। यह राष्ट्रभाषा उनकी

१.आर्य भाषा सम्मेलन, लाहौर में दिया गया भाषण, कुछ विचार–पृ० ७६

२. राष्ट्र भाषा हिन्दी और उसकी समस्याए, कुछ विचार-पृ० ११३

३.वही. पृ० १०३

दृष्टि में "न तो उर्दू हो सकती है, जो अरबी और फारसी के अप्रचलित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों के भार से लदी रहती है।"[१] यह भाषा रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। यह तो किसानों और मजदूरों की समझ में आ सकने वाली भाषा होगी। इसका कलेवर बोलचाल के शब्दों से निर्मित होगा और सुबोधता इसके अस्तित्व की शर्त्त होगी। प्रेमचंद का विश्वास था कि बुनियादी तौर पर 'हिन्दी और उर्दू दोनों एक जुबान हैं। क्रिया और कर्त्ता, फेल और फाइल जब एक हैं, तो उनके एक होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।'[२] इसके बीच का विभेद कृत्रिम है और जानबूझ कर पंडितों और मुल्लाओं द्वारा खड़ा किया हुआ है। वे इस विभेद को समाप्त कर फिर से दोनों भाषाओं को एक दूसरे के निकट लाने को प्रयत्नशील थे। इसीलिए उन्होंने 'हिंदुस्तानी' का समर्थन किया। 'शुद्ध हिन्दी' के समर्थकों से खीझकर उन्होंने कहा—"शुद्ध हिंदी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिंदी होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिंदी होती।"[३] इसी तरह उर्दू वालों की संकीर्णता की भी उन्होंने खुलकर आलोचना की है। हालाँकि उन्होंने 'हिन्दुतानी' का जो व्यावहारिक प्रतिमान सामने रखा, उसमें उनका पक्षपात स्पष्ट ही अरबी-फारसी मूल से निकले शब्दों के प्रति है। लेकिन उनके भाषा-विषयक दृष्टिकोण पर विचार करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रेमचंद उर्दू से हिन्दी में आए थे और अंत तक हिंदी की अपेक्षा उर्दू उनके लिए अधिक सहज थी। फिर भी उन्होंने हिन्दी की जनतांत्रिकता से प्रभावित होकर इसे स्वीकार किया और अपनी रचानाओं तथा भाषणों द्वारा इसके प्रचार-प्रसार में अपूर्व योगदान दिया। जहाँ तक लिपि का सवाल है, उसमें तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में नागरी लिपि की वकालत की, बल्कि तमाम भारतीय भाषाओं के लिए इस एक लिपि को प्रस्तावित किया। उनका कथन है—"हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी

---

१. उर्दू, हिन्दी और हिंन्दुस्तानी,कुछ विचार–पृ० ९२—९३

२. कौमी भाषा का रूप–कुछ विचार, पृ० १२८

३. राष्ट्रभाषा हिंदी और उसकी समस्याएँ--कुछ विचार, पृ० १०७

लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा तो संभव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें।" १

इस तरह प्रेमचंद के साहित्य-सिद्धांत बहुत मौलिक न होते हुए भी लेखक के निजी चिंतन, मनन और अनुभवों के निचोड़ हैं। वे पूरी तरह उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण और जनवादी आस्था को उजागर करते हैं। विशेष रूप से उनके कथासाहित्य के मूल्यांकन की तो इनसे कसौटी ही हाथ आ जाती है।

—प्राचार्य, बरौनी कालेज, बरौनी।



१. वही, पृ० ११९.

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन

—डा० राममूर्ति त्रिपाठी

'सौन्दर्यवादी' समीक्षकों (आचार्य नंददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र आदि) की दृष्टि में प्रेमचंद को वह स्थान नहीं मिलता जो सांस्कृतिक समीक्षक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में है। इसका कारण है द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि और संस्कृति के घटक तत्वों में पक्की निष्ठा। प्रेमचंद के चिंतनपक्ष के उपस्थापक प्रो० मेहता 'गोदान' में यों है "सब कुछ पढ़ चुकने के बाद और आत्मवाद तथा अनात्मवाद की खूब छानबीन कर लेने पर, वह इसी तत्त्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों के बीच में सेवा मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है। वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था, यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिये कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिए असम्भव समझते थे, पर यह धारणा उनके मत में दृढ़ हो गई थी कि प्राणियों के जन्म-मरण सुख-दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। उनका ख्याल था कि मनुष्य ने अहंकार में अपने को इतना महान् बना लिया है कि उसके हर एक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है।" अर्थात् यह सेवाभाव है जो जीवन को चरितार्थता प्रदान कर सकता है। यह मनुष्य ही है जिस स्तर पर चेतना में रचनात्मक वृत्तियाँ उद्रिक्त होती हैं--रागात्मक वृत्ति या प्रेम का चराचर जगत् तक विस्तार हो सकता है—तन्मूलक आत्मीयता की कुक्षि में सारा विश्व आ सकता है--प्रेम का निष्प्रतिपक्ष प्रसार हो सकता है—हमदर्दी की खुली हुई आँख लोकरक्षण और लोकरंजन की ओर उन्मुख कर सकती है।

प्रो० मेहता की धारणा है कि जहाँ जीवन है, चहक है, प्रेम है—वहीं ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना और मोक्ष है।

निष्कर्ष यह कि यदि ईश्वर को मानना भी है, तो संसार के इसी विराट रूप में। इससे हटकर व्यक्ति सुख के लिये एकान्त साधना जीवन

से पलायन है। इस मोक्ष के लिए की जाने वाली उपासना प्रेमात्मक है। उनकी धारणा है—"जो प्राणी प्रेम कर सकता है, वह धर्म, दया, विनय आदि सद्गुणों से शून्य नहीं हो सकता। प्रेम की ज्योति उनके हृदय को प्रकाशित करती रहती है। लेकिन जो प्राणी प्रेम का स्वांग भरकर अपना कुटिल कार्य सिद्ध करता है, उससे ज्यादा नीच नराधम कोई हो नहीं सकता।" (प्रेमाश्रम पृ० ५१४)

प्रेमचन्द हों, प्रसाद हों या रामचन्द्र शुक्ल हों, काशी के ये समकाकालिक साहित्यकार और आलोचक अपने समय के संवेदनशील साहित्यकार तथा प्रखर चिंतक थे। प्रेमचन्द का चिंतन उतना दार्शनिक धरातल का तो नहीं था, पर व्यावहारिक जीवन के समानान्तर प्रवाहित होने वाला सहज प्रातिभ शक्ति का चिंतन था। इन सबके पीछे स्वातंत्र्य संग्राम की चेतना थी और थी सांस्कृतिक नवजागरण की विशिष्ट मान्यताओं की पीठिका। नवजागरण शताब्दियों से उपेक्षित सामाजिक जीवन मुक्तिकामी जागरण था। उसमें सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य में बाधक रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह की अदम्य आकांक्षा और दुर्दमनीय स्वर था। वे मानव और मानवीय मूल्यों की इसी धरा पर, इसी ऐहिक जीवन में लोकमंगल पर्यवसायी चरितार्थता देखना चाहते थे। राष्ट्र की दैहिक, नैतिक और आत्मिक मुक्ति के लिए अपने-अपने ढङ्ग से तीनों साहित्य की सृष्टि कर रहे थे। 'सोयेवतन' की आग प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' में ही नहीं, शुक्लजी के निबंधों में भी है। शुक्लजी दार्शनिक होते हुए भी 'प्रसाद' के 'तितली' में अभिव्यक्त 'व्यक्तिवादी अध्यात्मवाद'से दूर थे। प्रेमचन्द की भाँति शुक्लजी 'मुक्ति' और 'उपासना' की व्याख्या मानवीय सामाजिक जीवन के ही संदर्भ में करते थे। परम्परागत अध्यात्म की शब्दावलियों की नई व्याख्या का यह युग था, जहाँ 'भक्ति' 'मुक्ति' 'उपासना' 'मंगल' की बुद्धि-संगत व्याख्या की जा रही थो। शुक्लजी की दृष्टि में 'भक्ति' और कुछ नहीं, धर्म की ही रसात्मक अनुभूति का नाम है और धर्म 'अव्यक्त' के 'सत्' (अस्तित्व और अच्छाई) पक्ष की व्यक्त प्रवृत्ति का नामान्तर है। ईश्वर और कुछ नहीं, मनुष्य की अनुभूति में आई हुई लोक रक्षणात्मक और रचनात्मक संभावना का लोकमंगल पर्यवसायिनी प्रतिमा का ही नामान्तर है। 'मुक्ति' व्यक्तिगत राग और द्वेष के बंधन से मुक्त व्यष्टि हृदय का समष्टि हृदय में लीन हो जाना ही है। 'करुणा' और 'प्रेम' मानवता के

बीच भाव हैं। इस व्यष्टिहृदय के समष्टिहृदय में विलयन रूपी मुक्ति का सबसे बड़ा बाधक है—अहम्। प्रेमचन्द कहते हैं—हमारे पथ में अहं-वाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला न हमारे लिए व्यक्ति रूप में उपयोगी है और न समुदाय रूप में।

'कर्मभूमि' में अमरकान्त और 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर दोनों देह-भूमि से ऊपर उठकर नैतिक भूमि पर प्रतिष्ठित होते हैं और सेवामार्ग काम की नजात के लिए ग्रहण करते हैं। पर मनुष्य को सर्वत्र छिप-छिप कर गिराने वाला एक 'शैतान' है अहम्। यह जब तक सारी क्रियाओं के मूल में सक्रिय रहेगा, तब तक सारी क्रिया का केन्द्र इसी की संतुष्टि होगी वास्तविक लोकमंगल नहीं। अमरकान्त और प्रेमशंकर वर्षों बाद जब, आत्मनिरीक्षण करते हैं—तब भीतर इस शैतान को ही छिपा पाते हैं। 'कर्मभूमि' में 'कालेखां' की निष्ठा, सहिष्णुता, मानवीयता और त्याग जेल में अमरकान्त को प्रभावित करते हैं–तब उसकी सच्ची सेवाभावना जाग्रत होती है। प्रेमचन्द अमरकान्त की आत्मा का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—कालेखां की मृत्यु ने जैसे उसका हाथ पकड़कर बलपूर्वक उसे उस गहराई में डुबो दिया और उसमें डूबकर उसे अपना सारा जीवन किसी तृण के समान ऊपर तैरता हुआ दीख पड़ा, कभी लहरों के साथ आगे बढ़ता हुआ, कभी हवा के झोंकों के साथ पीछे हटता हुआ, कभी भँवर में पड़कर चक्कर खाता हुआ। उसमें स्थिरता न थी, संयम न था, इच्छा न थी। उसकी सेवा में भी दम्भ था, प्रमाद था, द्वेष था। उसने दंभ में सुखदा की उपेक्षा की थी। उस विलासिनी के जीवन में जो सत्य था, उस तक पहुँचने का उद्योग न करके वह उसे त्याग बैठा। उद्योग करता भी क्या? तब उसे इस उद्योग का ज्ञान भी न था। प्रत्यक्ष ने उसके भीतर वाली आँखों पर परदा डालकर रखा था। प्रमाद में उसने सकीना के प्रेम का स्वांग किया। क्या उस उन्माद में लेशमात्र भी प्रेम की भावना थी? उस समय मालूम होता था, वह प्रेम में रत हो गया है, अपना सर्वस्व उस पर अर्पण किये देता है, पर उस प्रेम में लिप्सा के सिवा उसे और कुछ न दिखाई देता था। लिप्सा ही न थी, नीचता भी थी। उसने उस सरल रमणी की हीनावस्था से अपनी लिप्सा शान्त करनी चाही थी। फिर मुन्नी उसके जीवन में आई—निराशाओं

से भग्न, कामनाओं से भरी हुई। उससे उसने कितना कपट व्यवहार किया। यह सत्य है कि उसके व्यवहार में कामुकता न थी। वह इसी विचार से अपने मन को बहला लिया करता था लेकिन अब आत्मनिरीक्षण करने पर स्पष्ट ज्ञात हो रहा था कि उस विनोद में भी, उस अनुराग में भी कामुकता का समावेश था। तो क्या वह वास्तव में कामुक है ? इसका जो उत्तर उसने स्वयं अपने अन्तःकरण से पाया, वह किसी तरह से श्रेयस्कर न था। उसने सुखदा पर विलासिता का दोष लगाया, पर वह स्वयं उससे कहीं कुत्सित, कहीं विषयपूर्ण विलासिता में लिप्त था....(कर्मभूमि)।

ठीक यही दशा 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर की भी है। वह भी अमरीका से नई रोशनी लेकर आया है और कोठी पैलेस छोड़कर शोषितों को सेवा और त्याग द्वारा खुशहाल करने में लगा है। फिर भी उसका 'अहम्' शान्त नहीं है। मूल में सक्रिय है। प्रेमचन्द उससे भी आत्मनिरीक्षण कराते हैं। गोसखां की हत्या के फलस्वरूप जब सारा गाँव जेल चला जाता है और जेल में मनोहर आत्महत्या कर लेता है—तब जीवन में पहली बार जेल में दारोगा के द्वारा प्रेमशंकर की दयार्द्रता और सदिच्छा की अवहेलना की जाती है। उसका ऐसा असर पड़ता है, मानों वे अपने किसी प्रिय बन्धु की दाहक्रिया करके जेल से वापस लौटे हों। अब प्रेमशंकर का आत्मानिरीक्षण प्रेमचन्द के ही शब्दों में देखें—"कुछ समझ में न आता था कि जीवन का लक्ष्य क्या बनाया जाय ? क्षुद्र लौकिकता से चित्त को घृणा होती थी और उत्कृष्ट नियमों पर चलने के नतीजे उलटे होते थे। उन्हें अपनी विवशता का ऐसा निराशाजनक अनुभव कभी न हुआ था। मानवबुद्धि कितनी भ्रमयुक्त है, उसकी दृष्टि कितनी संकीर्ण है। इसका ऐसा स्पष्ट प्रमाण कभी न मिला था। यद्यपि वह अहंकार अपने पास कभी न आने देते थे, पर किसी गुप्त मार्ग से उनके हृदय स्थल में पहुँच जाता था। अपने सत् कार्यों को सफल होते देखकर उनका चित्त उल्लसित हो जाता था और हृदयकणों में किसी ओर से मन्द स्वरों में सुनाई देता था 'मैंने कितना अच्छा काम किया।' लेकिन ऐसे प्रत्येक अवसर पर एक ही क्षण के उपरांत उन्हें कोई ऐसी चेतावनी मिल जाती थी जो उनके अहंकार को चूर-चूर कर देती थी। मूर्ख तुझे अपनी सिद्धान्तप्रियता का अभिमान है। देख, वे कितने कच्चे हैं ? तुझे

अपनी बुद्धि और विद्या का घमण्ड है ? देख, वह कितना भ्रान्तिपूर्ण है। तुझे अपने ज्ञान और सदाचार का गरूर है ? देख वह कितना अपूर्ण और भ्रष्ट है ? क्या तुम्हें निश्चय है कि तुम्हारी ही उत्तेजनाएँ गोसखां की हत्या का कारण नहीं हुई ? तुम्हारे ही कटूपदेशों ने मनोहर की जान नहीं ली ? तुम्हारे ही वक्र नीतिपालन ने ज्ञानशंकर को, श्रद्धा को तुमसे विमुख नहीं किया।" (पृ० २५३)

प्रेमचन्द के इन विवरणों से कितना स्पष्ट है कि अहंकार को उन्होंने कितना खतरनाक तत्व माना है ? आत्मविकास के क्षेत्र में पूरा शैतान का काम करता है। कितनी सहजता से जीवन का कलात्मक उरेह करते हुए भारतीय चिंतन का मर्म 'कर्मयोग' और 'समत्व योग' उतार दिया है। सेवामार्ग या 'कर्मयोग' तब होता है जब 'अहंकार' प्रेरक न रह जाय। यह 'अहंकार' की तुष्टि है जो सेवामार्गी आत्मविकास और लोकमंगल का भी साधक अपनी सफलता पर पुलकित होता है और अपमान पर खिन्न। ये ही पुलक और खेद--जो अहंकार के रूप है--जब तक प्रवर्त्तक और निवर्त्तक होते हैं--तब तक उसकी सारी सेवा दंभ कही जाती है, क्योंकि वह अहम् की तुष्टि के लिये होती है--लोकमंगल के लिये नहीं।

गीता कहती है कि कर्मसंन्यास से कर्मयोग विशेष महत्व का है। कर्मयोगी की बुद्धि में 'समता' की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। कारण है, कर्म से ज्ञान की श्रेष्ठता। सर्वोच्च योग है-बुद्धिगत समता की प्रतिष्ठा। अनुकूल फल के प्रति झुकाव और प्रतिकूल फल के प्रति द्वेष-इसी का नाम विषमता है। गीताकार का निर्णय है कि कर्तव्य और वैयक्तिक रागात्मक लगाव दोनों में संघर्ष होने पर विश्वोपासना के माध्यम से आत्मविकास के अभिलाषी को रागात्मक लगाव को त्याग देना चाहिए। परिणाम में अनुकूलता का आसंग साधक को कर्तव्यच्युत कर देता है। जिसे अनुकूलता में प्रफुल्लता होगी, आसक्ति होगी उसे प्रतिकूलता में खेद होगा द्वेष होगा, फलतः वह सेवामार्ग से विमुख हो सकता है। अतः प्रतिकूलता और अनुकूलता उभयत्र समत्व भाव रखना चाहिए। महत्व विश्वात्मा के निमित्त किए जाने वाले कर्तव्य को देना चाहिए। विषमता ठीक इसके विरुद्ध है जो कर्ता को रागांध बनाकर दूसरों की ही नहीं, स्वयं की भी

हिंसा करा डालती है। इसीलिए 'हिंसा' सबसे बड़ा अधर्म और 'अहिंसा' परमधर्म है।

'परमधर्म श्रुति-विदित अहिंसा'

फलतः यदि आत्महिंसा और परहिंसा से बचना हो तो विषमता को छोड़ना होगा। विषमता तभी आयगी, जब आसक्ति आयगी और आसक्ति तभी जायगी जब 'अहंकार' ज्ञात होगा—अहंतुष्टि की भूख निःशेष हो जायगी 'समता' में साधक प्रतिष्ठित हो जायगा। सच्चा संन्यासी वही है, जो अनासक्त हो राग-द्वेष से ऊपर हो—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति

जो अनुकूलता और प्रतिकूलता, मानापमान, जयाजय सर्वत्र समबुद्धि हो—वही कर्मयोगी है—वही विश्वात्मा का सच्चा उपासक है।

'सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वाः समत्वं योग उच्यते'

प्रेमचन्द के इन्हीं विचारों को देखकर कहा जाता है कि 'प्रेमाश्रम' गांधीवाद का बाइबिल है।

गांधी एक ही 'सत्य' के दो पहलू मानते हैं—साध्यरूप में एक सत्य है और साधन रूप में वही 'अहिंसा'। अहिंसा के द्वारा ही 'सत्य' को पाने का आग्रह सत्याग्रह है। 'हिंसा' इससे विपरीत है—वह असत्य के प्रति आग्रह का नामान्तर है—उससे असहयोग करना है। अहं की तुष्टि के लिए कुछ करना असत्य है, आत्महिंसा है-अहं अपना अधःपतन है। ऐसा ही रागांध परहिंसा करता है। अहं की ओर झुके हुए अमरकान्त तथा प्रेमशंकर—दोनों आत्मनिरीक्षण द्वारा इसी तत्व का साक्षात्कार करते हैं।

श्री तिलक नवजागरण के प्रमुख स्तम्भों में थे। सांस्कृतिक नवजागरण कर्मवादी था। उस समय के क्रान्तिकारी भी एक हाथ में पिस्तौल और दूसरे हाथ में गीता बराबर देखते थे। यही कर्मवादी स्वर यहां भी मुखर है।

भारतीय चिंतन में श्री अरविन्द भी 'अहंवाद' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—अज्ञानी जीव मूर्खतावश और दुर्भाग्यवश अपनी अहंबुद्धि

के साथ तदाकार हो जाता है। उसकी यह अहंबुद्धि कितना ही बड़ा स्वांग क्यों न रचे, पर है प्रकृति के ही कार्य करने का एक छोटा सा अंग, एक मानसिक ग्रन्थि मात्र, एक केन्द्र जिसे पकड़कर प्रकृति की कर्म धाराओं का खेल चला करता है। इस ग्रन्थि को तोड़ना, अपने कर्मों का केन्द्र और भोक्ता इस अहम् को न बने रहने देना है। प्रेमचन्द यहां तक की बात तो करते हैं, पर इससे आगे वे मौन हैं—उसी ज्ञानी बुद्ध की तरह जो सब प्रकार के अनर्थों का मूल मानता है—'मैं' अहंकार से तादात्म्यापन्न आत्मा को, अतः उसका निषेध करता है। प्रसाद जी ने स्कन्दगुप्त में ठीक कहा है—भगवान् बुद्ध ने अहंकार-मूलक आत्मवाद का खण्डन किया था (औपनिषद् आत्मवाद का नहीं) अन्यथा महमैत्री और करुणा की आवश्यकता क्या थी।

प्रेमचन्द जिस 'नजात' की कामना करते हैं और बंधन से परहेज, वह बंधन है—आपस का भेद। मुक्ति विरोधी गुलामी की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—'हम इसलिए गुलाम है कि हमने खुद गुलामी की बेड़ियां अपने पैरों में डाल ली है। जानते हो कि यह बेड़ी क्या है? आपस का भेद। जब तक हम इस बेड़ी को काटकर प्रेम करना न सीखेंगे, सेवा में ईश्वर का रूप न देखेंगे, हम गुलामी में पड़े रहेंगे (कर्मभूमि, पृ० ३७५)। यदि नैतिक स्तर पर हम स्वतंत्र हो गए, तो भौतिक स्तर की स्वतंत्रता अपने आप मिल जायगी, भौतिक स्वातंत्र्य के लिए अब हिंसक क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है—अब विश्वमत हिंसा के वातावरण से विपरीत बन रहा है। प्रेमचन्द उस स्वराज्य को निरर्थक मानते हैं जो परतंत्रता की पाशविक अनैतिक मनोवृत्तियों को जिलाती रहे। वे उस स्वराज्य के स्वप्नदर्शी हैं जो देहवाद पर नीतिवाद को हावी रखे। तुलसी ने भी कहा है—

सचिव विरागु विवेक नरेहू

रामराज्य, गांधी जिसका स्वप्न देखते हैं—यों विवेक ही नरेश या सर्वोच्च सत्ता होता है—वह विवेक, जिसे अनासक्ति का साचिव्य या सहाय्य प्राप्त है—अहिंसा का बल प्राप्त है। 'प्रेमाश्रम' का बलराज कहता है "अब आपकी दया से गांव में रामराज्य है" (४२४)। मायाशंकर के माध्यम से प्रेमचन्द ने गांधी का 'रामराज्य' मूर्त कर दिया है। कृषक-

समाज मुक्त है। दोनों ही कृतियों में कृषक के नजात की ही बात की गई है—और जगह-जगह इसे 'साम्यवाद' कहा गया है। प्रेमशंकर यहां आत्मपीडन के माध्यम से ही लोगों का हृदय-परिवर्तन करते हैं। अंततः परिवर्तित हृदय वाले-ज्ञानशंकर, इर्फान अली ईजाद हुसैन, डा० प्रियनाथ, लाला दयाशंकर-सभी प्रेमशंकर के संकल्पित रामराज्य स्वप्न को मूर्त करते हैं।

–प्रोफेसर 'नवीन' चेयर
अध्यक्ष, स्कूल ऑफ स्टडीज् इन् हिन्दी,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
(मध्य प्रदेश)



प्रेमचन्द : दिशा और देन

डॉ० सियाराम शरण प्रसाद, (एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्)

अनेकानेक अनुभूतियों, संवेदनाओं, यथार्थमयता, परिवेश और चेतना के उज्ज्वल प्राणवान् तथ्यों की समन्वय-भूमि पर युग-युगान्तर से सूक्ष्म-दर्शी सुहृद् कलाकारों ने साहित्य का निर्माण किया है। हिन्दी-गद्य की लघु धारा ने हिमालय-श्रृङ्ग से निसृत हो, मार्गगत संकीर्ण काराओं का सीमोल्लंघन कर प्रेमचन्द, वृन्दावन लाल वर्मा और राजा राधिकारमण के भागीरथ प्रयत्न से विस्तृत समतल का संस्पर्शन और उर्वरता का नियोजन कर समर्थ गंगा का विराटत्व ग्रहण किया; इसका मूल्यांकन भी निरपेक्ष ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है। मेरे मतानुसार इस दृष्टि से अब तक लिखे गए हिन्दी-साहित्य का इतिहास बड़ा अपूर्ण और त्रुटिसंगत है। इतिहास-निर्माण में जिस स्वस्थ मूल्यांकन की अपेक्षा है, उस पर के केन्द्रित किये बिना इतिहास-दृष्टि दोषयुक्त होगी ही।

हिन्दी-गद्य की विविध भावभूतियों के व्यापकत्व-ग्रहण का युग १९०० के आरम्भ से स्वीकृत है, जब अल्पजीवन की मुक्त सांस के पश्चात् नया मोड़ ले प्रेमचन्द, वृन्दावन लाल वर्मा और राजा राधिकारमण उपस्थित हुए। तीनों की तीन धाराएँ थीं, तीन प्रेरणाएँ थीं, तीन क्षितिज के निर्माण की सुकल्पनाएँ थीं। यह अत्यन्त आश्चर्यमूलक तत्त्व है कि हिन्दी-आलोचक केवल प्रेमचंद की दिशा के मूल्यांकन को ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझते रहे और अन्य प्रमुख दिशाओं को नहीं समझ सके। प्रस्तुत निबंध में उक्त तीन दिशाओं, परिमाणों, धरातलों की चर्चा हम करेंगे।

प्रेमचन्द—ग्रामीण+सामाजिक+राजनैतिक+पारिवारिक

वृन्दावन लाल वर्मा—पारिवारिक+सामाजिक+राजनैतिक+ऐतिहासिक

राजा राधिकारमण—सामाजिक+पारिवारिक+आध्यात्मिक

१. मध्यवर्ग+निम्नवर्ग—मुख्यतः प्रेमचन्द साहित्य में।

२. सामन्ती वर्ग+धनी वर्ग+मध्य वर्ग+निम्न वर्ग—वृन्दावन लाल वर्मा में; ऐतिहासिक उपन्यासों में मुख्यतः सामन्ती वर्ग और उससे सम्बन्धित वर्ग।

३. धनी वर्ग+निम्न वर्ग+मध्यवर्ग—मुख्यतः राजा राधिकारमण के साहित्य में।

फिर भी प्रेमचन्द-साहित्य में निम्न बर्ग, वृंदावन लाल वर्मा के साहित्य में सामन्ती वर्ग तथा राजा जी के साहित्य में धनीवर्ग बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उक्त तीनों कलाकारों के पूर्व हिन्दी-गद्य निसृत होकर भी तन्वी स्थिति में था, तथैव वह ऐय्यारी और हितोपदेश तथा मित्रलाभ-पद्धति पर अनुरक्त था, जिसमें उपदेश तथा जिज्ञासा की प्रधानता थी; स्वाभाविकता, सामाजिक आवेष्ठन का यथार्थ और सामान्य जीवन की छवियाँ अंकित और निवेष्ठित नहीं हो पाई थीं, वह प्राण-प्रतिष्ठान में प्रधान नहीं हो पाया था। प्रेमचन्द के पूर्व-प्रणेताओं में मुख्यतः चन्द्रकान्ता के सन्तति के रचयिता देवकी नन्दन खत्री (सं० १९१८-१९७९), गहमरी (१९२३-२००३), 'परीक्षा-गुरु' के प्रणेता पं० किशोरी लाल गोस्वामी (सं० १९२२–१९८९) आदि का नाम आता है, जिन्होंने हिन्दी की सेवा हिन्दी-पाठकों की संख्या की अभिवृद्धि कर, मुख्यतः की और हिन्दी की ओर जनता का ध्यान उन्मुख किया। परन्तु तब तक चरित्र और अन्य औपन्यासिक अपेक्षित तत्त्व मुखरित नहीं हो पाये थे।

मूल—

१—(क) प्रेमचन्द—सामान्य जीवन की उत्प्रेरणा और आदर्श [का आग्रह

(ख) वृंदावन लाल वर्मा—ओज तत्त्व, वीर भावना

(ग) राजा राधिकारमण–समन्वय तत्त्व, शान्ति-भाव

२—(क) प्रेमचन्द—सामाजिक ग्राम-जीवन मुख्यतः तथा निम्न वर्ग

(ख) वृन्दावन लाल वर्मा—राज परिवार, सामन्ती वर्ग मुख्यतः

(ग) राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह--उच्चवर्ग, धनीवर्ग और मध्यवर्ग मुख्यतः

३—(क) प्रेमचन्द—कथानक के साथ निम्न भूखण्डों; वर्गों के चित्रण मे युगान्त का पदार्पण

(ख) वृंदावन लाल वर्मा--ऐतिहासिक क्षेत्र में नवोन्मेषी दृष्टि और मौलिकता

(ग) राजा राधिकारमण--भाषा के क्षेत्र में युगान्तर

४—(क) प्रेमचन्द--सामान्य रूप

(ख) वृन्दावन लाल वर्मा—वीरत्वपूर्ण

(ग) राजा राधिकारमण—दार्शनिक और पहेली एवं विचित्र रूप

साम्य

(१) सामाजिक चित्रण की प्रवणता
(२) चरित्र का जीवन्त दर्शन, प्राकृतिक मनोभूमि
(३) कथानक की रोचकता
(४) आदर्शोन्मुख यथार्थ, सात्विक प्रेरणा
(५) भारताय जीवन में सांस्कृतिक प्रतिष्ठान
(६) मनोवैज्ञानिक परोक्षण
(७) प्रेमतत्व के विस्तार की आकांक्षा
(८) शिल्प से अधिक भावपक्ष पर दृष्टि
(९) भाषा के परिमार्जन का अभाव
(१०) सूक्तियों के प्रति आधुनिक लेखक अज्ञेय की तरह विशेष आसक्ति नहीं
(११) नवीन चेतना, नवीन मूल्यांकन की प्रेरणा
(१२) नारी पात्रों के प्रति विशेष जागरूकता
(१३) उलझी संवेदनाओं का सर्वथा अभाव (आज मनोविज्ञान के प्रभाव में आधुनिकता और नवीनता के पीछे अनेक लेखक दिग्भ्रमित हो रहे हैं।)

प्रेमचन्द (१९३०-१९९३ सं०), वृंदावन लाल वर्मा (१८८९ में जन्म) और राजा राधिकारमण प्र० सिंह (१८९१ में जन्म) में यद्यपि अनेक साम्य आलोचकों को दृष्टिगत होंगे, परन्तु इसके विपरीत स्वतन्त्र और मौलिक क्षेत्रों का समादर साहित्यिक मूल्यांकन के निमित्त ध्यातव्य होगा।

तीनों महत्राणों में सामाजिक चित्रण की प्रवणता अभूतपूर्व है। उनके चित्र निष्प्राण, निस्तेज एवं धुँधले कदापि नहीं वरन् सशक्त, सप्राण, मर्म को स्पर्श कर मनःस्थिति को संवेदनशील बनाने में सक्षम है। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द के 'गोदान' और 'गबन', वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'झाँसी की रानी' लक्ष्मीबाई, 'मृगनयनी' और राजा राधिकारमण सूचित 'राम-रहिम' सूरदास आदि का मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं। निश्चय ही उनके चरित्रों का जीवन्त रूप पाठकों को मिलता है। राजा साहब द्वारा चित्रित बिजली और बेला ('राम-रहिम'), सूरदास धनिया ('सूरदास'), गुलाबी ('चुम्बन और चाँटो') मीनी (पूरब और पच्छिम'), अजीत, सुधा ('पुरुष और नारी'), वृन्दालाल वर्मा के दलीप सिंह ('कचनार'), मृगनयनी, लाखी ('मृगनयनी'), टहल, देशराज ('अमर बेल'), लक्ष्मीबाई, गौसभां सुन्दर मुन्दर ('झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई'), गौरी हिमानी ('भुवन विक्रम') माधवजी ('माधव जी सिन्धिया'), सरस्वती उजियारी ('प्रेम को भेंट') आदि तथा प्रेमचन्द होरी, गोबर, धनिया (गोदान), जालपा, रमानाथ (गबन), सुमन (सेवा सदन) सूरदास (रंगभूमि), आदि साहित्य के अमर पात्र हैं, जिनके जीवन्त स्वर युगयुगान्तर गुंजित होते रहेंगे।

(३) कथानक की रोचकता कला-सृष्टि के साफल्य के निमित्त अनिवार्य तत्त्व हैं, जिनका उपयोग आलेख्य सहित्यवेत्ताओं ने किया है। उनकी कृतियों में जिज्ञासा और औत्सुक्य की मात्रा पूर्णरूपेण है। इनकी कृतियों में प्रायः कथानक अनेक मोड़ और पगडंडियों पर संचारित होता चलता है और अनुपात से विस्तृत होता है। इसके पीछे मूलरूप में पृष्ठभूमि में कुछ अनिवार्य दृष्टिकोण है। उनके पूर्व खत्री आदि ऐय्यारी और जासूसी कृतियों से, विभिन्न औत्सुक्यपूर्ण कथानकों से जनरुचि के एक स्वाद दे चुके थे, एक मनोरंजन दे चुके थे। अतएव (क) उनकी कृतियों का प्रभाव (अंशतः) एवं (ख) जनरुचि को ध्यान में रखकर समुचित लक्ष्य की ओर सफलतापूर्वक उन्मुख करने के लिए यह अपेक्षित था। वे वातावरण का ध्यान रखकर दिशा का परिवर्त्तन पथ की ओर कराना चाहते थे, जिसके फलस्वरूप हिन्दी के पाठकों ने इनके स्वागत में व्याघात उपस्थित नहीं किया और उन्हें (पाठकों को) स्वस्थ भोज्य भी प्राप्त हुआ। तीनों ने

यथासंभव निकट एवं अगल-बगल से कथानक चयन किया है। वृन्दावन-लाल वर्मा के सम्बन्ध में कुछ लोग शंका की दृष्टि से देख सकते हैं। वर्माजी ने इसी निकटता के विभिन्न अपने निकट ऐतिहासिक भूमि का संस्पर्शन किया, जिनके विषय में उन्होंने अपने मित्रों, अभिभावकों आदि द्वारा सुना। फिर उनके सामाजिक उपन्यास भी इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं। 'जानी-सुनी-देखी माला (राजा राधिका रमण) इस दिशा में प्रयास है। राजा साहब स्वयं कहा करते थे कि उनके उपन्यासों के सभी पात्र सच्चे हैं, काल्पनिक नहीं।

प्रेमचन्द्र

"हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनो सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष भी बना रहे। कला के लिए कला का समय वह होता हैं, जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राज-नीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, उधर दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।"

राजा राधिका रमण

कला के अन्दर तो रोचकता ही नहीं, उपयोगिता भी चाहिये।" "आखिर सच्चाई बड़ी चोज है जरूर; पर सच्चाई के दामन पर कला की सजाई और पच्चीकारी भी मिली-जुली रहे, तो फिर उपयोग के साथ-साथ उपभोग का संयोग सोने में सुहागा का असर लाये।"—चुम्बन और चाँटा।

वृन्दावन लाल वर्मा

मैं तथ्य का उपासक हूँ; तथ्य को सूचनात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत करना मैं सत्य की पूजा और कला का प्राण समझता हूं। यदि यह प्रस्तुतीकरण निरुद्देश्य है या 'कला के लिए कला' आदर्श है—तो व्यर्थ है। केवल मनो-रंजन या मनोविश्लेषण लेखक का सामाजिक कर्त्तव्य नहीं है। सामाजिक कर्त्तव्य की सीमा दिखलाई नहीं पड़ती, परन्तु अपनी-अपनी परिधि की स्थापना तो की ही जा सकती है।"

भारतीय जीवन में सांस्कृतिक प्रतिष्ठान की मनोदशा तीनों में प्राप्य है। उनके पात्र भारत की भूमि से उत्पन्न भारतीय संस्कृति और संस्कार के प्रतीक हैं। अहिल्याबाई, रूपा, सोना, कचनार, कुमुद वृंदावन लाल वर्मा), निर्मला, धनिया (प्रेमचन्द), बेला, गुलाबी (राजा राधिका रमण)।

(६) मनोवैज्ञानिक परीक्षण (Psychological observation) प्रेमचद-साहित्य से मुख्यतः आरम्भ होता है। इसके पूर्व अविश्वसनीय और आकस्मिक तत्त्वों का प्राबल्य था। प्रेमचंद, वृन्दावनलाल वर्मा और राजा साहब की यह देन भी इतिहासकारों के समक्ष विचारणीय है। होरी का ग्वाले को ठगकर गाय प्राप्त करना, संस्कार एवं आवेष्टन के फलस्वरूप दारिद्रयपूर्ण जीवन में गाय की लालसा, नारी का आभूषण-प्रेम, जमींदार साहब का डाकू पर क्रोध, गुलाबी को पढ़ने की आन्तरिक अभिलाषा, मानसिंह का प्रेम आदि सभी मनोवैज्ञानिक जीवन के नैसर्गिक रूप सत्यता से सूक्ष्म निरीक्षण के उदाहरण हैं।

(७) प्रेमतत्त्व के विस्तार की आकांक्षा उपर्युक्त निर्माताओं में व्यापक रूप से समाविष्ट है। युग की अनास्थापरक परतंत्रता के कष्टप्रद शृंखलाबद्ध जन-जीवन में भौतिकवादी स्वार्थान्ध तथा अहम् के व्यापक उद्दाम के युग में उक्त जीवन्त एवं पीयूष तत्त्व—जिसका प्रचार काव्य के माध्यम से छायावादी कवियों के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त आदि तथा अन्य धाराओं के कविगण तथा प्रान्तीय भाषाओं के कलाकार जैसे शरत्, रविबाबू आदि एवं राजनैतिक क्षेत्र से महात्मा गांधी अपने अन्तःकरण सबल भावना से कर रहे थे–अहिल्याबाई, लक्ष्मीबाई, मीनी, सोफिया आदि में वांछित रूप में यह तत्त्व देखा जा सकता है।

(८) शिल्प से अधिक भावपक्ष पर दृष्टि इन तीनों कलाकारों की आधारशिला है। राजा साहब की शैली निराली अवश्य है और उनमें प्रेमचंद और वृन्दावनलाल वर्मा से थोड़ी अधिक सजगता है, परन्तु यह उनके सम्पूर्ण जीवन में भींगी हुई एवं समा गई शैली है।

(९) भाषा के परिमार्जन का अभाव उक्त कलाकारों में निश्चित ही देखा जा सकता है। तीनों सादगी के उपासक हैं अतः वे भाषा के

विद्वान् के रूप में नहीं आए। प्रेमचंद और वृन्दावनलाल वर्मा की भाषा में जहाँ सरलता है, वहाँ उर्दू का चापल्य राजा साहब में है। भाषागत दोष के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वर्माजी में क्षेत्रीय शब्द और मुहावरे भी पर्याप्त हैं। इन तीनों साहित्यकारों में सूक्तियों का प्रबल आग्रह नहीं मिलता है।

(१०) हम उनमें उलझी संवेदना नहीं देखते, जो आज के नवीनता के आग्रहियों में पाते हैं। मनोविज्ञान के मनन-अध्ययन से प्रभावित आज के बहुत से लेखक स्वयं उलझते जा रहे हैं। हमारे आलोच्य गद्य-निर्माताओं में मानव विज्ञान तथा मनोविज्ञान की सूक्ष्म परख अवश्य है और जीवनानुभव का समन्वय भी है। उन्होंने जीवन के विविध पक्षों तथा नाना अनुभवों से विचार-सन्दर्भ तैयार किया है। उनके समक्ष लक्ष्य है, अनुभव है, समाज का व्यापक रूप विवृत है, अहम् का दुराग्रह नहीं है, ईमानदारी और सचाई-साधना की पृष्ठभूमि है, समुचित क्षितिज-निर्माण की सुदृढ़ कल्पना है।

(११) नारी के सात्त्विक प्रेम तथा उसके उचित सम्मान की भावना हम तीनों में पाते हैं। इसके पूर्व हिन्दी में नारी अधिक विशद रूप में समादृत नहीं हुई थी। प्रेमचंदजी के वक्तव्यों को देखें—(क) "स्वदेश की किसीने अभी तक व्याख्या नहीं की, पर नारियों की मानरक्षा उसका प्रधान अंग है और होना चाहिए।"—रंगभूमि, पृष्ठ ४८४।

(ख) मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है; वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या और सबसे महान् विजय" गोदान, पृष्ठ ४३२।

(ग) मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से।—गोदान, पृष्ठ २४४

इसी तरह वृन्दावनलाल वर्मा नारी-जीवन में ओज तत्त्वों के आग्रही रहे हैं। उन्होंने ओज को जीवन का शृंगार स्वीकार किया-सिद्धिका साधन माना। उनके साहित्य में आदर्श प्रतिष्ठान में जीवन के शौर्य, आत्मा की शक्ति पर विशेष महत्त्व केन्द्रीभूत है। 'मृगनयनी' में लाखों और मृगनयनी

के चरित्र में इसी शक्ति का समन्वय है। 'झाँसी की रानी–लक्ष्मीबाई, 'भुवनविक्रम' 'भुढ़कुण्डार' आदि को भी इस दृष्टि से देखा जा सकता है।

इस प्रकार एक ही काल में युगान्तरकालीन साहित्य-प्रणेताओं की कोटि में तीनों हैं। प्रेमचंद कथानक के साथ निम्न भूखण्डों, वर्गों के जीवन्त चित्रण में युगान्तरकारी सिद्ध हुए वहाँ राजा राधिकारमणसिंह भाषा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति की संभावना लेकर आए और वृन्दावन-लाल वर्मा का, ऐतिहासिक क्षेत्र में नवोन्वेषी दृष्टि और मौलिकता का परिचय मूल्य रखता है। हिन्दी ऐतिहासिक क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा ने Scott से कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया।

अन्त में मेरी दृष्टि में उपर्युक्त तीनों निर्माताओं का समुचित मूल्यांकन हिन्दी-साहित्य में होना चाहिए और ऐतिहासिक दृष्टि से सन्तुलन का निर्वाह होना भी परमावश्यक है।

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

रामेश्वर महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

गोदान के भाषा-प्रयोगों की समीक्षा

—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

'गोदान' को कृषक–संस्कृति का महाकाव्य कहा गया है। यद्यपि अनेक दृष्टियों से गोदान की विवेचना की जा चुकी है, लेकिन अभी तक इसकी भाषा का खुलकर विश्लेषण नहीं हुआ है। इसके कई कारण हो सकते हैं—एक तो प्रेमचन्दजी उर्दू से हिन्दी में आये, दूसरे उन्होंने ग्राम्य जीवन का जैसा रोचक चित्रण करना प्रारम्भ किया, वह हिन्दी पाठकों को पहली बार इतना सरस एवं प्रिय लगा कि वे भूल गये कि प्रेमचन्द की भाषा की आलोचना भी हो सकती है। आलोचना तो काव्य-ग्रन्थों के लिए बनी है। तीसरे यह कि 'गोदान' प्रेमचन्दजी की अन्तिम कृति थी, और उसके पूर्व वे इतने उपन्यास तथा कहानियाँ लिख चुके थे, जो निश्चित रूप से उन्हें भाषा-आलोचकों की गिरफ्त से दूर रख सकें। शायद तब तक भाषा-विज्ञान का चाबुक भी नहीं उठा था। भाषा के एकमात्र पारखी तो सम्पादक हुआ करते थे और फिर प्रेमचन्दजी ने तो द्विवेदी-युग में अपनी धाक जमाई थी, तो फिर उनसे कौन बोल सकता था ?

प्रेमचन्दजी ने १९१६ से हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया और 'गोदान' १९३६ में पूरा हुआ। इस प्रकार लगभग २० वर्षों तक वे हिन्दी के साथ रहकर अनेक प्रयोग करते रहे। अतः यदि यह कहा जाय कि 'गोदान' में भाषा का सबसे निखरा हुआ रूप मिलना चाहिए, तो वह आशानुरूप ही है। किन्तु 'गोदान' की भाषा पर इस दृष्टि से विचार होना है कि हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन अब अहिन्दी प्रान्तों एवं विदेशों में भी विश्वविद्यालयों में होने लगा है और प्रेमचन्द ऐसे जाने-माने लेखक हैं, जिनकी कृतियों को पढ़ने-समझने का सभी को लोभ होना स्वाभाविक भी है। लेकिन खड़ी बोली का जो व्याकरणिक अथवा परिनिष्ठित रूप है, उसके अनुसार क्या 'गोदान' की भाषा सर्वांगतः खरी उतरती है ? क्या कोई भी पाठक अपनी खड़ी बोली की शब्द-शक्ति से 'गोदान' के सभी स्थलों, सभी शब्दों या वाक्य-प्रयोगों का वही अर्थ ग्रहण कर पायेगा

जो लेखक को अभिप्रेत था ? क्या आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में आंचलिकता के पक्षपाती 'गोदान' के आंचलिक प्रयोगों को परिनिष्ठित मानकर उसका व्यापक प्रयोग करना चाहेंगे ? या कि प्रेमचन्द के भाषा-प्रयोगों का उपयोग १९०५ से १९३६ ई० काल के आंचलिक कोश को तैयार करने में करना चाहेंगे ? ऐसा विश्लेषण किसी अन्य प्रकार के मनोभाव से प्रेरित होकर नहीं वरन् भाषा-प्रयोग के सही-सही मूल्यांकन की दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्पूर्ण गोदान का ऐसा विश्लेषण इस एक निबन्ध की सीमा से परे है। अतः केवल प्रथम ५० पृष्ठों के आधार पर यह अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।[१] साथ ही यह आशा की जा रही है कि इस दृष्टि से यदि 'गोदान' का समग्र विश्लेषण किया जायगा तो कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, जिनसे हिन्दी (खड़ी बोली) के भाषा-प्रयोगों पर नया प्रकाश पड़ेगा।

प्रेमचन्दजी उर्दू-फारसी और अंग्रेजी तो पढ़े ही थे, उन्होंने संस्कृत का भी अध्ययन किया था। हिन्दी में कहानी लिखने के पूर्व वे उर्दू में अपना स्थान बना चुके थे। अपने लेखन को विस्तार देने के साथ ही अर्थोपार्जन के लिए उन्हें हिन्दी अखाड़े में उतरना पड़ा। यह सच है कि उनकी हिन्दी की तैयारी न के बराबर थी, यदि कोई सहारा था, तो अपने ग्राम लमही में सीखी हुई बनारस की आंचलिक भाषा (पूर्वी हिन्दी) का था, या कि पत्नी शिवरानी के सम्पर्क से सीखी जिला फतेहपुर की अवधी, या कि बुन्देलखण्ड में रहने के कारण वहाँ की कुछ भाषा पूँजी थी। लेकिन क्या इतने से खड़ी बोली में लिखने के लिए क्षमता आ सकती थी ? देश की राजनीति में हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी को लेकर जो ऊहापोह हो रहा था, उससे प्रेमचन्दजी को निश्चय ही लाभ हुआ। उनके पास शब्दों का भण्डार था, जो उर्दू, संस्कृत तथा ग्रामीण क्षेत्रों की बोलियों से सम्बद्ध था। चुटीली भाषा के लिए मुहावरों का प्रयोग आवश्यक है। वह भी उन्हें सहज उपलब्ध था। फिर प्रेमचन्दजी के हृदय में किसानों के लिए जो अगाध करुणा और प्रेम था, उसने उन्हें प्रेरित किया कि वे अपनी स्वयं की भाषा–प्रेमचन्दजी भाषा–लेकर आगे बढ़ें। बस ! विवेक से काम लेकर, खड़ी बोली की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपना प्रयोग प्रारम्भ किया। यदि कोई कहे कि खड़ी

बोली पर ही मुहावरों और लोकोक्तियों के लिए कोई आश्रित रहकर नई-नई उद्भावनायें कर सकेगा तो यह वृथा है। खड़ी बोली में मुहावरों को जो भी लेई-पूँजी है, वह लोकभाषा के माध्यम से या उर्दू से आई है—(उनका हिन्दीकरण हुआ है)। यही कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों में एक ही मुहावरा अलग-अलग रूपों में प्रयुक्त होता है। अतः उनका कौन-सा मानक रूप है, यह कहना कठिन है।

हिन्दी के व्याकरणिक स्वरूप के अन्तर्गत संज्ञारूप (तत्सम, तद्भव) क्रियारूप, लिंग, वचन—इन पर विचार किया जाता है। यदि हम यह मानकर चलें कि प्रेमचन्दजी द्विवेदी-युग तथा उसके परवर्ती हिन्दी गद्य-लेखक हैं, तो उनकी भाषा में खड़ी बोली का पूरा कसाव मिलना चाहिए। द्विवेदी-युग तो अपने कट्टर भाषा–प्रयोगों के लिये विख्यात रहा है। आश्चर्य होता है कि किस प्रकार से प्रेमचन्दजी की भाषा कटु आलोचना से बचकर आगे बढ़ती रही ! यहाँ तक कि 'गोदान' तक की भाषा मानदण्ड पर शत प्रतिशत खरी नहीं उतरती।

भाषाभौगोलिक पृष्ठभूमि

सर्वप्रथम हम 'गोदान' की भाषाभौगोलिक पृष्ठभूमि को लेते हैं। गोदान के प्रारम्भ में ही लेखक ने बताया है कि यह अवध प्रान्त की कथा है। अवध प्रान्त में बोलचाल की भाषा अवधी है, जिसके कई विभेद हैं–लखनऊ के आसपास बैसवाड़ी, फतेहपुर-इलाहाबाद में अन्तरवेदी (अवधी) तथा मिर्जापुर-चुनार से आगे बनारसी (पूर्वी हिन्दी जो भोजपुरी से प्रभावित है)। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रेमचन्दजो का विशेष क्षेत्र वाराणसी के आसपास का है। वे कथा की पृष्ठभूमि लखनऊ के आसपास चुनते हैं, तो हमें उनसे क्या आशा करनी चाहिए कि वे जिस शब्द-भण्डार का प्रयोग करेंगे वह लमही का होगा, जिसे बैसवाड़ी-क्षेत्र पर लागू किया जाता रहा है या कि वह इन सबसे ऊपर उठकर खड़ी बोली का कोई सर्वनिष्ठ स्वरूप होगा ? भाषा–विज्ञान की दृष्टि से प्रेमचन्दजी के 'गोदान' की भाषा के इस पक्ष पर शोध की आवश्यकता बनी हुई है।

उपन्यासों में आंचलिकता को लेकर काफी बहस हो चुकी है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास आंचलिकता के पोषक हैं। अतः उसमें आंचलिक

भाषा के विविध प्रयोगों का समावेश तो होगा ही, उनको तिरस्कृत करने या उन्हें बहिष्कृत करने की सलाह कोई नहीं देगा। हमें तो यही देखना होगा कि ये आंचलिक भाषा-प्रयोग क्या भाषाभौगोलिक पृष्ठभूमि के अनुसार हैं या कि लेखक उन्हें कहीं अन्यत्र से लाकर थोप रहा है। ऐसा विश्लेषण मात्र बोलियों की दृष्टि से उपयोगी होगा जो यह बतायेगा कि कितनी ईमानदारी या परिशुद्धता के साथ आंचलिक प्रयोग हुए हैं। इस दृष्टि से 'गोदान' दर्पण बन सकता है, अवधी के एक विस्तृत क्षेत्र का, उसकी सीमाओं एवं उसकी सामर्थ्य का।

कुछ लोगों ने 'गोदान' में संस्कृतनिष्ठ शब्द-प्रयोग की सराहना की है, तो किन्हींने आंचलिक (ग्रामीण) शब्दों की लम्बी सूची भी दी है। अंग्रेजी के जितने शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनका भी संकेत किया गया है। सहयोगी शब्दों की भी सारणी बनाई गई है। गोदान की कुछ असंगतियों का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ हम इन सबका उल्लेख नहीं करेंगे।

शब्दस्वरूप

हम पहले 'गोदान' के प्रथम ५० पृष्ठों में से उन शब्दों की सूची दे रहे हैं जो विशुद्ध अवधी के हैं (कोष्ठकों में पृष्ठ-संख्या दी हुई है)–पछाई गाय (१०), मेहरिया (१२), चिरौरी (१४), साइत (१४, २६) अबकी (१५), हितू (१५), दुखड़ा (१७), गाढ़े की साड़ी (२०), भलमनसी (२४), झमेला (२४), चंगेरी (२५), दोनों जने (२६), द्वार (२७),ओसारे (२८), अलगौझा (२७) नाटन (२९), गगरा (२९), नगीच (३३), छान (३३), सेंत (३३), लहास (३४), औगी (३४), लौंडा (३८), झबरैबाल (३८), टपके (३९)।

इन शब्दों को खड़ी बोली के शब्दों के बीच प्रयुक्त करके जहाँ सटीक शब्द (पारिभाषिक) प्रयोग के रूप में कथन की प्रभावातमकता बढ़ाई गई है, वहीं वे नागर दृष्टि से रेशम में टाट की बखिया के तुल्य हैं। शायद परिष्कृत रुचि के खड़ी बोली के अध्येताओं को इनमें से गँवई बू आये, और सही कोश न मिलने पर इन शब्दों के चुटीलेपन को वे ग्रहण न कर पायें। हाँ, ग्रामीण जनों के लिये यह अर्थपूर्ण किन्तु नागर रुचिवालों के लिए कुरुचिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। तात्त्विक दृष्टि से प्रेमचन्दजी ने उपर्युक्त

शब्दों का सही एवं सहज प्रयोग किया है। लेकिन इन्हीं शब्दों में से बुड़भस (१४), कलसा (२८), चरनी (२८), बँसार (३२), गमछा (३८), बाछा (४२, १३)-ये निश्चित रूप से लमही के प्रभाव हैं (पूर्वी हिन्दो), ये अवध में इस रूप में अप्रयुक्त हैं।

कुछ शब्दों को ग्रामीण बनाने (तद्भव) के फेर में प्रेमचन्दजी ने उन्हें विरूप करके रखा है। वे स्पष्टतः स्थानभ्रष्ट जान पड़ते हैं यथा–निर्छल (३१), बिद्दा (४१), असीरबाद (४२)–क्या इनके निस्छल, बिद्या और आसिरबाद रूप नहीं बन सकते थे, जो भाषा-तात्त्विक दृष्टि से सहज अनुकरणीय होते ? इसी प्रकार जब प्रेमचन्दजी ग्रामीण शब्दों को ऊपर उठाकर खड़ी बोली का रूप देना चाहते हैं, तो उसके पीछे कोई अर्थपूर्ण तर्क नहीं प्रतीत होता–यथा तल्ली (३४), भरतार (३५), दाढीजार (३६), कडली (१५) बेचारी (१३), का प्रयोग। इनके लिए एकतरी, भतार, दहिजार, करबी, बिचारी शब्द देहातों में खूब चलते हैं।खड़ी बोली के शब्दों के बीच उमिर (१०) का प्रयोग कितना कृत्रिम लगता है ?

जब प्रेमचन्दजी पगहिया (१४), बाछा (१३, ४२), रुपिया (२१), बेटी (२०) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, तो लगता है कि उनके मन में इन रूपों के प्रति मोह है अन्यथा पगही, बछवा रूपा, बिटिया शब्द-रूप प्रयुक्त किये जा सकते थे। क्या हम इन्हें लमही का प्रभाव कहेंगे ?

बैसवाड़े में मुदा (१५) के साथ ही 'मुला' रूप भी मिलता है और शायद के लिए एकमात्र 'साइत' अत्यन्त प्रचलित है। 'गोदान' में इनके प्रयोग अत्यन्त सटीक हैं।

'गोदान' में उर्दू शब्द भी आए हैं। इनमें से कुछ तो सहज हैं, लेकिन कुछ जान-बूझकर लाये गये हैं (वे लेखक के हैं)। उदाहरणार्थ बेबाक(९), साबित (२२), जायज (१४), गुलजार (२८), आबरू (१२), मयस्सर (१२), जो देहातों में बोले जाते हैं, लेकिन हीरा के मुख से तलख (४८) या धनिया के मुख से 'मरदूमी' (४९) जैसे कठिन शब्दों के बोले जाने की आशा करना व्यर्थ है। भले ही लखनऊ के आसपास उर्दू का कितना ही प्रभाव क्यों न हो ?

सहयोगी शब्द

ग्रामीण भाषाओं में सहयोगी शब्द कथन की पुष्टि या कहीं कहीं बोझ हल्का करने के लिए आते हैं। सानी-पानी (९, २८), रस-पानो (९), पेट-तन (९), धूप-धाम (२५), भोली-भाला (२४), रस-वस (२५), आलसी-वालसी (३१) पत्ती-सत्ती, भाव-साव–जिनमें से कुछ के दो रूप हैं–यथा रस-वस। इनमें से रस पानी के प्रति 'गोदान' में विशेष आग्रह है जो लमही का ही प्रभाव हो सकता है, जब कि अन्तरवेद में 'रसवस' ही चलता है। सानी के साथ पानी का प्रयोग कम होता है, इससे 'सानी-वानी' कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है।

बहुवचन

'गोदान' में तीन प्रकार से बहुवचनों का प्रयोग हुआ है—

(१) बछियें (१२), शराबें, बगलें (१७), लातें (३५)।

(२) कलोंरों (१२), बेगारों (१९). बीसियों (१६), अमलों (२२)।

(३) नथुनियाँ (२१), डालियाँ (१६), दस्तूरियाँ (१६), गिलौरियाँ (१९)

अवश्य ही उर्दू के अनुसार बहुवचन बनाने का सार्वत्रिक प्रयास है। नथुनियाँ के स्थान पर नथुनी (एकवचन) से भी काम चल जाता। 'बछियें' रूप भी चिन्त्य है। इसका निराकरण प्रेमचन्दजी द्वारा प्रयुक्त लिंग-भेद से हो जाता है। अंग्रेजो शब्दों के बहुवचनों को उन्होंने हिन्दी व्याकरण के अनुसार ही रखा है। यथा—मिनिस्टरों, कम्युनिस्टों, बोर्डों आदि।

लिंग-स्वरूप

प्रेमचन्दजी ने शब्दों के लिंग–निर्धारण में लोकमत की उपेक्षा करके अपने अन्तःकरण (अपनी समझ) से काम लिया है, जिसके कारण प्रकृति, गर्द, दोपहर, मरजाद, ये तो पुल्लिग बन गये हैं और ढोलक, बाँध स्त्रीलिंग हो गये हैं। कुछ उदाहरण हैं—

प्रकृति ने आग घोल दिया (२०), मटियाला गर्द (२०), दोपहर ढल गया (२०) मरजाद तो सबका है (२७), भोर हो गया (२१), सोने की

हँसिया (२८), ऊंची बाँध (३४), ढोलक लटक रही थी (२८), (ध्यान देने की बात है कि लोक में ढोलक का स्त्रीलिंग ढोलकी प्राप्त है) । इसे हम उर्दू काप्रभाव कहें या कि पूर्वी प्रभाव-जहाँ हाथी और दही को क्रमशः स्त्रीलिंग और पुल्लिग माना जाता है ।

कुछ विशिष्ट शब्द-प्रयोग

हम 'गोदान' में आये दो शब्दों के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे ।

(१) गाय-गऊ :

गोदान में पृ० ११ पर गऊ, गउएँ, गउओं, जैसे रूप हैं, किन्तु उसके तुरन्त बाद गाय, गायें, गायों रूप भी प्रयुक्त मिलते हैं । होरी तथा भोला के वार्तालाप में एक ही व्यक्ति कभी 'गऊ' का व्यवहार करता है, तो उसके बाद तुरन्त 'गाय' शब्द का । इस प्रकार के शब्द-व्यवहार में जो दुविधा या संशय उत्पन्न होता है, वह लेखक के लिए मनोरंजन लानेवाला भले हो, किन्तु खड़ी बोली के प्रारम्भिक पाठकों को भाषा के स्वरूप-निर्णय करने में अवश्य ही व्यवधान डालनेवाला सिद्ध होगा ।

(२) गगरा-कलसा :

'गोदान' में 'गगरा' शब्द धातु के घड़े के लिए एक स्थान पर प्रयुक्त है, लेकिन इसीके लिए 'कलसा' शब्द बारम्बार प्रयुक्त हुआ है । पुनः ऐसे प्रयोग भाषा सीखनेवाले के लिये बाधक हैं—इसे हम प्रेमचन्दजी का शब्द के प्रति मोह (लमही प्रभाव) कहें या कि शब्दों में भी भेदभाव ? भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अधिकाधिक एकरूपता पर ध्यान दिया जाना चाहिए ।

सम्बोधन प्रयोग

(१) गोदान में कई स्थलों पर भाई ! सम्बोधन स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग दोनों रूपों में मिलता है–टाँग क्यों अड़ाती हो भाई (१३, ४१) में भाई का प्रयोग परिनिष्ठित हिन्दी के व्याकरणिक नियम का स्पष्ट उल्लंघन है । किसी भी विदेशी को इसकी संगति बैठा पाना कठिन है (यह गद्य है, पद्य होने पर तो उसे कवि की छूट मानी जाती) ।

(२) काका तथा दादा : होरी को उसकी सन्तानें कहीं काका (३०), तो कहीं दादा (३१) कहकर पुकारती हैं। ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। अतः उनका एक ही रूप में सम्बोधन आपत्तिजनक है। वैसे भी पिता के लिए 'बप्पा' या 'बाबू' शब्द होना चाहिए था। हाँ, यदि कोई यह तर्क दे कि होरी जैसे निम्नस्तरीय समाज का है, जिसमें काका, दादा, पिता में अन्तर नहीं रह जाता—या कि घर में सम्बोधनों पर ध्यान नहीं दिया जाता, तो दूसरी बात है।

क्रिया-प्रयोग

लोकभाषाओं की क्रियायें बेजोड़ होती हैं। खड़ी बोली में उनको समानार्थी क्रियायें अभी भी अनुपलब्ध हैं। यथा—

टोकना (३७), पतियाना (३०), मिनकना (३८), घुन्नाना (३८), पाथना (३८), गदराना (२९), हुमकाना (४४), सोटना (४१), चुमकारना (१४)। लेकिन इनके बीच में संचा (२३),–संचित किया कुछ बनावट लिये प्रतीत होता है। संवला गया (९), चिकना गया (१३) आदि क्रियायें अनुकरणीय हैं।

'गोदान' में क्रियाओं के कालसूचक कुछ प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। होरी या धनिया से शुद्ध हिन्दी क्रियारूप की आशा नहीं की जाती लेकिन जहाँ कहीं प्रेमचन्दजी ने उनके गला दबाकर सुधरी भाषा कहलाने की कोशिश की है, ऐसे प्रसंग सहज ही दृष्टि में आ जाते हैं। यथा–झूमती चली जाती थी (१६), चालें चलो और चलते जाते थे (१८), हमने न दिये (१२), जब बातें करेंगे (१२), गला दबायें (१३) काम के हों (१०)।

मुहावरों का प्रयोग

मुहावरों के प्रयोग में प्रेमचन्द बेजोड़ हैं। उसका कारण है कि ग्रामों में आज भी स्त्रियों की बातें मुहावरों में ही होती हैं, जिससे उनमें व्यंग्य, हास्य तथा कटूक्तियाँ सभी कुछ बिना किसी मुरौवत के प्रकट होती हैं। प्रेमचन्द्रजी ने सभी मुहावरें वहीं से लिए हैं।

नखरे बघारना (३१), पेट में बात पचना (३१), रुपये की गर्मी (३४), समय का फेर (३१), पान की तरह फेरना (३१), चोर पैठ जाना (३२), नाक कटवाना (३२) ये कुछ उत्तम प्रयोग हैं। लेकिन

चंगुलभर भूसा' या 'साठे पर पाठा' (११) प्रयोगों में लगता है कि कुछ भूल हो गई है–इनके स्थान पर 'चुटकीभर भूसा' और 'साठा तो पाठा'– शायद अधिक उपयुक्त होते !

प्रेमचन्द की भाषा के सम्बन्ध में कुछ धारणायें—

लक्ष्मीनारायण गर्ग ने गोदान में जिन असंगतियों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ भाषा को लेकर हैं। वे हमारी भी दृष्टि में सर्वथा उचित आपत्तियाँ हैं। प्रेमचन्दजी जैसे पाये के लेखक से खड़ी बोली का सामान्य पाठक ऐसे प्रयोगों को आशा नहीं कर सकता। गर्गजी कहते हैं—

"प्रेमचन्द ने होरी से बहुत से शब्द एकदम ठेठ ग्रामीण भाषा में कहलवाये हैं, तो कुछ विशुद्ध हिन्दी में। आपत्ति इस बात पर है कि होरी कभी 'परसाद' का प्रयोग करता है तो तुरन्त ही 'प्रसाद' का, कभी 'दर्शन' कहता है तो कभी 'दरसन'।

प्रेमचन्द की नारी-पात्र धनिया प्रेमचन्द की भाषा में बोलती हैं। धनिया मालती को 'मिस' कहती है जबकि राय साहब के सम्पर्क में रहनेवाला होरी 'पेंशन' को 'पिंशिन' कह पाता है और मालती 'मोटर' न कहकर 'हवागाड़ी' कहती है।

जो व्यक्ति चाहे वह ग्रामोण हो या शहरी, जिस शब्द का उच्चारण जैसे करता है, उसे एकदम बदल नहीं पाता, किन्तु होरी में यह बात नहीं पाई जाती।"

स्पष्ट है कि ऐसी त्रुटियाँ गोदान में इसलिये रह गई हैं, क्योंकि प्रेमचन्दजी ने इस पर ध्यान नहीं दिया कि भाषा की एकरूपता को या उसकी भाषा-वैज्ञानिक स्थिरता को बनाये रखना भी लेखक का ही दायित्व है। वे तो भावों में बहनेवाले प्राणी थे। प्रताप साहित्यालंकार को प्रेमचन्द में अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों की बहुलता खटकी है। उनके अनुसार 'गोदान' में भंदाश्किन, तौफीक, भकरूज, लतियाहुज जैसे शब्दों के प्रयोग से भाषा की भावज्ञापकता तथा प्रवाहशीलता में बाधा पहुँची है।

श्री रंजन सूरिदेव के अनुसार प्रेमचन्दजी ने 'गोदान' में संस्कृत के जितने शब्दों को व्यवहृत किया है, वे सभी अविकल हैं—सारे प्रयोग सतर्कता एवं सटीकता लिये हुए हैं।

स्वर्णकिरण आंचलिकता के नाम पर गोदान में भाषा के अनगढ़पन को आंचलिक उपन्यास की एक विशेषता मानते हैं। लेकिन कन्हैयालाल नन्दन के विचार हमारे दृष्टिकोण से मेल खाते हैं--"अटपटापन जहाँ तक हो टाला जाना चाहिए, जिससे पाठक को कथा-प्रवाह में व्यवधान न अनुभव हो, साथ ही अर्थ-गाम्भीर्य और ध्वनि-सौष्ठव संयुक्त सुबोध आंचलिक शब्दों, लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा की समृद्धि की अवहेलना न होनी चाहिए अन्यथा आंचलिकता की मूलभूत उपलब्धियों का एक पक्ष सूना रह जायगा।"

अन्त में डॉ० प्रेमनारायण टण्डन ने[3] प्रेमचन्द की 'भाषा और शैली-सम्बन्धी प्रयोग' में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख करना समीचीन होगा।

१. 'गोदान' में मुसलमान ग्रामीण पात्र नहीं हैं, अतः उनकी भाषा में भिन्नता का प्रश्न नहीं उठता लेकिन अन्य उपन्यासों में हिन्दुओं की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक मिलते हैं और मुसलमानों में अरबी-फारसी के ('प्रेमाश्रम' उदाहरणस्वरूप है)। प्रेमचन्द का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखकर व्यवहार की स्वाभाविकता बनाये रखना था, परन्तु हिन्दी आलोचकों के विरोध के कारण उन्होंने मुसलमान पात्रों की भाषा में गोदान तक पहुँचते-पहुँचते स्पष्ट परिवर्तन कर दिया।

२. गोदान में ठेठ ग्रामीण, अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्दों की प्रधानता है। गोदान में प्रेमचन्द ने अपने ग्रामीण पात्रों द्वारा कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग कराया है, जो शहर के पढ़े-लिखे बाबुओं को और साहित्य के किताबी छात्रों को खटकेंगे।

३. अंग्रेजी या अरबी-फारसी के जिन अप्रचलित या अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किया गया है, उसका समर्थन भाषा-नीति अथवा अकृत्रिमता की दुहाई देकर कदापि नहीं किया जा सकता। ऐसे शब्द न हिन्दी में खप सके हैं, न खपेंगे।

४. कहीं कहीं 'और' का अनावश्यक प्रयोग हुआ है।

आशा है, जब इस दृष्टि से समूचे गोदान का विश्लेषण किया जायगा, तो और अन्य तथ्य उभरकर सामने आ सकेंगे।

निर्देश

१. गोदान (संक्षिप्त संस्करण) : प्रेमचन्द
सरस्वतीप्रेस, १४वाँ संस्करण १९६१

२. गोदान में गवेषणा, भारती भवन, पटना में प्रकाशित निबन्ध-१९७०·
प्रताप साहित्यालंकार ४३–४८
श्रीरंजनसूरिदेव ७१–७८
डॉ० स्वर्णकिरण ७९–८९

३. प्रेमचन्दः सम्पादक डॉ० सत्येन्द्र : राधाकृष्ण मूल्यांकन माला, राधा-कृष्ण-प्रकाशन, १९७६, पृ० ११२–१२०

गोदान में आंचलिकता

—डॉ० स्वर्णकिरण

आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता की सिद्धि के लिए सामान्यतः स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, भाषा एवं उच्चारण की विकृतियाँ, लोगों की स्वभावगत एवं व्यवहारगत विशेषताएँ, उनका अपना रोमांस, नैतिक मान्यताएँ आदि का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाता है। ये सभी गुण प्रेमचन्द के 'गोदान' में शत प्रतिशत उपलब्ध नहीं हैं। 'गोदान' प्रेमचन्द की अंतिम कृति (Swan song) है और इसमें प्रेमचन्द की औपन्यासिकता—उपन्यासकला—चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई दिखलाई पड़ती है, पर निस्संदेह आंचलिक प्रतिमान को सामने रखकर प्रेमचन्द ने इसकी रचना नहीं की। एक भारतीय कृषक के बदलते हुए जीवन-चित्र के बहाने भारत के बदलते हुए चित्र को गोदान में चित्रित करने का प्रयास किया गया है जिसके आधार पर कुछ विद्वान् समालोचक इसे 'राष्ट्रीय महाकाव्य' मानते हैं और टाल्सटाय के प्रसिद्ध महाकाव्यात्मक उपन्यास 'युद्ध और शांति (War and Peace) के साथ इसकी तुलना करते हैं, पर इसकी सामाजिकता, इसकी आंचलिकता भी विचार का विषय है। गोदान की रचना के समय प्रेमचन्द का ध्यान सामाजिक कुरीतियों, प्रथाओं, खोखलापन, फरेबों, अत्याचारों, विवशताओं, असंगतियों, विसंगतियों, विकृतियों आदि पर अवश्य रहा; जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, सूझ-बूझ आदि पर भी ध्यान रहा ही, पर इन सबको एक सीमित ढाँचे में ढालकर, एक विशेष रूप में रखकर विशिष्टता की मुहर नहीं लगायी या लगवायी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता (हिन्दी साहित्य, १९५५, पृ० ४३५)।

अंग्रेजी साहित्य में आंचलिकता से संबद्ध उपन्यासों के दो प्रकार बतलाये गये हैं स्थानीय रंगत (Local Colour) के उपन्यास अर्थात् किसी गाँव, नगर या प्रांत की स्थानोय रंगत-तद्देशीय, सौरभ-प्रकृत भाषा में चित्रित तथा स्थलीय रंगत (Novel of soil) के उपन्यास अर्थात् किसी पिछड़े हुए प्रदेश, वर्ग और जाति का हूबहू चित्रण। स्थानीय रंगत-तद्देशीय सौरभ का चित्रण किसी भी प्रकार के उपन्यासकार से बहुत मुश्किल से ही छूट पाता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने कदाचित् इसी आधार पर कहा है कि एक अर्थ में सभी उपन्यास आंचलिक होते हैं, किसी न किसी देश और काल से सम्बद्ध रहते हैं, किसी न किसी जाति के जीवन को चित्रित करते हैं (अर्थात्)प्रत्येक राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों के, उपन्यास उस क्षेत्र से संबंधित होने के कारण आंचलिक हैं। (दे०सारिका, ९/११, नव० १९६१, चर्चा परिचर्चा स्तंभ–'क्या आंचलिक उपन्यासों का कोई स्थायी मूल्य है ?') अंग्रेजी में आंचलिक उपन्यासकारों के रूप में थामसहार्डी, शार्लट, ब्रौंटि, जार्ज इलियट, आर्नेल्ड बेनटे आदि का नाम लिया जाता है पर इनमें से प्रायः सब स्थानीय रंगत, तद्देशीय सौरभ के' ही लेखक हैं, चित्रकार हैं। स्थलीय रंगत पर इनका ध्यान बहुत कम जा पाया है जैसा कि हैमसुन नुट (Hamsun Knut), विलियम फॉकनर (William Faulkner), मिखाइल शलोकोव (Mikhail Sholokhov) आदि का ध्यान गया है। हिन्दी में आंचलिकता का आरंभ फणीश्वरनाथ रेंणु के उपन्याम 'मैला आँचल' (सन् १९५४में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित। यों इसका प्रथम प्रकाशन स्वतः लेखक द्वारा कामना प्रकाशन, पटना के नाम से इसके कुछ पहले ही हुआ।) से माना जाता है यद्यपि इन पंक्तियों का लेखक, इसका वास्तविक आरंभ शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' (सन् १९२६ में प्रकाशित) से मानता है[१]। यों इस क्रम में, बुन्देलखण्ड के अंचल के चित्रकार वृन्दावनलाल वर्मा (जन्म सन् १८८९....) का भी नाम आंचलिक उपन्यासकार के रूप में लिया जाता है; नागार्जुन, रांगेयराघव, राजेन्द्र अवस्थी तृषित, अमृत लाल नागर, उदयशंकर भट्ट आदि–प्रेमचन्द

१. देखिये, आंचलिकता के अग्रदूत, उपन्यासकार शिवपूजन सहाय, नईधारा, १६/४, जु० १९६५।

(सन् १८८०-१९३५) के समवर्ती, परवर्ती आंचलिक उपन्यासकार तो हैं ही।

डॉ० शंकर देव अवतरे का कथन है कि हिन्दी में आंचलिकता का प्रयोग पश्चिम के किसी प्रयोग की नकल नहीं है। किसी अंचल का ऐसा शब्द-चित्र जो समस्त राष्ट्र की संस्कृति को प्रतिध्वनित कर सके हिन्दी के आंचलिक उपन्यास की मूल विशेषता है जो तथाकथित पाश्चात्य उपन्यासों से अपना प्रस्थान-भेद सूचित करती है[1]। अर्थात् आंचलिकता का प्रयोग हिन्दी साहित्य के औपन्यासिक विकास की एक मौलिक उपलब्धि है। प्रेमचन्द के 'गोदान' पर विचार करते हुए इनका कहना है कि 'गोदान' में एक किसान की कथा के रूप में उन्होंने सारे देश की संस्कृति की व्यंजना प्रस्तुत की। इससे आगे का कदम यही होना था कि समूचे राष्ट्र की अभिव्यक्ति और भी देशकाल की सीमित रेखाओं में की जाए। इसीलिए हम आंचलिक उपन्यास के प्रयोग को प्रेमचन्द की कला के परवर्ती विकास में आगे का कदम स्वीकार करते हैं[2]। मतलब यह कि प्रेमचन्द आंचलिक उपन्लास के निर्माता हों या नहीं, सूत्रपातकर्त्ता अवश्य हैं। शिवपूजनसहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' की आंचलिक भाषा, आंचलिक शब्दों का आभास 'गोदान' में स्पष्टतापूर्वक देखा जा सकता है।

कहते हैं, आंचलिक उपन्यासों में इतिवृत्त का कोई आग्रह नहीं रहता, नहीं रहना चाहिए, पर प्रत्येक आंचलिक उपन्यास में कोई-न-कोई इतिवृत्त तो रहता ही है चाहे प्रबल रूप में रहे, चाहे क्षीण रूप में। कथाजन्य बिखराव आंचलिक चित्र को प्रभावक रूप में सामने रखता है, पाठक अंचल के अणु-अणु, कण-कण को ध्यानपूर्वक देखता है और उसकी विशेषताओं को हृदयंगम करने का प्रयास करता है 'गोदान' में कथानक का बिखराव नहीं है यद्यपि बेलारी, सेमरी, सोनारी गाँव, लखनऊ शहर को कथानक का मुख्य आधार बनाया गया है, मिरचाउमरा टापू

---

१. हिन्दी-साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग, प्रकाशक : राजपाल एन्ड संन्ज, दिल्ली, जु० १९६२, पृष्ठ १८४।

२. वही।

(जहाँ उपन्यास के नायक होरी के पुत्र गोबर के भागने का अनुमान किया जाता है), बंबई (जहाँ गोबर की प्रेमिका बाद में पत्नी झुनिया का पहला पति दूध की दुकान खोले हुए था जिसको हिन्दू-मुसलमान के दंगे में एक आदमी ने पेट में छुरा भोंककर मार डाला); नैनीताल, मंसूरी, शिमला (जहाँ सेमरी के राय अमरपाल सिंह, राजा सूर्यप्रताप सिंह के समान एक-एक बंगला बनवाने की बात सोचते हैं), इंग्लैंड (जहाँ राय अमरपाल सिंह के सुपुत्र रुद्रपाल सिंह अपनी प्रेमिका बाद में पत्नी सरोज, डॉक्टर मिस मालती की बहन के साथ जाते हैं) का नामोल्लेख तो मिलता ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि लखनऊ के आसपास के अंचल को ही 'गोदान' की कथावस्तु का आधार बनाया गया है--बेलारी, लखनऊ से लगभग अठारह-बीस कोस दूर है ऐसा डॉक्टर मालती के यहाँ गोबर के साथ रहती हुई झुनिया, मालती के पूछने पर बतलाती है (गोदान, पृ० ३४३)। उपन्यास का नायक होरी बेलारी गाँव का निवासी है, जो आलोचक जगदीश पांडेय के शब्दों में पय:पान नहीं, गो-मान चाहता है, अपने समीप के पुरवे के भोला के यहाँ से अस्सी रुपये में गौ उधार लाता है, ईर्ष्यालु भाई हीरा उसको माहुर देकर मार डालता है, भोला जबरदस्ती होरी के बैल खोलकर ले जाता है, दातादीन, झिंगुरी सिंह, नोखेलाल, लाला पटेश्वरी, मंगरू, दुलारी, सहुआइन आदि से कर्ज ले लेकर किसी तरह, अपना काम चलाता है, अपनी बड़ी पुत्री-सोना का विवाह सोनारी गाँव के निवासी गौरी महतो के पुत्र मथुरा से करता है, छोटी पुत्री रूपा का अनमेल विवाह रामसेवक महतो के साथ करने को विवश होता है, पुत्र गोबर भोला की विधवा पुत्री झुनिया को गर्भवती कर, लखनऊ भागता है, एक साल कमाने के बाद माँ-बाप से मिलने आता है, पत्नी को लेकर फिर लखनऊ जाता है, खोंचे का काम छोड़कर मिस्टर खन्ना के यहाँ शक्कर मिल में काम करता है, मिल जल जाने पर और मालिक-मजदूर संघर्ष में बुरी तरह आहत होने के अनन्तर किसी तरह अच्छा होने पर मिस मालती के यहाँ बंगले पर—जहाँ डाक्टर मेहता भी बाद में रहने लगते हैं—माली का काम करता है, माँ-बाप से रूपा की शादी के अवसर पर मिलने आता है और यथोचित सहायता की बात करता है पर अंत तक होरी की विवशता दूर नहीं हो पाती; वह मरते दम तक जी-तोड़ मिहनत करता है, संघर्ष झेलता

रहता है। वह जीवन-संग्राम में झुकता नहीं है, हारता नहीं है। मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी धनिया बीस आने पैसे से—जिसको सुतली बेचकर अर्जित किया है—दातादीन पंडित को गो-दान करती है। तात्पर्य यह कि होरी की मुख्य कथा ही आद्यंत प्रवाहित है—अंतर्कथाएँ—हीरा पुनिया की, भोला उसकी पहली पत्नी के बाद दूसरी पत्नी नोहरी की, राय अमरपाल सिंह, उनके पुत्र रुद्रपाल सिंह और सरोज की, राय साहब अमरपाल सिंह तथा राजा सूर्यप्रताप सिंह की, मेहता, मालती की, मिस्टर चंद्रप्रकाश खन्ना और मिसेज कामिनी खन्ना या गोविंदी की, मिर्ज़ा खुर्शेद और उनकी पत्नी मेमसाहब की, दिग्विजय सिंह और मीनाक्षी की, कोदई और उसकी पत्नी की आदि सब किसी न किसी प्रकार मुख्य कथा का सहायक है; 'बिजली'-संपादक ओंकारनाथ तथा उनकी पत्नी गोमती, होरी के महाजन—दातादीन पंडित, मंगरू साह, दुलारी सहुआइन आदि; लाला पटेश्वरी, नोखेराम, गपड़ू-गपड़ू कश्मीरी, मालती, सरोज, वरदा के पिता मिस्टर कौल, गिरिधर, ध्यानसिंह, डॉक्टर नाग, अलादीन रिक्शेवाला, भूरे इक्केवाला, कौसल्या (दुलारी सहुआइन की पुत्री), कामता और उसकी बहू, जंगी और उसकी बहू, कामता की बहू, जंगी और उसकी बहू, कामता की बहू की सौतेली माँ चुहिया, लकड़ी बेचनेवाली जिसने गोबर और उसकी पत्नी झुनियाँ की बहुत अधिक सहायता की, मिस सुलताना, लाला पटेश्वरी के लड़के बिंदेश्वरी, भुनेसरी, दुलारी की दुकान का गाहक हुसेनी, हरखू और उसकी पत्नी कलिया-सिरिया के माँ-बाप आदि का वर्णन-अंकन तो इस बात का द्योतक है कि 'गोदान' में अनेकानेक छोटी कथाएँ भी संगुफित हैं। एक आलोचक ने कदाचित् इसी कारण कहा है कि 'गोदान' कई छोटी कहानियों के समुच्चय-सा मालूम पड़ता है। यदि आलोचक महोदय के इस कथन को स्वीकार कर लिया जाए तो 'गोदान' के कथानक में आंचलिकता की छाया देखी जा सकती है। आंचलिक उपन्यास के कथानक में कुछ वैशेष्य रहता है। दो-एक वैशेष्य यहाँ भी 'गोदान' में उपलब्ध हैं—लेखक मिर्जासाहब के यहाँ बड़े पैमाने पर, छह-छह आने रोज पर काम करने वाले मजदूर कबड्डी खेलवाते हैं, दो-चार खेलाड़ियों से नहीं, पूरे चार सौ खेलाड़ियों से, मिर्ज़ा साहब का अहाता क्लब कचहरी और अखाड़ा सबका काम करता है; लखनऊ में देहात-सुधार संघ की

योजना से हम भले न चौंकें पर लगभग दो लाख खर्च करके महिलाओं के लिए व्यायामशाला के आयोजन से तो हम चौंक ही सकते हैं—यहाँ चंदादाता भी विलक्षण ही हैं। यथा, राजा सूर्यप्रताप सिंह—पाँच हजार रुपये, दिग्विजय सिंह-तीन हजार रुपये, राय अमरपाल सिंह—पाँच हजार रुपये देने की स्वीकृति देते हैं।

'गोदान' पर मौलिक ढंग से चिंतन करनेवाले आलोचक जगदीश पांडेय ने कहा है कि हार्डी के पात्रों की तरह प्रेमचन्द के गौण पात्रों का शील वर्गशील ही नहीं, समवेतशील है। ये वर्गपात्र (Class Characters) ही नहीं, समवेतपात्र (Chorus Characters) हैं (शील निरूपण के सिद्धांत और विनियोग (पृ० ११४) । मतलब, गोदान के गौण पात्र कुल मिलाकर उपन्यास को पूर्णतया प्रदान करते हैं। ये पात्र प्रायः अशिक्षित हैं और इस कारण, इनके मुख से आंचलिकता के नाम पर अशुद्ध शब्दों का निकल जाना स्वाभाविक ही है—यथा, सिलिया के मुख से प्रसन्न के बदले परसन (पृ० २७२) ; कलिया के मुख से न्याय के बदले नियाव (पृ० २६१) ; दातादीन के मुख से शेर के बदले सेर (पृ० १६३); मातादीन के मुख से ब्राह्मणत्व के बदले बम्हनई, प्रत्यक्ष के बदले परतच्छ, विशेष के बदले विसेस प्रायश्चित के बदले परासचित (पृ० ३०८); दुलारी के मुख से शरारत के बदले सरारत (पृ० २६६); ब्राह्मण के बदले बाम्हन, काशी के बदले कासी (पृ० २६६), भोला के मुख से हृदय के बदले हिरदा (पृ० ६११); कुलक्षणी के बदले कुलच्छनी (पृ० १६२); झिंगुरी सिंह के मुख से स्टाम्प के बदले इस्टाम, कागज के बदले कागद (पृ० १०८); जंगली युवती के मुख से 'क्यों आते हैं' के बदले 'काहे आते हैं' (पृ० ८६) आदि। आंचलिक उपन्यास में आंचलिक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता है, हुआ करता है; यहाँ भी कुछ एक आंचलिक शब्द प्रयुक्त हुए दीखते हैं। उदाहरणार्थ, दमड़ी बंसार अपनी पुत्रवधू की शिकायत होरी से करता हुआ कहता है—बड़ी नाकिस जात है महतो (पृ० ३०) लकड़हारा मिर्जा साहब से मैं ठाला चलूँ (पृ० १०३) इत्यादि।

गौण ही नहीं, गोदान के मुख्य पात्र होरी, धनिया, झुनिया, सोना आदि भी डा० मेहता, मिस मालती आदि को छोड़कर आँचलिक भाषा

का प्रयोग करते हैं। कुछ एक उदाहरण :

होरी के मुख से—नाटन खेती बहुरियन घर अर्थात् नाटे बैल क्या खेती करेंगे और बहुएँ क्या घर सँभालेंगी (पृ० २६)।

* * *

लौंडे कहीं फड़ पर जमे होंगे (पृ० २६)।

* * *

जल में रहकर मगर से बैर बुड़बकपन है (पृ०) २७।

* * *

शाइद भिनसार हो रहा है (पृ० २८)।

* * *

(हीरा को संबोधित कर) तुम्हें याद है कि नहीं; जब तुम्हें इफिजा हो गया था, तो दवाई उठाकर फेंक देते थे (पृ० ११०)।

* * *

धनिया के मुख से—

* * *

अंधे कूकर की तरह हवा को भूँका करे (पृ० ४२)।

* * *

(होरी से) देखो सपूत की लीला, उसे अपने सैल से छुट्टी नहीं (पृ० १११)।

* * *

वह मुआ बहत्तर घाट का पानी पिये हुए (पृ० १११)।

* * *

थुड़ी है तेरी झुठाई पर (पृ० ११५)।

* * *

तुम जैसा घामड़ आदमी भगवान ने क्यों रचा (पृ० १९६)।

* * *

मेरे तो परान नहों में समा गये थे (पृ० २१७)।

* * *

झुनिया के मुख से— बैठने को माची दूँगी (पृ० २६)।

* * *

सोना के मुख से—जा तू गोबर पाथ (पृ० ३६) ।

भाषा का अनगढ़पन आंचलिक उपन्यास की एक मुख्य विशेषता है। 'गोदान' के भाषापरक अनगढ़पन के सम्बन्ध में ये उद्धरण ध्यान देने योग्य है:—

मिर्जासाहब को संबोधित कर 'बिजली' सम्पादक ओंकारनाथ ठाकुर—तुम हमारी तारीफ क्यों की ? क्यों की ? बोलो, क्यों हमारी की ? हम किसी का नौकर नयी है। किसी को बाप का नौकर नयी है, किसी साले का दिया नहीं खाते। हम खुद संपादक हैं। हम 'बिजली' का संपादक है। हम उसमें सबका तारीफ करेगा। देवीजी, हम तुम्हारा तारीफ नहीं करेगा। हम कोई बड़ा आदमी नयी है। हम सबका गुलाम है। हम आपका चरणरज है। मालती देवी हमारा लक्ष्मी, हमारा सरस्वती, हमारी राधा……………(पृ० ७२) ।

* * *

अफगान के वेश में डॉ० मेहता का कथन—अम से पूछता है कैसा लूट, कैसा डाका ? तुम लूटता है, तुम्हारा आदमी लूटता है। अम यहाँ की कोठी का मालिक है। अमारी कोठी में पचीस जवान हैं। अमारा आदमी रुपये तहसील कर लाता था एक हजार। वह तुम लूट लिया, और कहता है कैसा डाका ? अम तुम्हारा गाँव लूट लेगा। कोई साला कुछ नहीं कर सकता, कुछ नहीं कर सकता (पृ० ७३) यां कां जाता है तुम ? काई कई नयीं जा सकता। नयीं अम सबको कतल कर देगा। अबी फैर कर देगा। अमारा तुम कुछ नहीं कर सकता। अम तुम्हारा पुलिस से नहीं डरता। पुलिस का आदमी अमारा सकल देखकर भागता है। अमारा अपना कांसल है, अम उस के खत लिखकर लाट साहब के पास जा सकता है। अम यां से किसी को नहीं जाने देगा। (पृ० ७३)। (मालती को संबोधित कर)—तुम इन बदमाशों से अमारा माल दिलवाये, नयीं अम तुमको उठा ले जायगा और अपनी कोठी में जशन मनायेगा। तुम्हारा हुस्न पर अम आशिक हो गया……(पृ० ७३-७४)। या—मत बकबक करो। कांउसिल का मेंबर को अम इस तरह पैर से कुचल देता है (जमीन पर पाँव रगड़ता है) अमारा हाथ मजबूत है,

अमारा दिल मजबूत है, अम खुदा ताला के सिवा और किसीसे नयीं डरता, तुम हमारा रुपया नहीं देगा, तो अम (राय साहब की तरफ इशारा कर) अभी तुम को कतल कर देगा (पृ० ७४)।

* * *

जंगली युवती का डॉ० मेहता को संबोधित कर, यह कथन—तुम थक गये होगे। शहर के रहैया जंगल में काहे आते होगे। हम तो जंगली आदमी हैं। किनारे ही तो खड़ी होंगी (पृ० ८६)।

* * *

होरी, लाला पटेश्वरी, दारोगा आदि के सामने धनिया का प्रतिरोध ....हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसीने न दिया। आज अंगुलीभर रुपये ठनाठन निकाल के दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट बखरा होनेवाला था, सभी के मुँह मीठे, ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसनेवाले! सूद-ब्याज, डेढी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिये, जेहल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से (पृ० १२०)।

* * *

दातादीन का झिंगुरी सिंह को सुनाकर यह कहना—समय-समय की परथा है। और क्या! किसीमें उतना तेज तो हो, बिस खाकर उसे पचाना तो चाहिये। वह सतजुग की बात थी, सतजुग के साथ गयी। अब तो अपना निबाह बिरादरी के साथ मिलकर रहने में है। मगर करूँ क्या, कोई लड़कीवाला आता ही नहीं।........ (झिंगुरी सिंह) तुम जजमानी को भीख समझो, मैं तो उसे जमींदारी समझता हूँ, बंक घर.... (पृ० २५८)।

* * *

दुलारी सहुआइन के मुख से निकला हुआ होरी को संबोधित कर यह कथन–सुना है, पंडित कासी गये थे। वहाँ एक बड़ा नामी विद्वान् पंडित है। वह पाँच सौ माँगता है। तब परासचित करायेगा, भला पूछो, ऐसा अन्धेर कहीं हुआ है। जब धरम नष्ट हो गया, तो एक नहीं हजार

परासचित करो, इससे क्या होता है। तुम्हारे हाथ का छुआ पानी कोई न पियेगा,—चाहे जितना परासचित करो। (पृ० २६८)।

* * *

मथुरा के बाप गौरी महतो का पत्र होरी के नाम—'स्वस्ती श्री सर्वोपमा जोग श्री होरी महतो को गौरी राम का राम-राम बांचना। आगे जो हम लोगों में दहेज की बातचीत हुई थी, उस पर हमने सान्त मन से विचार किया, समझ में आया कि लेन-देन से वर और कन्या दोनों ही घरवाले जरेवार होते हैं। जब हमारा-तुम्हारा संबंध हो गया, तो हमें ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि किसीको न अखरे। तुम दान दहेज की कोई फिकर मत करना, हम तुमको सौगन्ध देते हैं। जो कुछ मोटा-महीन जुरे बरातियों को खिला देना। हम वह भी न माँगेंगे। रसद का इंतजाम हम ने कर लिया है। हाँ, तुम खुशी-खुर्रमी से हमारी जो खातिर करोगे वह सिर झुकाकर स्वीकार करेंगे (पृ० २७३)।

* * *

उस (सिलिया के बालक रामू) की भाषा में रोटी का नाम ओटी, दूध का तूत, साग का छाग और कौड़ो का तौली····कोई पूछता—तुम्हारा क्या नाम है ? चटपट कहता—लामू ! तुम्हारे बाप का क्या नाम है ? मातादीन, और तुम्हारी माँ का ? छिलिया। और दातादीन कौन है ? वह अमाला छाला है (पृ० ३५२)।

यहाँ स्पष्ट है, लेखक प्रेमचन्द ने पात्रानुकूल स्वाभाविक भाषा के प्रयोग पर भी अधिक बल दिया है—जो आंचलिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, अनायास ही प्रयुक्त हुए हैं उन के लिये प्रेमचन्द को कोई आयास नहीं करना पड़ा[1]।

---

१. आंचलिक शब्दों की सूची अक्षरानुक्रम से इस प्रकार है :—
(कोष्ठक में संख्या 'गोदान' सरस्वती प्रेस, बनारस; संस्करण तेरह सन् १९५६ के पृष्ठ का सूचक है) :—

अढ़ौना (२६), अनाज माड़ना (२५४), उड़न धाईयां (१९१), उपले पाथना (५), ऊख गोड़ना (५), (चूल्ले के) ऐले (२७), औंगी

स्थानीय रंगत—तद्देशीय सौरभ (Local Colour) के लेखक की दृष्टि वस्तुत: देहात के दर्शक की दृष्टि हुआ करती है।[1] अर्थात् वह दृश्यों को, घटनाओं को, व्यक्तियों को, विहंगम दृष्टि से देखता चलता है। भले भूल में कोई एक उद्देश्य लेकर वह चल रहा हो। वह यथार्थवादिता, स्वाभाविकता, तीव्रता का आग्रही होता है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने, यही कारण है, आंचलिक उपन्यास को हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों के अग्रिम विकास की कड़ी मानी है। इनके मतानुसार आंचलिक उपन्यास मूलत: यथार्थवाद से संबद्ध है। विशेषज्ञता के लिये यथार्थवादी उपन्यास-कार विभिन्न विज्ञानों की सहायता लेते रहते हैं। आंचलिक उपन्यासकारों ने मानव-विज्ञान, नृतत्व, जीवविज्ञान और समाजविज्ञान के तथ्यों का उल्लेख किया है परन्तु साथ ही उन्होंने प्रत्यक्षानुभूति का सहारा लेकर, आंचलिक जीवन की यथार्थता को चित्रित किया है।[2] 'गोदान' के प्रेमचन्द की दृष्टि देहात के दर्शक की दृष्टि हो या नहीं पर वह पैनी और

(३२, २१५), कथरी (१२४), करोर (८), खंजड़ (९), खलेटी (७), खुस्फेली (२८४), अच्छा खाना (३१), गड़ाप (८५), गदरा (आम गदराना) ३७), गिरो (२६५), चुचके (लू के मारे) (३७), चोचांल (३५४), (भूसा) छिज गया (१०७), जन्तर (३४०), जखर कर (२५४), झौवा (३७०), टिक्कड़ (२७०), डांडी, (६), डोंटी (६), तरका (१३३), थलकर, थहाना (३१०), थुड़ी (३१५), दौंगड़ा (असाढ़ का) (१०७), नफरी (१९), नादिहेंदी (१८६), पछोरना (२७५), पतिवाता (पतिआना, विश्वास करना) (२८), पथलन (११९), फड़ (२६), फिचकुर (११२), फुरहुटी (६९), बंधी पर (८), बकवां चलना (३५४), बरोठे (३१०), भराई वसूली २३५), भँड़ लेना (दोनों पर लगा लेना) (२७), माची २९), मिनका) (यिनक्रना) (३५), संडा (सैंडो), (४४), सजावल (७५), सरालगो (३४), सीटना (४०), सुजनो (३११), हुन (४३), हठा नीचा (२६५), हुमेल (३११), हैसवैस (२६६), इत्यादि।

१. The local colourist takes rather the tourist's view of a countryside Dictionary of World litrature. 1962, p. 257.

२. सारिका १९।१९ नव० १९६१।

यथार्थवादी दृष्टि अवश्य है, ऐसो यथार्थवादी दृष्टि जो आदर्श की पटरी से उतरकर नहीं चलना जानती हो। मानव-विज्ञान, नृतत्व, जीव विज्ञान, समाज-विज्ञान पर इनका ध्यान समान रूप से रहा है, फलतः 'गोदान' के माध्यम से एक मर्मस्पर्शी चीज हमारे सामने आयी है। यह बात दूसरी है कि प्रेमचन्द, समय-समय पर हमारे सामने, इस उपन्यास में आये हैं और सूत्र-संचालन किया है, जो उपन्यासकार को सामाजिक आदर्शोन्मुख, यथार्थवादी उपन्यासकार ही सिद्ध करता है, आंचलिक उपन्यासकार की तरह उनको तटस्थ, निर्वैयक्तिक नहीं रहने देता।

डा० रामदरश मिश्र का कथन है कि आंचलिक उपन्यास की गति एक दिशा में नहीं है, चारों दिशाओं में होतो है। वह स्थान की अपेक्षा समय में जीता है।[1] फिर इनका कहना है कि आंचलिक उपन्यास का उद्देश्य है स्थिर स्थान पर गतिमान् समय में जीने हुए आँचल के व्यक्तित्व के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करना, तात्पर्य यह कि आंचलिक उपन्यास का संबंध समय और स्थान दोनों से है। आंचलिक उपन्यास सामयिक होते हुए भी चिरंतन होता है, एक स्थान अथवा स्थल का होते हुए भी, अनेक स्थान, अनेक स्थल का हुआ करता है, 'गोदान' की आंचलिकता पर जब इस संदर्भ में विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'गोदान' का कथानक बेलारी, सेमरी, लखनऊ आदि से सम्बद्ध होते हुए भी अपने समय में जोवित है। उसकी गति एक दिशाओं में ही सीमित नहीं, बल्कि एकाधिक दिशा की ओर उन्मुख है। इसमें वर्णित अंचलों के जिन-जिन व्यक्तियों से हमारा परिचय होता है उसको छिपाने अथवा अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। होरी, हीरा, भोला, शोभा, राय अमरपाल सिंह, रुद्रपाल सिंह, राजा सूर्यप्रताप सिंह, डॉ० मेहता, खन्ना, तंखा, गोबर, धनिया, झुनिया, सोना, रूपा, मालती, गोबिंदी, नोहरी, आपि सब के चरित्र में कुछ न कुछ ऐसी विशेषता है जो हमारे मस्तिष्क में एक छाप छोड़ती है।

कथासूत्र के छिन्न-भिन्न तार, लेखक की तटस्थता, निर्वैयक्तिकता,

---

१. आंचलिक उपन्यास, डॉ० रामदरश मिश्र, सप्तसिन्धु, ११।२, फरवरी, १९६४।

सांस्कृतिक तत्त्वों पर ध्यान, लोकभाषा, लोकगीत, लोकरीति, लोकाचार, आदि का निर्बन्ध प्रयोग ही यदि आंचलिक उपन्यासों का विशेष गुण मान लिया जाए तो 'गोदान' की निश्चय ही प्रतिमान्य आंचलिक उपन्यास नहीं माना जा सकता। 'गोदान' को आंचलिकता विशेष प्रकार की है। संभव है, इसके लेखन-काल में आंचलिक तत्त्वों के उभार अथवा उपयोग पर ध्यान नहीं रहा हो और नहीं था, पर सांस्कृतिक पुरस्सरता (Cultural Contesma ity) लोकाचार, लोकभाषा के स्वाभाविक प्रयोग पर लेखक महोदय का पर्याप्त ध्यान गया हुआ मालूम पड़ता है। मानव-जीवन को प्रभावित करनेवाले स्थायी तत्त्वों—करुणा, प्रेम, धर्म, नीति, भय, आस्था आदि का समावेश यहाँ किया गया है। भाषा अनगढ़ और अटपटी नहीं है—यों भाषा की अनगढ़ता और अटपटेपन की बात आंचलिकता के विरोध में उठायी गयी है....और कन्हैयालाल नन्दन का विचार है कि अटपटापन जहाँ तक हो, टाला जाना चाहिये, जिससे पाठक को कथाप्रवाह में व्यवधान न अनुभव हो, साथ ही अर्थगांभीर्य और ध्वनि-सौष्ठव से युक्त सुबोध आंचलिक शब्दों, लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा की समृद्धि की अवहेलना न होनी चाहिये, अन्यथा आंचलिकता की मूलभूत उपलब्धियों का एक पक्ष सूना रह जाएगा (सारिका १।११, नव० १९६१ ई०)—शिल्प में कसाव है, बिखराव नहीं है—वैसे शिल्प के नवीन प्रयोग—कहीं संस्करण शैली में, कहीं डायरी—आत्मकथात्मक शैली में और कहीं अनेक कथा-समूहों की शैली में होना आंचलिक उपन्यास का मुख्य प्रतिमान है। 'गोदान' के चरित्रों में व्यक्ति-वैलक्षण्य का प्राचुर्य होता तो शैली और शिल्प के अभाव में भी, इसे अच्छा आंचलिक उपन्यास कहा जाता पर मिर्जासाहब, डॉ० मेहता, मिस मालती, नोहरी आदि के चित्रों को छोड़ किसी चरित्र में व्यक्ति वैलक्षण्य अधिक नहीं दिखलाई पड़ता; ये चरित्र प्रायः 'टाइप' हैं, वर्ग-

प्रतिनिधि हैं, चाहे होरी हो, चाहे गोबर; चाहे अमरपाल सिंह हों, खन्ना हों, तंखा हों; चाहे धनिया, झुनिया, सोना, रूपा आदि—सबके सब वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात दूसरी है कि लेखक द्वारा उतारा गया इन सबका चरित्र एक अद्भुत सफाई लिये हुए है और चित्र (Snap shot) में अद्भुत सफाई का परिचय लेखक प्रेमचन्द का वैशेष्य है, गुण है, और यही कारण है, गोदान की आंचलिकता, आंचलिकता की कसौटी पर खरी न उतरने पर भी खरी है, प्रभान्विदि की क्षमता लिये हुए है।

हिन्दी विभाग,
किसान कालेज,
सोहसराय (नालन्दा)

प्रेमचन्द : पत्रकार के रूप में

—डॉ० भगवतीलाल भारतीय

प्रेमचन्द की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में उनके साहित्यकार व्यक्तित्व के विविध-आयामों की समीक्षा की जानी आवश्यक है। हिन्दी के कथा साहित्य में उनकी कृतियों ने जैसा युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किया था, उसे इतिहास के एक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। जिस समय हिन्दी कथा साहित्य में देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों ने पाठकों को तिलस्मी इमारतों तथा ऐयारों के करिश्मों की भूल-भुलैया में डाल रखा था, गोपालराम गहमरी के जासूस अपराध, हत्या तथा अन्य सनसनी खोज घटनाओं की ढूँढ़ तलाश में लगे थे, किशोरीलाल गोस्वामी के श्रृंगार प्रधान उपन्यासों के सस्ते मनोरंजन से पाठक वर्ग ऊब चुका था, उस समय मानव जीवन को सही रूप में चित्रित करने वाले कथाकार प्रेमचन्द का उदय साहित्याकाश में हुआ। उपन्यास और कहानी को अलौकिक एवं चमत्कार पूर्ण तत्वों से छुटकारा दिला कर यथार्थवाद के कगोर किन्तु वास्तविक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्रेमचन्द को है।

प्रेमचन्द ने केवल कथा साहित्य में ही क्रान्ति की हो, ऐसी बात नहीं है। पद्य को छोड़ कर उन्होंने साहित्य की लगभग अन्य सभी विधाओं को अपनी कारयित्री प्रतिभा से समृद्ध किया है। 'कर्बला' और 'प्रेम की वेदी' के रूप में उन्होंने दृश्यकाव्य (नाटक) की रचना की, 'कुछ विचार' शीर्षक उनके निबंधों का संग्रह यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि प्रेमचन्द में उच्च कोटि की समालोचनात्मक प्रतिमा थी। काव्य, साहित्य, कथाकार का दायित्व, लेखक की सामाजिक चेतना, साहित्य में आदर्श एवं यथार्थ की भूमिका जैसे विषयों पर प्रेमचन्द के विचार नितान्त स्पष्ट, व्यावहारिक तथा प्रभाव-पूर्ण थे। उनके लिये साहित्य रचना कोई खाम खयाली या लेखक के निराले मानस लोक में उठने वाली भाव उर्मियों का स्वच्छन्द लास-विलास न होकर लोकमंगल का विधान करने वाली एक पवित्र साधना थी। जॉन गाल्र्सवर्दी के नाटकों का उन्होंन अनुवाद

किया। इसी प्रकार रतननाथ दर संरशार की प्रसिद्धि कथा कृति फसाना आजाद को आजाद कथा के रूप में हिन्दी में लाने का श्रेय भी उनको ही है।

प्रेमचन्द का एक अन्य रूप पत्रकार का भी है। हिन्दो पत्रकारिता को उनकी देन नितरां महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है। यों पत्रकारिता से उनका परिचय तो तभी हो गया था जब वे उर्दू के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'जमाना' में नियमित रूप से लिखने लगे थे। जमाना के सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम साहित्य के क्षेत्रमें उनके मित्र तथा पथ प्रदर्शक थे। जब महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रेमचन्द ने अपनी पुरारी सरकारी नौकरी को लात मार दी, तब उनके मन में पत्रकार बन कर जीवन-यापन करने का विचार आया था। वे कुछ काल तक साप्ताहिक जमाना और साप्ताहिक आजाद के अवैतनिक सहायक सम्पादक भी रहे थे।

हिन्दी पत्रकारिता में प्रेमचन्द का प्रवेश 'माधुरी' के सम्पादन से हुआ। माधुरी अपने युग की सुप्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका थी, जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस के प्राचीन प्रकाशन संस्थान से होता था। मुन्शी विष्णुनारायण भार्गव इस पत्रिका के प्रकाशक तथा संचालक थे। उन्हीं की प्रेरणा से प्रेमचन्दने पत्र का सम्पादन कार्य स्वीकार किया। प्रसिद्ध समालोचक तथा देव विहारी विवाद में अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मति रखने वाले पं० कृष्ण बिहारी मिश्र भी माधुरी के सम्पादक मण्डल में प्रेमचन्द के सहयोगी थे। १९२७ में प्रेमचन्द ने माधुरी का सम्पादन कार्य आरम्भ किया और १९३० के अन्त तक करते रहे। इस बीच उनकी सती, सुजान भगत, मांग की घड़ी, आत्म संगीत, राक्ट्रेस, मंदिर, दुराशा तथा शुद्धि आदि प्रसिद्ध कहानियाँ माधुरी में प्रकाशित हुई। इस समय की एक रोचक घटना उल्लेहनीय है। प्रेमचन्द की प्रसिद्ध हास्य कथा 'मोटेराम शास्त्री' जनवरी १९२८ की माधुरी में प्रकाशित हुई थी। लखनऊ निवासी एक सज्जन पं० शालिग्राम शास्त्री वैद्य को ऐसा आभास लगा मानो यह कहानी उन्हीं का विद्रूप उपस्थित करने के लिये छापी गई है। अतः उन्होंने माधुरी के सन्पादकद्वय प्रेमचन्द तथा मिश्र जी पर अदालत में मानहानि का अभियोग दायर किया। मुकदमा लम्बा चला, परन्तु

उसमें शास्त्रीजी की हार हुई। मोटेराम शास्त्री के कारण माधुरी का बड़ा प्रचार हुआ।

हिन्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक तथा आर्यसमाजी विद्वान् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के शाङ्कर वेदान्त की समालोचनात्मक लेखमाला 'अद्वैतवाद' शीर्षक प्रेमचन्द ने माधुरी में छापी। इस कारण उन्हें पत्र के मालिक भार्गव परिवार का कोप भाजन भी होना पड़ा था। जिस समय प्रेमचन्द लखनऊ रहकर हिन्दी की इस प्रसिद्ध पत्रिका का सम्पादन कर रहे थे, उस समय लखनऊ हिन्दी की साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। पं० बद्रीनाथ भट्ट, महाकवि निराला, मिश्रबधु, दुलारेलाल भार्गव आदि साहित्यकारों का जमघट लखनऊ को साहित्यिक चर्चाओं का केन्द्र बना रहा था।

अब प्रेमचन्द के मन में खुद का पत्र प्रकाशित करने का विचार आया। इसे मूर्त रूप देने का अवसर उन्हें मार्च १९३० में मिला, जब बनारस से उन्होने 'हंस' का मासिक रूप में प्रकाशन आरम्भ किया। हंस का प्रवेशांक चैत्र १९८७ वि० को निकला, जिसमें प्रेमचन्द ने 'हंस वार्ता' शीर्षक सम्पादकीय लिख कर पत्र के प्रकाशन का प्रयोजन स्पष्ट किया। वे दिन राजनीतिक सरगर्मियों के थे, प्रेमचन्द जैसे राष्ट्रीय भावधारा में दीक्षित व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह राजनीतिक चेतना से पृथक् होकर अपना पत्र निकालने। हंस की एक टिप्पणी से क्षुब्ध होकर अगस्त १९३० में प्रेस से १००० रु० की जमानत माँगी गई। प्रेमचन्द के लिये जमानत की राशि देना सम्भव ही नहीं था। इस प्रसंग की चर्चा करते हुए उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखा था—"अच्छा मेरी गाथा सुनो। हंस पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेंस आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई……मेरे पास न रुपये हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटो। किसी से कर्ज भी लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते, लेकिन वह नहीं होना है।" आर्थिक कठिनाइयों के इन घात-प्रतिघातों को सहन करते हुए प्रेमचन्द ने हंस को जीवित रक्खा।

हंस में प्रेमचन्द लिखित कहानियाँ, निबन्ध, टिप्पणियाँ, पुस्तक समीक्षा में नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं। प्रेमचन्द ने समकालीन कथाकारों—जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र, सुदर्शन, सियाराम शरणगुप्त की रचनाएँ भी हंस में प्रकाशित कीं। टाल्सटाय, जार्ज इलियट, अनातोले फ्रांस, चेखव आदि विदेशी लेखकों की अनूदित कहानियाँ भी हंस में प्रकाशित हुईं। हंस के कुछ स्तम्भ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। 'मुक्ता मंजूषा' हंस का एक ऐसा स्तम्भ था, जिसकी अपनी विशेषता थी। यह पत्र के अन्त में रहता था और इसमें हिन्दी तथा इतर भारतीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति का लेखा-जोखा रहता था। इस साहित्यिक संगम के माध्यम से प्रेमचन्द हिन्दी के पाठकों को अन्य भारतीय भाषाओं की गतिविधियों का परिचय देते रहते थे। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचन्द ने लिखा था—"हमने हंस का आयोजन केवल राष्ट्रभाषा और राष्ट्र-साहित्य के उद्देश्य से किया है। हमारा कोई व्यापारिक स्वार्थ इसमें नहीं है।........अनुमान कीजिये कि कन्नड़, तमिल, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं की सामग्री हिन्दी में उपस्थित करने के लिये हमें कितना व्यय और कितना उद्योग करना पड़ता है। आप हंस के माध्यम से सम्पूर्ण भारत के साहित्य से परिचित हो जायेंगे। प्रान्तीय साहित्यों में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, वह आपको हंस द्वारा प्राप्त हो जायेगा। "मुक्ता मंजूषा" में मराठी की साहित्यिक प्रगति का परिचय श्री आनन्दराव जोशी तथा गुजराती साहित्य की वाग्विभूति का विवरण पं० शंकरदेव विद्यालंकार दिया करते थे।

हंस का 'नीर-क्षीर' प्रसिद्ध है। यह नव प्रकाशित कृतियों की समालोचना का स्तम्भ था। अन्य लेखकों के अतिरिक्त स्वयं प्रेमचन्दजी समालोचनार्थ भेजी जाने वाली अभिनव कृतियों की समीक्षा लिखते थे। प्रसाद के उपन्यास के काल, वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़ कुण्डार तथा कन्हैयालाल मुंशी के विवादास्पद उपन्यास, पृथ्वी वल्लभ की विस्तृत समीक्षाएँ नीर-क्षीर के अन्तर्गत छपीं। हंस में हंसवाणी शीर्षक के अन्तर्गत प्रेमचन्द लिखित सम्पादकीय टिप्पणियां छपती थीं। इस स्तम्भ के माध्यम से सम्पादक प्रेमचन्द ने विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

प्रेमचन्द के सम्पादन काल में हंस के कुछ उल्लेखनीय विशेषांक भी प्रकाशित हुए। फरवरी १९३२ का अंक 'आत्मकथांक' के रूप में आया। विभिन्न जीवन क्षेत्रों के व्यक्तियों ने अपने आत्म वृतान्तपूर्ण निबंध में वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया। १७० पृष्ठों के इस वृहद् विशेषांक का आरम्भ प्रसादजी की काव्यात्मक आत्मकथा से हुआ है। प्रसाद ने लिखा था—

छोटे से जीवन की कैसी बड़ी कथाएँ आज कहूँ।
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ॥
सुन कर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा।
अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी मौन व्यथा॥

जिन साहित्यकारों ने इस विशेषांक में अपने जीवनानुभव प्रकाशित किये–उनमें सर्वश्री गोपालराम गहमरी, ज्वालादत्त शर्मा, बदरीनाथ भट्ट, राधेश्याम कथावाचक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वयं प्रेमचन्द ने इस अंक में 'जीवनसार' लिखकर अपने जीवन-वृत्त के प्रारम्भिक पृष्ठों का उद्घाटन किया। उनके ही शब्दों में—"मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है। जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की शैर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।" शायद ही किसी साहित्यकार ने इतने निरभिमान भाव से अपने जीवन की परतों को खोला हो, जैसा प्रेमचन्द ने किया है।

१९३२ का अक्टूबर-नवम्बर का सम्मीलित अंक स्वदेशांक के नाम से प्रकाशित हुआ। इस अंक के कतिपय उल्लेखनीय लेखक थे–डा० भगवानदास, पं० रामनारायण मिश्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पं०बलदेव उपाध्याय, रामकृष्णदास आदि। एक वर्ष पश्चात् १९३३ के अक्टूबर-नवम्बर का विशेषांक 'काशी अंक' के रूप में निकला। काशी नगर भारत के धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यह नगरी भगवान् शिव के त्रिशूल पर स्थित है। विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, भैरव, गणेश आदि के धार्मिक जगत् में प्रसिद्ध मन्दिरों के कारण अशेष हिन्दू समाज का श्रद्धा भाजन

यह नगर काशी विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ जैसे विद्या-केन्द्रों के कारण शिक्षा-क्षेत्र में भी विख्यात है। इसी काशी नगर के रंगारंग रूप का चित्रण करना विशेषांक का उद्देश्य था। काशी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डा० श्याम सुन्दरदास, जयशंकर प्रसाद जैसे साहित्यकारों की साधना का क्षेत्र रहा है। स्वयं प्रेमचन्द ने काशी के बेनियाबाग स्थित मकान में रहकर हिन्दी के कथा साहित्य को समृद्ध किया था। काशी से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं का विवरण श्री केदारनाथ पाठक ने उपस्थित किया है। इसी नगर से राजा शिव प्रसाद ने बनारस अखबार निकाला था तथा भारतेन्दु के पत्रों—कवि वचनसुधा, बालबोधिनी, हरिश्चन्द्र मैगजीन आदि का जन्म भी इसी नगर में हुआ। वस्तुतः किसी नगर का सर्वतोमुखी सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का यह सराहनीय प्रयास था।

महात्मा गाँधी की प्रेरणा तथा प्रेमचन्द एवं गुजराती के मूर्धन्य साहित्यकार कन्हैयालाल माणिककाल मुंशी के सम्मिलित प्रयासों से भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना हुई थी। इस परिषद् का उद्देश्य भारत की सभी भाषाओं के साहित्यकारों को एक मंच पर लाकर साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को मजबूत करना था। प्रेमचन्द ने इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करने हेतु 'हंस' को परिषद् का मुख पत्र बना दिया। सम्पादक तो प्रेमचन्द ही रहे, परन्तु कन्हैयालाल मुंशी भी सहयोगी सम्पादक के रूप में हंस के कार्य में सहयोग देते रहे। यह घटना १९३५ की है। महातमा गांधी ने पत्र को अपना आशीर्वाद देते हुए लिखा—"हंस हिन्दुस्तान भर में अनोखा प्रयास है। यदि हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना है तो ऐसे मासिक पत्र की आवश्यकता है।" हंस में हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, उर्दू, मराठी, बंगला, कन्नड़, मलयालम, सिंधी, सिंहली आदि भाषाओं की रचनाएँ देवनागरी लिपि में प्रस्तुत की जाती थीं। हंस का सलाहकार मण्डल बनाया गया। जिममें सभी भाषाओं के प्रमुख साहित्यकारों को सम्मिलित किया गया। महात्मा गांधी तथा टण्डनजी जैसे राष्ट्रीय स्तर के नेताओं के अतिरिक्त इसमें मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी), काका कालेलकर (मराठी और गुजराती), मुहम्मद आकिल और सज्जाद जहीर (उर्दू), कालिदास नाग (बँगला) एन० सी० बारदोलोई (असम), के० एम०

जबेरी (गुजराती), आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव (गुजराती), दत्तोवामन पोतदार, सरदार माधवराव किबे (मराठी), राजगोपालाचार्य (तमिल), के० नागेश्वरराव पन्तुलु (तेलगू), आनन्द दिकरन, बल्लतोल नारायण मेनन तथा सरदार के० एम० पणिकर (मलयालम) आदि विभिन्न भाषाओं के लेखक और साहित्यकार भी थे।

आज तो हिन्दी के प्रमुख पत्र पूँजीपतियों के धन-बल से संचालित होते हैं, परन्तु जिस युग में प्रेमचन्द हंस का संचालन कर रहे थे, उनदिनों में हिन्दी पत्रों को चलाना बड़ा जोखिम का काम था। हंस को नियमित रूप से जारी रखने में प्रेमचन्द को जो आर्थिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, वे वर्णनातीत हैं। इसी बीच उन्होंने विनोदशंकर व्यास द्वारा प्रारम्भ किये गये 'जागरण' साप्ताहिक का दायित्व भी अपने ऊपर ले लिया। जैनेन्द्र को लिखे एक पत्र में प्रेमचन्द ने जागरण की व्यथा-कथा इस प्रकार लिखी है—"इस बीच मैंने जागरण को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले, लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से अधिक नहीं बढ़ी। विज्ञापन तो व्यास जी ने बहुत किया, लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उसपर पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिये ही सामान है। मैं जबतक इसे चलाता हूँ चलाता हूँ, फिर यह तुम्हारी चीज है। धन का अभाव है, हंस में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा। पर क्या करूँ। यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह थी पत्रों को चलाने के पीछे प्रेमचन्द की आर्थिक कठिनाइयों की करुण कथा।

'हंस' और 'जागरण' के समक्ष उपस्थित धन की कठिनाइयों ने प्रेमचन्द को व्याकुल कर दिया। यद्यपि दोनों पत्र उनके निजी प्रेस सरस्वती प्रेस में छपते थे, परन्तु मजदूरों को देने के लिये भी पर्याप्त धन उनके पास नहीं था। आर्थिक कठिनाई से एक बारगी ही मुक्त हो जाने के उद्देश्य से

उन्होंने फिल्मी क्षेत्र में जाने का निश्चय किया। ८००० रु० साल के कंट्राक्ट पर वे अजन्ता सीनेटोन में चले गये, परन्तु फिल्मी दुनिया उन्हें रास नहीं आई। सोचा तो था कि 'जागरण' हंस, दोनों मजे से चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा" (जैनेन्द्र को लिखा पत्र), परन्तु अन्ततः उन्हें निराशा ही हाथ लगी। अब जैनेन्द्र को लिखा—मैं जिन इरादों से आया था उसमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता।" और वे इस्तीफा देकर बनारस लौट आये। 'हंस' की चिन्ता प्रेमचन्द को मृत्यु-पर्यन्त रही। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्रों—श्रीपतराय और अमृतराय ने वर्षों तक हंस को प्रगतिशील साहित्यिक पत्र के रूप में जारी रक्खा। खेद है कि हंस अपनी साहित्यिक यात्रा का एक पड़ाव समाप्त कर साहित्य क्षितिज से ओझल हो चुका है, परन्तु उसकी फाइलों में उस अमर साहित्य शिल्पी प्रेमचन्द की आत्मा विद्यमान है, जिसने अपना खून पसीना एक कर वर्षों तक उसे जीवित रक्खा था।

—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
दयानन्द अनुसन्धान पीठ, चण्डीगढ

वे सुकरात से कम नहीं थे

—आनन्द शंकर माधवन

कहावत है मानिये तो भगवान, नहीं तो पत्थर है; मानिये तो गंगा, नहीं तो साधारण जल है। यह मानना जो है, आदमी का स्तर-परिचय मात्र प्रकट करता है चित्रकूट के घाट पर राम तुलसी के सामने प्रकट हुए। पर बेचारा तुलसी उन्हें पहचान न सका। प्रकट होने से भी क्या लाभ ? पहचानने की दृष्टि नहीं आयी, तो कुछ नहीं आया। यह दृष्टि-लाभ प्राप्त करने-कराने की ओर ही सभी प्रकार की मानवीय चेष्टाएँ केन्द्रित रहती हैं। तुलसी के सामने भक्त–वत्सल हनुमान थे पहचान कराने के लिये। हम आपके सामने कौन हैं ? महापुरुष हमारे सामने अनेकों आये, पर, हम ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं। बार-बार वे आते हैं, जैसे कि कोई गंभीर समस्या अभी भी समाधान हेतु बाकी रह गयी है। किसी संभव सुन्दर व्यवस्था का अग्रिम परिचय कराने के लिये ही तो पुरुष बार-बार आते हैं, बार-बार खिलते हैं। पर मानव की समझ में कुछ भी नहीं आता। उनकी समझ के साथ जमाने के हर प्रकार के दुर्विचार रात-दिन बलात्कार ही करते रहते हैं। कैसे दृष्टि उनकी खुलेगी और सत्यासत्य का परिचय उन्हें प्राप्त होगा। कितने ही सुकरातों को विष पान करना पड़ेगा, कितने ही ईसाओं को शूलियों पर चढ़ना पड़ेगा और कितने ही गाँधियों को गोलियाँ खानी पड़ेंगी। तब कहीं मानव का चैतन्य जगा तो जगा।

जब प्रेमचन्द के बारे में कुछ लिखने को मुझसे आग्रह किया गया तो मेरा कलेजा सिहर उठा। भला, मैं हर प्रकार से गया बीता, उस प्रातः स्मरणीय साहित्यिक मनीषी के ऋषिप्रभ व्यक्तित्व और अनुपम कृतित्व के सम्बन्ध में कुछ सार समझने योग्य बातें कह पाऊँगा ? कहना क्या मामूली अनुष्ठान है ? उसके लिये भी तो दम चाहिये। मुझमें दम कहाँ ?

वे तो सुकरात से कम नहीं थे। कम-से-कम मैं तो ऐसा ही समझता हूँ। सुकरात के लिये क्सेनोफन, प्लेटो, अरिस्तू, क्रिटो आदि प्रबुद्ध शिष्या लोग थे। इसलिये सुकरात को सुकरात के रूप में आज हम जान पाते हैं। पर कितने ही सुकरात प्रबुद्ध शिष्यों और मित्रों के अभाव में समाज

और इतिहास के लिये अज्ञात रह गये होंगे। कितने ही कालिदास, तुलसी-दास, रविद्रनाथ आदि लिखे वगैर मर गये होंगे। कितने ही खनिज अभी भी भूगर्भ में होंगे। दृष्टि आयेगी, तभी तो पूजा होगी। हिन्दी साहित्य जगत् ने प्रेमचन्द को पहचाना ही कब था कि उनका समुचित सम्मान होता। सम्मान करना सबसे संभव नहीं यह नारा लगाना या जय बोलना नहीं। जो स्वयं सम्मानित हैं वही दूसरों का भी सम्मान कर सकता है। जिनमें कवित्व प्रतिभा जाग्रत हैं, वे ही कवि को पहचानकर उनका आदर कर सकते हैं। वह महान् फ्रांसीसी साहित्यकार वालटायर जीवन भर उपेक्षित रहा। उसकी अन्त्येष्टि क्रिया में भी उसके कुछ अंतरंग मित्रों के अलावा किसी ने भी भाग नहीं लिया। पर धीरे-धीरे जब उसकी रचनाएँ जन-साधारण में फैली तब जनता को समझ में आया कि उसने अपने इतने बड़े मेधावी लेखक के लिये कुछ भी नहीं किया। यह दुःख और पश्चात्ताप इतना सर्वव्याप्त हो गया कि सर्वत्र लोगों ने हल्ला मचाना शुरू किया। लाओ वालटायर की हड्डियाँ, हम उन हड्डियों का ही सम्मान करके अपने को कृतकृत्य अनुभव करेंगे। लाचार सरकार ने खोज आरंभ की कि कहाँ वालटायर को दफनाया गया है। वह एक देहात के किसी उपेक्षित स्थान में था। आखिर उस जगह से उन हड्डियों को खोद निकाला गया और जब उन्हें पैरिस शहर में लाया गया तो उनका शानदार स्वागत हुआ। भीड़ छह लाख से कम नहीं थी। किन आँखों में आँसू नहीं थे! जाग्रत जन-समाज अपने साहित्यकार का सम्मान ऐसे ही करता है। अभी भी पैरिस शहर में वालटायर की उन हड्डियों पर बनी भव्य समाधि देखने को प्राप्त है। हमारी जनता में जागरण रहता तो हमारे भी इस महान् साहित्यकार प्रेमचन्द की संगमरमर की बनी भव्य प्रतिमा नई दिल्ली के पार्लमेंटरी स्ट्रीट में देखने को मिलती। हम, भाई पाठक, माफ करना, अपने भाग्यविधाताओं को खोजने वाले मात्र हैं, अपने कर्ताओं को ढूँढने वाले मात्र हैं। कोई राज करें हमें क्या! हम सदा से अपने लिये एक सशक्त कर्ता की ही माँग करते रहे हैं, एक जोरदार भाग्यविधाता की आवश्यकता ही अनुभव करते रहे हैं। यह जब मिल जाता है, हमें सर्वत्र शान्ति ही नजर आने लगती है। हमारे लिये कब्र की शान्ति ही पूर्ण समाधि-सुख का परिचय है। जब मुसलमान कर्ता आये तो हमने उनका

भी सहर्ष स्वागत किया, उनकी जूतियों के नीचे भी शान से जनेऊ पहना, वेदमन्त्र पढ़े और सिद्धियाँ प्राप्त कीं। जब अंग्रेज भाग्यविधाता आये तो हमने उनका भी सहर्ष स्वागत किया, उनकी जूतियों के नीचे भी शान से जनेऊ पहना, वेद मन्त्र पढ़े और सिद्धियाँ प्राप्त कीं। अब तो हम कम्यूनिस्ट कर्ताओं का आसन्न आगमन संवाद पाकर विभोर हैं। हम उनका भी स्वागत ही करेंगे। पर देखना यह है कि हम जनेऊ पहन सकेंगे या नहीं, वेद गन्त्र पढ़ सकेंगे या नहीं और सिद्धियाँ भी प्राप्त कर पायेंगे या नहीं, जूतियों के नीचे ही सही। यही तो हमारे प्रबुद्ध चैतन्य का परिचय है। ऐसी स्थिति में हमारे बीच वेदव्यास भी आकर लिखें, युधिष्ठिर भी आवें शासन सँभालने हम उनका भी तिरस्कार ही करेंगे। कब्र में जो पड़े हुए हैं; उन्हें जिन्दगी का क्या स्वाद लग सकता है? हम गुलाम थे बगैर जाने कि गुलामी क्या ? स्वतंत्र हुए वगैर जाने कि स्वतंत्रता क्या ? हम धार्मिक हैं, वगैर जाने कि धर्म क्या? हम मनुष्य हैं वगैर जाने कि मनुष्यत्व क्या ? हम जिन्दे हैं वगैर जाने कि जिन्दगी क्या और हम मरेंगे भी वगैर जाने कि मौत क्या ? जिसको ज्ञान-पिपासा है ही नहीं, वह जानेगा क्या? सुकरात कहा करता था सभी उपद्रवकारी प्रमुख शब्दों का अर्थ हमें स्वयं ढूँढ़ निकालना चाहिये। ढूँढ़ने वालों को ही सत्य और भगवान् से भी साक्षात्कार संभव है। इसलिये हर कार्य अन्वेषण के रूप में हो—प्रार्थना भी, अध्ययन भी, मनन-चिन्तन भी। सत्य, स्वतंत्रता, धर्म, सौन्दर्य, कला, शिक्षा, गुण, ज्ञान आदि शब्दों का वास्तविक तात्पर्य अन्वेषण करने वालों को ही, चिन्तन मनन करने वालों को ही विदित होने लगेगा। सुकरात की जिन्दगी एक खुली पुस्तक रही है। उनका कुछ भी कार्य छिपा हुआ नहीं था। वह सदा सब प्रकार के मानवों के बीच ही अपना समय विताता था। लोगों से मिलने-जुलने और उनसे नाना प्रकार के विषयों पर वार्तालाप करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। उनकी नजर में सभी मानव समान थे। हर प्रकार के और हर स्तर के लोगों से उन्हें मैत्री थी। उनका काम मात्र एक था—जन-चैतन्य को जाग्रत एवं प्रबुद्ध रखना, उन्हें ज्ञान-पिपासु बना देना, उनकी अज्ञता और मूर्खता का उन्हें परिचय कराते हुए स्वयं ज्ञान-साधना और गुण-साधना करने के लिये उन्हें प्रेरित करना, समस्याओं को स्वयं सुलझाने के लिये उन्हें संवल प्रदान करना इत्यादि। सुकरात का कहना था, ज्ञान

और गुण दोनों एक ही सिक्के के दो चेहरे मात्र हैं। सुकरात ने कभी कुछ नहीं लिखा—सिर्फ शिष्यों और मित्रों से और अन्य लोगों से वार्तालाप किया। उनके शिष्य लोगों ने जहाँतक उनसे बन पड़ा, उन वार्तालापों का संग्रह करने का प्रयास किया। सुकरात का मत था जन-चैतन्य को प्रबुद्ध रखना ही सबसे वड़ी भगवत् सेवा है और इसके लिये श्रम अपेक्षित है। ज्ञान हासिल करना और गुण-साधना करना ही चैतन्य को प्रबुद्ध रखने का उपाय है। उन्हें तथाकथित बड़ों की अज्ञता और मूर्खता का पर्दाफाश कर देने में बड़ा मजा आता था। वह इसे जनसाधारण को उन धूर्त नेताओं के पंजे से मुक्ति दिला देने का एक सशक्त उपाय समझते थे। इसके चलते उन्हें उन धूर्त शक्तों की दुश्मनी मोल लेनी पड़ी और अन्त उसका यह हुआ कि उन लोगों ने उस महापुरुष की जान ही लेली। सुकरात की खूबी यह नहीं थी कि उन्होंने क्या-क्या, कहा—खूबी यह थी कि उन्होंने कैसे अपना जीवन व्यतीत किया। वह प्रेम के साकार मूर्ति थे। कभी उस हृदय में दुर्विकार का प्रवेश नहीं हुआ। आजीवन अभावग्रस्त रहे, नाना प्रकार के दुःख, कष्ट सहे, पर कभी किसी से हाथ फैलाकर कुछ माँगा नहीं।

मैं प्रेमचन्द को, हिन्दी साहित्य का सुकरात इसलिये कहता हूँ; क्योंकि प्रेमचन्द में भी वे सभी गुण ज्ञान, चैतन्य, स्वभाव महिमा और लक्ष्य बोध थे जो सुकरात में थे और जिनके कारण सुकरात सुकरात बने। इतने बड़े प्रभावकारी और सशक्त लेखक होते हुए भी प्रेमचन्द आजीवन अभावग्रस्त ही रहे और कभी किसी से अपने दुःख, कष्ट की बातें नहीं कहीं। सवाल यह नहीं कि प्रेमचन्द ने क्या लिखा, यह है क्या नहीं लिखा जो गर्भस्थ है, जिन्हें ढूँढ़ने के लिये पाठकों को विवश होकर प्रयास करना पड़ता है। उनकी अनलिखी बातें ऐसी जबर्दस्त हैं कि पाठकों को उन्हें पकड़ने के लिए, समझने के लिए अधीरता से मेहनत करना पड़ता है। यह मामूली खूबी नहीं। यह खूबी मनीषी साहित्यकारों की लेखनी में ही पायी जाती है। उनकी पुस्तकें पढ़ने के बाद हमें किन-किन समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने के लिये विवश होकर तैयारियाँ करनी पड़ती हैं, क्या-क्या विचार-धाराएँ हमारे मन-मस्तिष्क में अनायास ही घुस आती हैं, किस उदात्त परिष्कृत दिशा की ओर उठने के लिये हमारे दिल में अभिलाषाएँ

जाग्रत होने लगती हैं और फलतः हममें एक नयी सुसंस्कृत, सुन्दर जिन्दगी बिताने का द्विजत्व संस्कार ही जनने लगता है, खूबी उनकी यही है। जितनी बातें उन्होंने अनलिखी छोड़ दीं, वे सभी बातें पाठकों के दिल में कोलाहल मचाने लगती हैं। ऐसी स्थिति में पाठक को छोड़ देना मामूली लेखकों की बूते के बात नहीं है। साहित्य की खूबी यह नहीं कि उसमें क्या-क्या प्रतिपादित है, यह है कि उसके अध्ययन के बाद क्या-क्या प्रतिपादन करने के लिये पाठक वाध्य हो जाते हैं। जिस ग्रन्थ में यह दम है, उसे ही वास्तविक अर्थ में साहित्य कहा जा सकेगा। हर लिखित मात्र साहित्य नहीं। हम अखबार रोजाना पढ़ते हैं। पढ़ने के बाद कुछ इस तरह उस अखबार को छोड़ देते हैं, जैसे चाय पीने के बाद कप छोड़ देते हैं। किस अखबार का सम्पादन ऐसा है, जिसके अग्रलेखों को Classical writings कहा जा सके, जिन्हें बार-बार पढ़ने तक बाध्य हो जाते हैं और उन्हें सुरक्षित रखने की इच्छा हममें बलवती होने लगती है ? इन सबों के मस्तिष्क में रात-दिन राजनीति के नृत्तकारों के वीभत्स ताण्डव ही सशक्त रहते हैं। इन्हें और कुछ सूझेगा ही नहीं। पढ़ते-पढ़ते ऊब्र ही जाते हैं लोग। इन राजनीतिज्ञों में कौन ऐसे हैं, जिन्हें सचमुच देशवासियों को समझ-बूझ को जाग्रत और प्रबुद्ध रखने की फिक्र है ? इनमें कौन ऐसे हैं जो कम-से-कम स्वतन्त्रता की मीमांसा भी ठीक ढंग से कर सकते हैं ? इनमें कौन ऐसे हैं, जिन्हें एक विशिष्ट ज्ञानी या लेखक या चिन्तक या कम से कम अध्ययन शील ही कहा जा सके ? आज भारत में एक सुकरात जीवित रहना तो इन सबका ऐसा पर्दाफाश कर देता कि जनता में नव जागरण ही पैदा होता ! ज्ञानियों के हाथ में ही तो देश की शासन व्यवस्था सुदृढ़ रह सकती है। ज्ञानी ही देश के वास्तविक प्रहरी हैं। प्रेमचन्द इसके श्रेष्ठतम उदाहरण रहे हैं। उनके वे महान् ग्रन्थ-सेवासदन, रंगभूमि, कर्मभूमि, निर्मला, गवन, गोदान आदि यों उपन्यास नहीं, वे राष्ट्र के रचनात्मक अनुष्ठान के लिये गीता तुल्य महान् संप्रेरक शक्तियों से सुसम्पन्न दिशाबोधजनक चिरस्थायी उपलब्धियाँ भी हैं। इन पुस्तकों में क्या नहीं है ? कितनों ने इन्हें पढ़-पढ़कर भाषा-शैली सीखी, कितनों ने कथा प्रणयन करने का इल्म हासिल किया, कितनों ने देशसेवा करने का व्रत धारण कर लिया, कितने ही भ्रष्ट सज्जन बने, पापी देवता बने, मूर्ख विद्वान् बने।

आदमी के मस्तिष्क में क्रान्ति ही जग गयी, उनकी विचारधाराएँ बदलीं, लक्ष्य बदला, स्वभाव बदला, आचार बदला, स्वप्न बदला, वेशभूषा तक बदल गयी ! अगर फ्रांसीसी क्रान्ति के आधार में बालटायर की रचनाएँ रही हैं, रूसो क्रान्ति के आधार में टालस्टाय की रचनाएँ रही हैं, तो निस्सन्देह भारतीय जनक्रान्ति के आधार में प्रेमचन्द की रचनाओं ने भी अविस्मरणीय सेवा अदा की है। देश की प्रत्येक समस्या का उनकी पुस्तकों में मर्मस्पर्शी विश्लेषण हुआ है और सशक्त निदान भी प्रस्तुत हुआ है। उनकी प्रत्येक कथा सोद्देश्य रही है। जैसे रामायण, महाभारत की कथायें। महाभारत के कई ऐसे पात्र हैं, जिन्हें हम भूल नहीं पाते जैसे भीष्म, द्रोण युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन दुर्योधन, शकुनि, दुश्शासन, कर्ण, कीचक, जयद्रथ आदि। उसी तरह प्रेमचन्द के भी कुछ ऐसे पात्र हैं, जिन्हें हम भूल नहीं पाते। 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी के अलगू चौधरी और जुम्मन शेख को कोई भी पाठक भूल नहीं सकते। मुझे अक्सर यह लगा है उस 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी की लाखों प्रतियाँ छपवाकर देशभर में बाँट देना चाहिये ताकि देहात के लोग जानें और समझें कि पंचायत धर्म क्या है। हम उनके हीरा, मोती नामक दोनों बैलों को भी भूल नहीं पाते, न उस आत्माराम नामक तोते को ही। रामायण महाभारत के कई ऐसे वाक्य हैं, जिन्हें जनसाधारण भूलता नहीं। उसी तरह प्रेमचन्द की कहानियों के भी कई ऐसे वाक्य हैं, जिन्हें पाठक सहज भूल नहीं सकते। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है। वेणी माधव सिंह को जब बुढ़ापा आया, तो परमात्मा की याद आयी। इस एक वाक्य से कितनी ही सम्बन्धित बातें पाठकों के दिल में अनायास ही घुस आती हैं। देखिये, जैसे जवानी में परमात्मा की बात क्यों नहीं याद आती, क्या-क्या बाधक शक्तियाँ हैं, जो जवानी को परमात्मा की याद करने से रोक लगाती हैं। असल में जवानी है क्या, बुढ़ापा क्या चीज है, क्यों दोनों में यह फर्क है, फिर यह मृत्यु भी क्या चीज है, क्यों इससे मानव इतना डरते हैं और क्या परमात्मा की याद करने से वह प्रसन्न होकर आदमी को मृत्युभय से बचा लेगा, कौन है यह परमात्मा, कोई सशक्त राजा तो नहीं और भय क्यों लगता है, आखिर उपाय क्या इन सारे झंझटों से बचने का……बाप रे कितनी ही बातें उस एक वाक्य से फूट निकलकर हमारे मन-मस्तिष्क को समाधान ढूँढ़ने के लिये विवश करने लगती हैं। साफ

है प्रेमचन्द ने ये सभी बातें अपनी कहानी में नहीं लिखी, पर जरूर इन्हें अनलिखे छोड़ दिया और चाहा इन पर पाठक स्वयं सोचें। इसी को कहते हैं लेखन-वैभव। रवीन्द्रनाथ की एक पंक्ति देखिये—कुसुमकली को लाख खुशामदें कीजिये, डाँटिये, पीटिये, वह खिलेगी नहीं, और जब समय आयगा तब न जाने वह अदृश्य प्रिय कौन है, जिनके एक मामूली इशारे पर वह फौरन खिलकर अपने भुवन मोहिनी सौन्दर्य से सारे संसार को ही विभोर करने लगती है। क्या-क्या इस एक पंक्ति से हम सोचने के लिये विवश हो जाते हैं! मानव के अहंकार को इससे कितनी भारी चोट लगती है, सोचिये! खलील जिब्रान की एक पंक्ति देखिये—दया आधा न्याय है। तब हम यह सोचने के लिये बाध्य होते हैं, फिर पूरा न्याय क्या! और फिर इन न्यायालयों में न्याय के नाम पर क्या हो रहा है! क्या-क्या सोचने पर हम बाध्य हो जाते, जिन पर लेखक चुप थे!

इन महान् लेखकों की ऐसी अनोखी-अनोखी सूझों का क्या रहस्य है? कहाँ वह स्रोत! किन-किन कारणों से वह बाँध तोड़कर हृदय धरातल की ओर वह आने लगता है! यही तो अन्वेषण का विषय है। प्रेमचन्द ने उस एक वाक्य में कुछ भी नयी बात नहीं कही। एक सर्वत्र स्वीकृत सत्य को ही उन्होंने कुछ इस ढंग से पेश किया कि पाठक झूमने ही लग गया। अंग्रेजी साहित्य में कितने ही बड़े-बड़े लेखक कवि और उपन्यासकार हैं। पर डा० जॉनसन ही अंग्रेज जनसाधारण में आज भी लोकप्रिय है। इनकी सभी विचित्रताएँ और बेवकूफियाँ भी जनता को बहुत ही रसदार लगती हैं। उन्होंने बोसवेल से एक बार कहा—स्काटलैंड के लोगों को जब खाने के लिये कुछ रह नहीं जाता तो लन्दन का रास्ता खोजने लगते हैं। जॉनसन से एक बार किसी ने पूछा—आपके लिये सर्वाधिक सुख किसमें है? उन्होंने फौरन उत्तर दिया—थाली भर गरम-गरम भोजन सामने मिलने पर मुझे जितना सुख मिलता है, उतना और किसी भी चीज से प्राप्त नहीं होता। जनसाधारण को वह इसलिये अच्छा लगता है कि उसे भी उसी में सुख है। स्वर्गीय डा० रामधारी सिंह दिनकर ने कहीं लिखा है—देखने में बहुत ही सुन्दर, बोली बहुत ही मीठी, आचार व्यवहार अत्यन्त भद्र, कुशल वक्ता भी, प्रतिष्ठित भी, विद्वान् भी देशसेवक भी, पर, खबरदार भाई, ख्याल रखना, शकुनि

है……क्या लिख दिया उस कलम के जादूगर ने, देखिये ! उन्होंने न जाने किन-किन का परिहास करते हुए अन्यत्र कहीं फिर लिखा—सिंहासन खाली करो, जनता आती है……इन वाक्यों को पढ़ने के बाद हमारे दिल में क्या क्या अनायास ही घुस आते हैं, सोचिये ! किन-किन बातों पर सोच-विचार करने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं……

प्रेमचन्द के गोदान नामक उपन्यास का महत्त्व गोर्की के माँ नामक उपन्यास से कम नहीं है। आश्चर्य है गोदान को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति क्यों नहीं प्राप्त हुई ! जैसे अन्यत्र मैंने संकेत किया, हमारे बीच वेदव्यास भी आकर लिखें, हम उनका सम्मान नहीं करेंगे। क्योंकि हम कब्र की शान्ति में सुख-निद्रा जो ले रहे हैं !

मेरे एक आदरणीय कांग्रेसी मित्र थे—बाबू कीर्ति नारायण सिंह। एक दिन बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझसे कहा—भाई माधवन, मुझे लगता है ये साहित्यकार सभी झूठे हैं। यों नाना प्रकार की बेबुनियाद गप्पें लिख-लिखकर पुस्तकाकार में जन-साधारण के सामने पेश करते रहते हैं। जनता के लिये सभी छपी हुई चीजें श्रेष्ठ हैं। इन्हें पढ़-पढ़कर लोगों के माथे एकदम ओछे ही बन जाते हैं। मैं कहता हूँ इन सारे लेखकों को गिरफ्तार करके जेल भेज देना चाहिये और उनसे कहना चाहिये, गेहूँ पीसो, कम-से-कम अपने पेट भर के लिये ही सही, पैदा करो। इन सबों की किताबें पढ़ना मना हो जाना चाहिये। पढ़ना ही है तो वेद पढ़े, गीता पढ़े, कुरान पढ़े। कहानियों में क्या रखा है ?

मैंने कहा—तबतो कीर्ति बाबू, वेदव्यास वाल्मीकि आदि भी झूठे थे क्योंकि रामायण, महाभारत भी तो कहानियाँ हैं।

कीर्तिबाबू ने अपने को दुरुस्त करते हुए कहा—न……न……वे झूठे कैसे ! वे तो ऋषि जो ठहरे ! उनकी कहानियों में तथ्य है, दिशाबोधजनक उद्‌बोधन है। ऐसे तो कठोपनिषद् भी कहानी ही है। पर इन सब आधुनिक कहानियों में क्या रखा है ? क्या इन्हें उपनिषद् कहा जा सकेगा ? क्या इन कथाकारों को ऋषि माना जा सकेगा ? ये लोग किसी भी मामले में प्राचीन साहित्यकारों का मुकाबिला नहीं कर सकते।

मैंने कहा—ठीक है। तो मैं आपको एक आधुनिक कहानी सुनाता हूँ।

ऐसा कहकर बगैर प्रेमचन्द का नाम लिये, निर्मला नामक उपन्यास की कथा बड़े ही प्रभावकारी ढंग से उन्हें सुनाने लगा। कहानी सुनते-सुनते उनकी आँखें द्रवित हो गयीं और अन्त में कहने लगे—इसमें जितनी बातें कही गयीं, सभी सही हैं। भारतीय जन-जीवन का यह एक मार्मिक दिग् दर्शन है। समाज के नग्न चित्र को ही उपस्थित करते हुए लेखक पाठकों को तत्सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए ललकार भी रहे है, आग्रह भी कर रहे हैं, आरजू-मिन्नतें भी कर रहे हैं, एकदम गिड़-गिड़ा भी रहे हैं। हे भगवान्, कितनी मर्मभेदी ईमानदारी है इस लेखक की ! यह कौन है माधवन ? निस्सन्देह इस कथाकार को मैं ऋषि कहूँगा। क्योंकि इनकी आत्मा रात-दिन देश के लिये कलप रही है। ऐसा हृदय एक भी राजनीतिज्ञ का नहीं यद्यपि, वे सब देश-सेवक बन सर्वत्र नेतागिरी करते फिरते हैं। इस महान साहित्यिक ऋषि के समक्ष राजनीतिज्ञ बिलकुल कूड़े हैं। हम लोग सिर्फ हल्ला मचाने वाले मात्र हैं। क्षणभर चुप रहने के बाद उन्होंने फिर कहना शुरू किया—भाई माधवन, आप अब कथावाचक बनिये। आपने मुझे रुला ही दिया। कितने कारुणिक ढंग से आपने उस कथा को प्रस्तुत किया। प्राचीन जमाने में कथावाचक लोग ऋषि होते थे, साधु-संत होते थे।

मैंने कहा—आधुनिक युग में भी साधु-संत लोग यह धन्धा करते हैं।

कीर्तिबाबू ने कहा—मैं चाहता हूँ आधुनिक युग में भी कथावाचक लोग इस प्रकार की कथाओं को गाँव-गाँव सुनाते फिरें। इससे जन-जागरण शीघ्रता से प्रज्वलित होने लगेगा। आपने बताया नहीं, उस कहानी का लेखक कौन है ? मैंने कहा—वे दिवंगत हो चुके हैं। नाम थे प्रेमचन्द। कीर्तिबाबू ने आकाश की ओर अभिमुख होकर, कर जोड़ते हुए कहा—हे ऋषि प्रवर, आप कहीं भी हों, मेरा प्रणाम स्वीकारें। फिर धीरे से कहा—मैंने उनका नाम सुना है। वे तो उर्दू के लेखक थे।

मैंने उत्तर दिया—मान्यवर, उनके लिये हिन्दी, उर्दू दोनों में कुछ फरक नहीं रहा है। न हिन्दू और मुसलमान में ही। उन्होंने अनेकों कहानियाँ लिखी हैं। सभी कथा-साहित्य के श्रेष्ठतम नमूने हैं। आप सुनेंगे तो विभोर हो जाइयेगा।

कीर्तिबाबू ने विचार मग्न होते हुए कहा–मुझे लगता है कथा साहित्य भी एक उत्तम पंथ है, जहाँ से होकर जनता को आगे की ओर बढ़ाया जा सकता है। वैसे तो सभी पंथ ही तो—धर्म भी, राजनीति भी, शिक्षा भी, कला भी………।

मैंने कहा—सभी सड़कें एक दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं।

कीर्तिबाबू ने हँसते हुए कहा—आप तो रहस्य में बातें करते हैं। आपने अभी जो कहा, उसका अर्थ बहुत ही व्यापक है।

मैंने कहा—मगर सड़कें रहने से भी क्या ! सभी सड़कें अनादिकाल से रही हैं। चलने वाले कहाँ ? चलना ही किसको ? चलने का दम ही किसमें ? किसको मंजिलतक पहुँचने की अभिलाषा है ? इसलिये सभी सड़क की दोनों बगल में दूकानें खोल-खोलकर बैठे हैं ! सभी अपने उद्धारक भाग्य विधाता की आशा में बैठे चिलिम खींच रहे हैं।

कीर्तिबाबू बड़े जोर से हँसे, फिर बोले–भाई, हमारी जनता इतना पतित और मृत क्यों है। कितने ही युग प्रवर्तक महापुरुष इस देश में आये; फिर भी ये लोग जरा भी हिलते-डुलते नहीं। आश्चर्य है, इनमें चैतन्य कैसे आयेगा ?

मैंने कहा—कथा-साहित्य में आदमी को भगवानतक पहुँचा देने की सामर्थ्य है; पर इसके लिये तदनुकूल आग्नेय लेखक चाहिये। कथा-साहित्य आग है। बुद्धिमानी से इस्तेमाल करेगा, तो वह अनुचर और भृत्य का भी काम करेगा; अन्यथा वह भटककर सबको स्वाहा भी कर सकता है।

कीर्तिबाबू ने कहा—आजकल का मनचले लेखक उसका बुद्धिमानी से इस्तेमाल नहीं कर सकेगा।

मैंने कहा—आप एकदम सही कह रहे हैं। साहित्य सृजन के आधार में ऋषित्व साधना अपेक्षित है। ऋषि-पुत्र साहित्यकार जब कथा प्रणयन करने लगते हैं तभी वह मृतसंजीवनी सुधा बरसने लगेगा। सब कुछ उपयोग सामर्थ्य पर निर्भर है। श्रेष्ठतम उपयोग-सामर्थ्य आना ही जीवन की सफलता का रहस्य है। किसी भी चीज का हो, जिन्दगी का ही क्यों न हो, हमें श्रेष्ठतम उपयोग सामर्थ्य हासिल करना होगा।

प्रेमचंद और प्रतापनारायण श्रीवास्तव

डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय

प्रेमचन्द[1] ने तिलस्मी, ऐयारी एवं सस्ते रोमांस की प्रवृति का कभी सहारा नहीं लिया। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि खत्री जी के उपन्यासों की विषय वस्तु से प्रेमचन्द का[1] मतभेद भले ही हो, लेकिन उनका जो कथा कहने का ढंग था, कौतूहल बनाए रखने की जो क्षमता थी, अनेकानेक सूत्रों को एक साथ लेकर बिना उलझाए हुए चलने का जो कौशल था, भाषा की जो सरलता और रवानी थी, वह किसी भी लेखक के लिए अनुकरणीय हो सकती थी।[2] भाषा और शैली सम्बन्धी इस दृष्टि-कोण और किस्सागोई का प्रभाव तो प्रेमचन्द पर पड़ा परन्तु तिलस्मी और ऐयारी का नहीं। दूसरी ओर प्रतापनारायण श्रीवास्तव[3] ने उक्त प्रवृत्ति का सहारा 'बेकसी का मजार' 'विश्वास की वेदी पर', 'बयालीस,' 'व्यावर्तन', 'वेदना' में लिया। सच पूछें तो लगभग सभी उपन्यासों में ऐसी 'प्रवृत्ति देखी जाती है, पर उक्त उपन्यासों में अधिक।

विषय की दृष्टि से दोनों में काफी साम्य है। दोनों के प्रायः समस्त उपन्यास सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को लेकर लिखे गए हैं। जहाँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में तत्कालीन मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय समाज में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों एवं कृषकवर्ग की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण हुआ है, वहाँ श्रीवास्तव जी की कृतियों में उच्च मध्यवर्ग एवं उच्चवर्ग के बुद्धिजीवी नागरिकों की समस्याओं एवं मानसिक चित्रण का ही वर्णन हुआ है।[4] प्रेमचन्द का ध्यान समाज के पतित

---

१. समय—जन्म ३९ जुलाई, १८८० ई० एवं मृत्यु ८ अक्तूबर, १९३६ ई०

२. उपन्यासकार प्रेमचन्द—डॉ० श्याम सुन्दर घोष, भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली—६, पृ० १४४

३. समय—जन्म २० सितम्बर १९०४ ई० मृत्यु फरवरी १९७८ ई०

४. प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० उर्मिल गम्भीर, आर्यबुक डिपो, ३० नाईवाला करौल बाग, नई दिल्ली—५

एवं हीनवर्ग की हीनावस्था की ओर गया है। फलतः अपने चारों ओर उन्हें अपनी रचना के लिये विषय ही विषय नजर आते हैं। 'प्रतिज्ञा,' 'सेवासदन' और 'निर्मला' में उन्होंने भारतीय नारी की असहाय एवं दीनावस्था को अपनी रचनाओं का विषय बनाया, तो प्रेमाश्रम और गोदान में भारतीय किसान की दुर्दशा ही उपन्यास का आधार बन गई है।[1]

इसी प्रकार मध्यवित्त परिवारों की आभूषण लालसा को जहाँ उन्होंने 'गबन' के विषय के रूप में चुना, वहीं रंगभूमि एवं कर्मभूमि में राष्ट्रीय आंदोलन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। इन्हीं अपेक्षाओं की प्रकारान्तर से पूर्ति करते हुए प्रेमचन्द ने भारतीय समाज का व्यापक परिपार्श्व में चित्रण किया है।[2]

श्रीवास्तव जी ने प्रायः समस्त उपन्यासों में समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण करते हुए प्रेमचन्द की तरह आदर्शवाद की स्थापना की है। 'विदा' उपन्यास में अभिमानिनी कुमुदिनी के वापस पतिगृह आ जाने और चपला के न्याय; 'विकास' में अनूपकुमारी की मृत्यु तथा मनमोहन नाथ के मजदूरवर्ग निमित्त संपत्तित्याग; 'वेदना' में महाराज भीम सिंह द्वारा जारज संतान को उचित शिक्षा के लिए आश्रम की स्थापना करना तथा किरण और प्रेमनाथ के विवाह और औरा की मृत्यु, 'विपथगा' में लता के पश्चात्ताप और 'बन्धनविहीना' में महारानी सुनयना के हृदय परिवर्त्तन एवं जीवन लक्ष्य में परिवर्तन दिखाकर भारतीय जीवन के आदर्श की स्थापना की है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों लेखक आदर्शवादी विचारधारा के हैं और उनमें भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और मोह है।

वर्तमान भारत पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों के संघर्ष का केन्द्र बन गया है। इस संघर्ष में बार-बार हम बाह्य प्रलोभनों की तड़क-भड़क

---

१. हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास—डाँ श्रीमती ओम शुक्ल, पृ० ८७

२. उपन्यासकार प्रताप नारायण श्रीवास्तव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अनुशीलन—डॉ० मृत्युन्जय उपाध्याय, पृ० २९३

३. उपरिवत्

और चाक्यचिक्य से मुग्ध हो पश्चिमी सभ्यता की ओर उन्मुख हो रहे हैं। उसका समर्थन करते हैं, परन्तु कालान्तर में उसकी अनुपयुक्तता, व्यर्थता एवं खोखलापन देखकर लज्जित होते हैं, पश्चात्ताप के आठ-आठ आँसू बहाते हैं। गोदान में मिस्टर मेहता का कथन द्रष्टव्य है—

"मुझे खेद है, हमारी बहिनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छंद होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा।"[1]

इसी प्रकार श्रीवास्तव जी ने भी 'विजय' उपन्यास में पश्चिमी सभ्यता के भारतीयों द्वारा अंधाधुन्ध अनुकरण पर खुलकर विरोध किया है—"आजकल विलायती शिक्षा के प्रभाव से हमारे जीवन का सारा आनन्द नीरस हुआ जाता है, क्योंकि इसने एक विरोधाभास पैदा कर दिया। आज तुम लोग विलायती समाज के अनुकरण में इतनी पागल हो रही हो कि उसकी बुराइयाँ बिल्कुल नहीं देखती। वे अगर पुरुषों से बराबरी का दावा करती हैं, तो देखो उनमें कितनी सुखी हैं। उन्हें निरन्तर कलह का जीवन व्यतीत करना पड़ता हैं; और जहाँ तुम्हें सुख देखने को मिलेगा, वहाँ हमारे वैदिक समाज के नियम एक दूसरे रूप में देखने को मिलेंगे।[2]

दोनों का आधार फलक समाज ही है। अन्तर यही है कि श्रीवास्तव जी का आलोच्य समाज उच्चवर्गीय, उच्चमध्यवर्गीय है, जब कि प्रेमचन्द का मध्यवर्गीय। उन्होंने उच्चवर्ग का चित्रण भी किया है पर वह चित्रण मध्यवर्गीय चेतना के चित्रण हेतु ही है—प्रमुख नहीं। इनके कथानकों में प्रमुख चित्र मानव के सामाजिक जीवन का मिलता है। वैयक्तिक जीवन का आंशिक उल्लेख है। व्यक्ति ही तो सामूहिकता का रूप धारण कर समष्टि और समाज बनता है। अपने युग की नाड़ी दोनों ने पहचानी है। फलतः युगीन समस्याओं पर दोनों ने ईमानदारी से विचार किया है। उस

१. गोदान—प्रेमचन्द पृ० १६६

२. विजय—प्रताप नारायण श्रीवास्तव, पृ० ३१०-३११

समय विधवा की समस्या प्रमुख थी—कट्टर हिन्दू समाज न उसके पुनर्विवाह की अनुमति देता था और न उसे सुख से जीने ही देता था। फलस्वरूप, उसका जीवन नारकीय यातना के दौर से गुजर रहा था।

विधवा समस्या का मूल घटक है अनमेल विवाह और बाल विवाह ! प्राचीन भारत में यह प्रचलित प्रथा थी कि बालक बालिकाओं का अबोधवस्था में विवाह कर दिया था। 'विजय' की कुसुमुलता का भी विवाह उसके बाल्यकाल में हुआ था। दुर्भाग्यवश उसके पति की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई। जब कि कुसुमलता विवाह और पति शब्द के अर्थ भी नहीं जान पाई। युवावस्था में अपने जीवन का यह अभाव उसे हजार-हजार तीर बनकर बेधता है—वह पीड़ा से आकुल व्याकुल रहती है। अपनी सखी मनोरमा को पति सहवास और सुख भोगते देखकर उसका अन्तर्हृदय हाहाकार कर उठता है। परिणाम होता हैं पुनर्विवाह का निश्चय।[1] उसके पिता भी अपनी भूल के प्रायश्चित तथा बेटी के कल्याणार्थ डा० आनन्दी प्रसाद से उसका विवाह सम्पन्न कराकर हिन्दू समाज में आदर्श की स्थापना करते हैं।

जहाँ श्रीवास्तव जी ने उच्चवर्गीय कुसुमलता के विधवा विवाह द्वारा समस्या का समाधान किया है—आदर्शवाद की दुहाई दी है, वहाँ प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग से ऐसी समस्या ली है, जिसका आधार आर्थिक अधिक है। उन्होंने विधवा का कारण अनमेल विवाह बताया है और इसका कारण है दहेज प्रथा। वरपक्ष धन का आकांक्षी है, कन्यापक्ष निर्धन है, पर वह बेटी को कुमारी कैसे रखें। फल होता है कन्या का विवाह वृद्ध अथवा अयोग्य पात्र से। 'निर्मला' उपन्यास में कल्याणी धनाभाव के कारण अपनी जवान बेटी निर्मला का विवाह वृद्ध वकील मुन्शी तोताराम से कर देती है, जिनकी पहली पत्नी से तीन पुत्र थे—मंशाराम जियाराम और सियाराम। वह तोताराम का आदर करती है, पर पिता के हम उम्र पुरुष से प्रेम नहीं कर सकती। तोताराम को अपनी पत्नी और पुत्र मंशाराम के बीच अनुचित सम्बन्ध की शंका होती है। यही सन्देह परिवार के सुख चैन पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है। तोताराम के

१. विजय—प्रताप नारायण श्रीवास्तव, पृ० ६२

परिवार का भग्न खण्डहर अनमेल विवाह के कुपरिणामों की खुली घोषणा है।

प्रेमचन्द भी नारी जाति के लिए बड़े सदय थे। विधवाओं से उन्हें आंतरिक सहानुभूति थी। प्रेमचन्द जिस समाज के कथाकार हैं, उनमें नारी की स्थिति बड़ी दयनीय हैं। वहाँ स्पष्टतः नारियाँ असुविधा-जनक स्थिति में हैं।[1] उनका स्थान पुरुषों के बाद आता है। युग-युग से वे पुरुषों के शोषण को शिकार रही हैं। वे अपदस्थ की गई है। वे हैं अशिक्षिता, आर्थिक दृष्टि से विपन्न और परतन्त्र और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आहत। अतः इन समस्याओं की ओर कथाकार का ध्यान जाना स्वाभाविक है। इसीलिए प्रेमचन्द ने ध्यान दिया कि नारियों के शोषण का अन्त हो, अशिक्षा और अवसाद की काली रात समाप्त हो—सब मिलाकर उन्हें समाज में उचित स्थान मिले, उनका जागरण हो, वे समाज में अपनी अहम् भूमिका को पहचानें और तदनुकूल आचरण कर सकें। विधवा समस्या भी उसी का अंग है जिसकी अतल गहराई में प्रेमचन्द्र की पैठ है। उन्होंने 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'गबन', निर्मला' उपन्यास में विधवाओं के जीवन पर सूक्ष्मता के साथ प्रकाश डाला है। 'वरदान' की ब्रजरानी, 'प्रेमाश्रम' की गायत्री, 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा, 'गबन' की रतन को वैधव्य जीवन का दुःख भोगना पड़ता है। प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है कि विधवा समस्या का एकमात्र हल विधवा विवाह ही है। उन्होंने स्वयं शिवरानी देवी से विवाह करके विधवा समस्या का स्थायी समाधान निकाला है।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में अमृतराय विधवाओं के लिए वनिताश्रम की स्थापना करते हैं, जो आदर्शवादी हल कहा जायगा। यह परिस्थिति के अनुकूल भी है। उस समय विधवा विवाह समाज में क्रांति लाने वाला था और प्रेमचन्द क्रान्तिकारी नहीं आदर्शवादी हैं—अतः आदर्शवादी हल भी ढूँढ़ा गया।

विधवा समस्या के चित्रण की दृष्टि से दोनों में मूल अन्तर कारण का लेकर है। श्रीवास्तव जी की विधवा के मूल में बाल विवाह है—न कि

१. उपन्यासकार प्रेमचन्द—डा० श्याम सुन्दर घोष

धनाभाव में अनमेल विवाह (जैसा प्रेमचन्द ने दिखाया है)। प्रेमचन्द ने विधवा की सामाजिक दुरवस्था, अपमान, पीड़ा, जीविका के प्रश्न आदि बाह्य कारणों पर अधिक विचार किया है, वहाँ श्रीवास्तव जी ने एक सुखी, संभ्रांत, शिक्षित परिवार की बाल विधवा कुसुमलता के मानसिक उथल पुथल, द्वन्द्व को बड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्त किया है और उसका पुनर्विवाह भी डॉ० आनन्दी प्रसाद, रीडर, दर्शनशास्त्र जैसे सुपात्र से कराकर निश्चितता की साँस ली है।

बहुत-सी बातों में दोनों में बड़ा साम्य मिलता है। समाज की रूढ़ियों, कुरीतियों और प्रथाओं पर दोनों ने आक्रोश व्यक्त किए हैं। प्रेमचन्द ने अपने बेटे को नौकरी पर जाते समय घूस लेने का उपदेश दिया है—वेतन पूर्णमांसी का चाँद है। घटते घटते एक दिन समाप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है, जिससे सदैव प्यास बुझती है। यह ईश्वर देता है, इसलिए इसमें बरक्कत होती चली चलती है।[1] श्रीवास्तव जी ने 'बंधन विहीना' उपन्यास में इस पर प्रकाश डाला है—"आजकल जमाना फीस, रिश्वत, इनाम शुकराने का है। फीस लेना हक है। रिश्वत जबर्दस्त है, इनाम खुशी है, और शुकराना मुआवजा है।[2] 'बधन विहीना' का काले खाँ रिश्वत और खुशामद का ऐसा पक्का मसीहा है, जैसा चरित्र प्रेमचन्द के उपन्यासों में दुर्लभ है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जमींदार और किसान का संघर्ष दिखाया है। इस संघर्षमें किसान टूट रहा है,गरीब बिखर रहे हैं, फिर भी कोई उचित समाधान नहीं निकल पाता। गोबर की प्रगतिशीलता और क्रांतिकारी दृष्टि उसके पलायन का पर्याय बन सकती है, होरी को जमींदार के शिकञ्जे से मुक्ति दिलाने का प्रयास नहीं। इसे होरी अच्छी तरह जानता है और पुत्र के मोह के कारण चुप ही रह जाता है। श्रीवास्तव जी के 'बयालीस' उपन्यास में भी ऐसा संघर्ष आया है, पर वह भगवान् सिंह और किसानों का संघर्ष नहीं, अंग्रेजों के टुकड़ों पर जीने वाले और स्वाधीनता के लिए मर मिटने वालों के मध्य सीधा संघर्ष है, जिसमें श्री

१. नमक का दारोगा—प्रेमचन्द

२. बंधन विहीना—प्रताप नारायण श्रीवास्तव, पृ० १४४

वास्तव जो की सहानुभूति देशभक्त वीरों के प्रति है। प्रेमचन्द भी ऐसे स्थलों में किसानों का सदा साथ देते आये हैं।

दोनों में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात देखने में आती है कि आदर्शवाद के बहाने या भारतीयता को सर्वदा श्रेष्ठ घोषित करने के उद्देश्य से दोनों ने प्रयास किया है। प्रेमचन्द तो भारतीय मध्यवर्गीय समाज के चतुर चितेरे ही हैं। देश की सारी आकांक्षा—आशा, स्वप्न, विश्वास, सम्भावनाएँ इनके उपन्यासों में बड़ी ईमानदारी के साथ चित्रित हैं। श्रीवास्तव जी ने पश्चिमी संस्कृति और भारतीय संस्कृति का बराबर संघर्ष दिखाया है और घुमा फिराकर भारतीय संस्कृति की विजय के वे आकांक्षी रहे हैं। 'विदा' में कुमुदिनी के पिता पर विलायती प्रभाव का भूत सवार है। वह अपने दामाद निर्मल के किसी कारण रूठ जाने पर कुमुदिनी का दूसरा विवाह करना चाहते हैं, पर कुमुदिनी इसका विरोध करती है और माधवचन्द को भी झुकना पड़ता है।

प्रेमचन्द जीवन के गहरे और बहुमुखी घातप्रतिघातों और विस्तृत जीवन दशाओं में पग-पग पर उठने वाले उद्वेलनों के मध्य से गुजर चुके हैं। जीवन समर में अनवरत और अविचल रूप से जूझते रहने से उन्हें जीवन को बड़ी निकटता तथा सूक्ष्मता से देखने का अवसर मिला है। फलतः शोषित, दलित, पीड़ित व्यक्तियों के प्रति उनकी सहानुभूति और करुणा स्वाभाविक है। यही कारण है कि नारी, किसान, मजदूर तथा समाज के अन्य अभाव ग्रस्त व्यक्ति उनके उपन्यासों के विषय हुए। दूसरी ओर श्रीवास्तव जी ने आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न उच्चवर्गीय राय साहब, वकील, मंत्री, व्यापारी, राजा महाराजा को ही अपने कथानकों का विषय बनाया जो पश्चिमी सभ्यता में लीन और वैभव पूर्ण जीवन जी रहे थे, पर वे भी मानसिक चिंतन में लीन देखे गए है।

प्रेमचन्द की दृष्टि यथार्थ में ही आदर्श की स्थापना की ओर लगी रहती है। दिन रात झूठ, जाल फरेब करने वाला अलगू पंच की गद्दी पर बैठकर खुदा बन जाता है। उसके मुँह से दूध का दूध और पानी का पानी निकलने लगता है। वही हालत पंच बनने पर जुम्मन शेख की भी होती है। यही हैं आदर्शोन्मुख यथार्थवाद—यथार्थ की सारी दुर्बलताओं और

खामियों में भी उज्ज्वलता का जयगान। परन्तु यथार्थ को समझना इतना सरल नहीं है। यह अवश्य सही हैं कि "यथार्थ के उद्घाटन में प्रेमचन्द के उपन्यासों की मूल शक्ति निहित है।"[1] प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार किया है—"मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" पूरी सृष्टि के केन्द्र में मानव चरित्र ही है। परिस्थितियों से वही प्रभावित होता है, प्रभावित करता भी है और सामाजिक सम्बन्धों तथा परिस्थितियों के अनुसार एक विशेष प्रकार का रूप धारण करता है, एक विशेष प्रकार की जिंदगी जीता हैं।[2] यथार्थ (जैसा कि सामान्य धारणा है) केवल अन्धकार नहीं, वह अन्धकार में से फूटने वाले प्रकाश और प्रकाश पर घिरते हुए अन्धकार दोनों का रूप है, बोध है। प्रेमचन्द का कहना ठीक ही है—"यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित करें। अन्धकार में मनुष्य को अन्धकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है ? बेशक चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता हैं, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाये, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शांत हो सकती हैं, किसी को नीच समझ कर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते, बल्कि उसे और नीचा गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर नहीं हो जायगा कि तुम कायर हो। हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है—यह हमें न भूलना चाहिए।[3]

प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कथा यात्रा यथार्थ वादिनी दृष्टि से आपूरित है—जीवन को जीना एक बात है और उसकी सीमाओं,' दुर्बलताओं', खामियों और सम्भावनाओं को ठीक-ठीक समझते हुए उसी में भव्य और

१. हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्वा—डॉ० रामदरश मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, पृ० सं० १९६८ पृ० ३४

२. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा—डॉ० रामदरश मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ० ३४

३. कुछ विचार--प्रेमचन्द पृ० ७२-७३

आदर्श को साकार कर दिखाना दूसरी बात। प्रेमचन्द का झुकाव दूसरी ओर है। प्रेमचन्द ने यह सब कुछ अपने अनुभूत ज्ञान से प्राप्त किया है, परन्तु श्रीवास्तव जी में ऐसा कुछ नहीं हैं। यह प्रेमचन्द के उपन्यासों की सामाजिक, यथार्थवादी भूमि से दूर हटकर मिस्टर, मिसेज, ड्राइङ्ग रूमों तथा सिनेमा घरों का ही कोना झाँकते हैं।[१] कुछ उपन्यासों ('विजय', 'विकास' और 'विपथगा') में श्रीवास्तव जी का झुकाव यथार्थ की ओर दिखाई पड़ता है। परन्तु घटनाओं के घात-प्रतिघात और स्वाभाविक विकास की जगह उन्हें 'दैवयोग' या 'संयोग' से अधिक मोह है।

दोनों ही लेखकों पर गांधीवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह उनके अमोघ अस्त्र हैं। दोनों का विश्वास है—आतंक से पाया हुआ क्या मान कोई मान है, झुक जाए जिसपर दिल स्वयं सच्चा वही बलवान है ! हृदय परिवर्त्तन तथा हार्दिक प्रभाव के दोनों समर्थक हैं। 'कायाकल्प' का चक्रधर 'रंगभूमि' का सूरदास तथा श्रीवास्तव जी के 'बयालीस' का दिवाकर और 'विसर्जन' की कनक गांधीवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक ही नहीं हैं, उसके लिए प्राणों की बाजी भी लगा देते हैं। वे हिंसा के स्थान पर अहिंसा, असत्य के स्थान पर सत्य का आश्राय लेते है। हृदय परिवर्त्तन के लिए त्याग और सत्य निष्ठा से भरा हृदय होना चाहिए—केवल व्याख्यान, नारेबाजी और प्रचार नहीं। 'बयालीस' का दिवाकर इस भावना से युक्त है। वह आत्म-शक्ति (आंतरिक) के बल पर सत्य, अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह अस्त्र द्वारा सदा जूझता रहता है और अनाम उत्सर्ग कर भी सिद्धि लाभ करता है। सूरदास का चरित्र भी ऐसा ही है। उसका कथन उसके गांधीवादी जीवन दर्शन के लिए ध्यातव्य है—"बस बस अब मुझे क्यों मारते हो। तुम जीते मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खेलाड़ी हो। दम नहीं उखड़ता। खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा-दम उखड़

---

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डॉ० त्रिभुवन सिंह, पृ० ४९३, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण २०२२ वि०

जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। .... हम हारे तो क्या, मैंदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी।"[१] अहिंसा और सत्याग्रह की शक्ति का वर्णन श्रीवास्तव जी ने 'बयालीस' में करवाया है—"ये पृथ्वी की भाँति अचल हैं, वायु की भाँति शक्तिशाली हैं, अग्नि के समान तेजोमय हैं, जल की तरह शीतल हैं और आकाश जैसे व्याप्त होकर हलको निर्वीर्य करने वाले हैं।"[२]

दोनों लेखक पूँजीवादी व्यवस्था के घोर दुश्मन हैं। एक (प्रेमचन्द) गरीबी में पलकर, उसके शोषण से सीधे या प्रकारांतर से प्रभावित होकर समष्टि के हित के लिए पूँजीवाद का विध्वंस और समाजवाद की स्थापना चाहते हैं। दूसरे अमीरी में पलकर सरकारी तन्त्र के एक ऊँचे ओहदेदार (न्यायाधीश) हो सिद्धान्त रूप में ऐसा चाहते हैं। प्रेमचन्द की इस प्रवृति के दर्शन 'रंगभूमि' और गोदान में किये जा सकते है। श्रीवास्तव जी के उपन्यास 'विकास' और 'विसर्जन' में पूँजीवाद का खंडन तथा समाजवाद की स्थापना का प्रयास स्तुत्य है। कनक ('विसर्जन') की उक्ति इसके समर्थन के लिए द्रष्टव्य है—"मानव जाति का जन्म स्वार्थ की संकीर्णता को अपनी विशालता में छिपाने के लिए हुआ है न कि इतर प्राणियों के समान उसमें समाविष्ट हो जाने को। अपने जीवन का स्वार्थ मानव जाति के स्वार्थ में मिला देने का नाम ही मोक्ष और मुक्ति है। मानवता का अभिमान अपने स्वार्थ के उत्सर्ग में उसके बलिदान में है। अपने देश और जाति के लिए मर मिटने में ही मानव-जीवन के श्रेष्ठतम विकास का स्पष्टीकरण है।,,[३] यशवंत सिंह से भी ऐसा ही कहलाया गया है—"स्वतन्त्र भारत में पूँजी का उपार्जन समाज, देश, राष्ट्र और विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर किया जायगा।"[४]

---

१. रंगभूमि—प्रेमचन्द पृ० ५५३
२. बयालीस—प्रताप नारायण श्रीवास्तव, पृ० २२८
३. विसर्जन—प्रताप नारायण श्रीवास्तव पृ० ५५
४. " — " " पृ० ७६

प्रेमचन्द यदि हिन्दी कथा साहित्य की चरम सीमा हैं तो श्रीवास्तव जी उसके एक प्रबल स्तम्भ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केवल 'विदा' के कारण श्रीवास्तव जी को अग्रणी कथाकारों में परिगणित किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"मनुष्य के अनेक पारस्परिक सम्बन्धों की धार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखने वाले उपन्यासों में विदा का नाम लिया जा सकता है।"[1] भारतीय कुटुम्ब की धर्म व्यवस्था एवं उनके सम्बन्धों की पारस्परिकता श्रीवास्तव जी के उपन्यासों में देखते ही बनती है।" इसके अन्दर भारतीय कुटुम्ब की धर्मव्यवस्था के सौंदर्य की स्थापना करके प्राचीन और नवीन का बड़ा सुन्दर योग दिखाया गया है।[2]

दोनों ही उपन्यासकार मानवतावादी दृष्टि से सम्पन्न है। समाज के वर्ग विभाजन को और उससे उत्पन्न होने वाले उत्पीडन और शोषण को वह न देखता हो, ऐसा नहीं था, किन्तु इस बात को वह (प्रेमचन्द) अनदेखी नहीं कर सकता था, न करना चाहता था कि जन्म, कर्म या घटना चक्र से किसी वर्ग के हितों से सम्बन्ध सामाजिक जीवन की एक घटना और वास्तविकता है और उस बुनियादी वास्तविकता के नाते मानव मात्र सहानुभूति का पात्र है।[3] व्यक्ति जब अपने स्वार्थ के संकुचित मण्डल से बाहर निकलता है, तो उसके चरित्र में निरभिमानता, विनम्रता और परस्पर सहयोग का भाव उदय होगा ही—इससे चित्तवृत्तियाँ सुसंस्कृत होती हैं और आत्मोत्सर्ग का भाव-प्रबल होता है—यही मानवतावाद की आधार भूमि है—आत्म साक्षात्कार, आत्मोत्थान तदुपरान्त लोकोत्थान, समाज कल्याण। इस दृष्टि से दोनों आपूरित है। श्रीवास्तवजी के 'विकास', 'विषमुखी', 'वन्दना' आदि उपन्यासों में इस दृष्टि का विकास देखा जा सकता है। उनके पात्रों का लक्ष्य सन्मार्ग का अवलम्बन करते हुए त्याग, परोपकार, कर्त्तव्यनिष्ठा द्वारा जन-जन का कल्याण है।

---

२२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६००

२३. हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग—डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृ० १९३

२४. हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य—अज्ञेय, पृ० ९०, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

अभिव्यक्ति की जो स्पष्टता, सरलता, व्यंग्यात्मकता[१] तथा पारदर्शिता प्रेमचन्द में हैं, उसका श्रीवास्तव जी में अपेक्षाकृत अभाव है। जैनेन्द्र ने बड़ा सटीक कहा है—"उनकी (प्रेमचन्द) कलम सब जगह पहुँचती है, लेकिन अन्धेरे से अन्धेरे में भी वह धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। स्पष्टता के मैदान में प्रेम-चन्द अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली निश्चित होती है।" श्रीवास्तव जी ने 'बन्धन विहीना', 'व्यावर्तन', 'विषमुखी', 'वेदना' और 'विकास' प्रभृति उपन्यासों में फैशन परस्ती, देश के लिए गद्दारी और विश्वासघात, जारज सन्तान की वृद्धि को प्रोत्साहन, पूँजीवादी व्यवस्था आदि पर कठोर व्यंग्य-प्रहार किए हैं—व्यंग्य के साथ साथ हास्य की छटा भी देखते बनती है पर वह क्षणिक और अस्थिर है। इसमें दो मत नहीं कि श्रीवास्तवजी ने प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित परम्परा को गति दी, परन्तु इन्होंने उनकी परम्परा से अलग हटकर समाज के नये परिवेश, नई समस्याओं एवं नवीन भावभूमियों को अपनी प्रतिभा से उजागर कर दिया—इसके लिए साहित्य संसार उन्हें सदा आदर देगा। श्रीवास्तव जी के उपन्यास १८५७ से १९६७ तक की देश की सम्पूर्ण गति-विधि के अविकृत दर्पण हैं।

—+:०:+—

---

२५. एक त्रासदीय रचना ('गोदान मूल्यांकन और मूल्यांकन')—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, सं० १९६० नीलाम प्रकाशन, इलाहावाद पृ० १८०
"इस उपन्यास के अथ से इति तक (इसकी पूर्ति शायद है भी कि नहीं) की रचना प्रक्रिया के मूल में व्यंग्य की धारा जो इसके तल में है या इसकी तह में है, कभी उक्ति के व्यंग्य में तो कभी पूरे चरित्र के व्यंग्य में उभरकर सामने आती हैं। इसमें कभी तो व्यंग्य के छींटे हुए हैं, तो कभी व्यंग्य के बाण छोड़े गए हैं, जो पाठक की सम्वेदना को देर तक सालते रहते हैं।"

प्रेमचन्द और शरदचन्द

—निशीथ कुमार राय

प्रेमचन्द एवं बंगला के अमर कथाकार श्री शरदचन्द चट्टोपाध्याय लगभग समसामयिक थे। दोनों में कई बातों का सादृश्य लक्षित होता है। प्रेमचन्दजी का प्रथम विवाह १८९५ ई० में बस्ती जिले के रामपुर नामक गांव के जमींदार की लड़की से हुआ था, परन्तु रूप एवं स्वभाव में वे इनके मनके इतनी प्रतिकूल थीं, उसके साथ इनका निर्वाह हो ही नहीं सकता था और सन् १९०४ ई० में इन्होंने पत्नी को उसके मायके भेज दिया और फिर उसे कभी नहीं बुलाया।

इसके बाद प्रेमचन्दजी का विवाह १९०५ ई० में फतेहपुर के मुन्शी देवीप्रसाद की सुपुत्री शिवरानी देवी से हुआ और उन्हीं से उन्हें दो पुत्र एवं एक पुत्री की प्राप्ति हुई। शिवरानीजी बालविधवा थी प्रथमा पत्नी के जीवनकाल में ही उनका अवैध प्रयण एक अन्य रमणी से था, जिससे उनका सम्बन्ध विश्वशनीय पत्नी के आगमन के बाद भी रहा।

शरद ने विवाह नहीं किया था, परन्तु उनका प्रणय एक रमणी से था, जो उनके साथ रहा करती थीं। प्रेमचन्दजी में बालविधवा को शादी करने का नैतिक बल एवं सद् साहस था—जिसका शरद में अभाव था। परन्तु दोनों ने प्रेम को निभाया था।

दोनों आरंभ में निर्धन थे एवं अपनी-अपनी भाषा के श्रेष्ठतम कथाकार होते हुए भी आरंभिक जीवन में अर्थकष्ट झेला था। समाज के विभिन्न पहलुओं को एवं मानवता की सीमाहीन परिधि को दोनों ने ही अपने उपन्यास का क्षेत्र बनाया था। प्रेमचन्द अथवा शरद् जीवन को खंडितरूप से लेने के पक्ष में नहीं थे। जीवन को समग्ररूप में देखने के वे अभ्यासी थे। इसी लिए छोटे से छोटा एवं महान से महान चरित्र उनकी कृतियों में उपलब्ध हैं।

प्रेमचन्द ने किसानों का ख्याल अधिक किया हैं—मजदूरों का नहीं। शरद ने भी ग्रामीण समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया है, मजदूरों की चर्चा नहीं के बराबर की है। भारत कृषि प्रधान देश है। यहां की अधिकतम जनता देहातों में रहती है। लोग किसानी पर ही निर्भर

करते हैं। देश का हित किसानों के हित में था और 'रंगभूमि' में उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। किसान जहाँ मजदूर बना कि बदला ! उसके स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। कुछ लोग कहते हैं मजदूरों की क्रान्ति का चित्रण उन्होंने नहीं किया। यह सही है। शरद ने भी नहीं किया। इसका मुख्य कारण है—उन दिनों मजदूरों में क्रान्ति नहीं थीं–नही उल्लेख योग्य आन्दोलन ही था। प्रेमचन्दजी ने भी मजदूरों पर पर कुछ नहीं लिखा सामाजिक कुप्रथाओं का शिकार सबसे अधिक मध्य-वर्गीय लोग ही रहें हैं ऊँचे वर्ग के लोगों को समाज के पंडे छेड़ा नहीं करते। वे लोग समाज की परवाह भी नहीं करते ! परन्तु मध्यवर्ग के लोगों की सबसे बड़ी दुर्बलता है उच्चवर्ग के लोगों के समान अपने आप को प्रतिपन्न करने का व्यर्थ प्रयास ! उनकी हार्दिक इच्छा होती है कि वे उच्चवर्ग के साथ मिलें। सामाजिक प्रतिष्ठा के भ्रामक मोहजाल में फसकर, सामाजिक सम्मान प्राप्ति के लिए मिथ्या प्रदर्शन करने को व्यग्र रहा करते हैं। यह मध्यवर्ग की विशेष दुर्बलता है। इसी के कारण शरद की 'परिणिता' का गुरूचरण धर्मपरिवर्त्तन करना हैं, 'विराज बहू' का नीलाम्बर जमीन जायदाद बेचकर सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है। अपनी स्थिति से असन्तोष के कारण 'गवन' की जालपा दाम्पत्य जीवन में दुःख की विडम्बना का आवाहन करती है और अधिक सुख चैन की की लालसा से 'सेवासदन' की सुमन व्यभिचारिणी बन जाती है। दहेज न दे सकने के कारण 'देवदास' की पार्वती, 'अरक्षणिया' की ज्ञानदा का विवाह वृद्धों के साथ शरद ने दिखाया है। इन विवाहों के परिणाम-स्वरूप उन निर्दोष बालिकाओं का जीवन व्यर्थ हो गया है। उसी प्रकार प्रेमचन्द कीनिर्मला का विवाह एक अधेड़ पति से होता है।

शरद ने 'चन्द्रवाक्' में दिखाया है किस प्रकार बालिका बधू सरयू का त्याग उसके पति ने इसलिए किया कि उसके जन्म के बाद उसकी मां से एक भूल हो गई थी।........बालिका निरपराधिनी थी। 'सेवासदन' के मदन सिंह अपने लड़के की बारात इसलिए लौटा ले जातें हैं कि बहू की बहिन घर से निकलकर कुल को कलंकित कर गयी थी, जबकि उनका बेटा उसी व्यभिचारिणी के चरणों पर माथा टेकता है। केवल प्रेमचन्द ही नहीं, बल्कि बंगला के प्रसिद्ध कथाकार शरद्चन्द्र ने भी किसानों को लेकर अधिकतर उपन्यास रचा था।

शरद ने 'पल्ली समाज' 'ब्राह्मण की बेटो' अरक्षणिया' आदि उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया है एवं उनके अधिकांश उपन्यास का क्षेत्र देहात एवं पात्र किसान रहें हैं।

अपनी कहानियों के माध्यम से प्रेमचन्द ने भी किसानों के न जाने कतने चित्र उतारे और आगे चलकर होरी के रूप में उन्होंने किसान का एक सर्वांगीन चित्र भी अंकित किया। शरद ने भी अपने नाटक 'षोड़शी' में जमीन्दारी अत्याचार का वर्णन किया है और उसमें भी जमीदारी प्रथा के विरुद्ध विद्रोह का प्रखर स्वर ध्वनित हो उठा है प्रेमाश्रम में जमोदार के उत्तराधिकारी का किसानों को भूमि का वास्तविक स्वामी घोषित किया जाना किसानों की विजय थी। जिन दिनों प्रेमचन्दजी ने प्रेमाश्रम लिखा था–उन दिनों यह कल्पना के बाहर की बात थी कभी जमीदारी प्रथा का उन्मूलन होगा और वास्तव में किसान अपनी भूमि का मालिक बन पायेगा। परन्तु साहित्यकार तो द्रष्टा होता है। गोस्वामीजी ने सेकड़ों वर्ष पहले जो कुछ कहा था, आज वह अक्षरशः सही सिद्ध हो गया है। 'प्रेमाश्रय' में प्रेमचन्द की कल्पना साकार है। वास्तविकता से वह बहुत दूर था। प्रेमाश्रम मै किसानों के जिस विजय का चित्र उन्होंने आँका था, वह उनकी मनोकामना थी। 'गोदान' की रचना करते समय प्रेमचन्द ने अधिक संयम से काम लिया। वास्तविकता को प्राधान्य दिया। इसमें किसानों का संघर्ष जमीदारों से उतना नहीं है, जितना अपनी परिस्थितियों से।

ठीक इसी प्रकार का चित्र शरद ने 'ब्राह्मण की बेटी' में अंकित किया है। आन्तरिक प्यार करते हुए भी जाति के मिथ्या अभिमान के कारण ब्राह्मण की बेटी प्रेमिक से भी स्पर्श बंचाकर चली और उसे अस्पृश्य समझा। परन्तु उपन्यास के अन्त में उसका दर्प चूर्ण किया, जब यह पता चला कि लड़की के पिता नाई की सन्तान हैं—ब्राह्मण-तनय नहीं।

जैसे प्रेमचन्द ने समाज, धर्म और नैतिकता के नाम पर प्रचलित नानाप्रकार की कुरीतियों पर कठिन प्रहार किया है, उसी प्रकार शरद ने भी इन युक्तिहीन, विवेकहीन विरोधाभास पर कठिन प्रहार उपन्यास के माध्यम से किया है दोनों ने इन समस्याओं पर खुलकर विवेचन किया है।

'प्रेमाश्रय' के प्रेमचन्द ने चरित्रहीन जमीदार ज्ञानशंकर का चित्रण किया है और शरद ने उसी प्रकार के जमींदार का चरित्र 'षोड़शी' में किया है। जीवानन्द उसी प्रकार लम्पट, मनचलन एवं स्वेच्छाचारी जमीदार हैं दोनों कथाशिल्पियों ने ग्रामीण प्रजा द्वारा जमीदारी अत्याचार का विवोध करवाया है—जमीदारी प्रथा के विरुद्ध सशक्त अभियान चलाया है।

प्रेमचन्द किसानों के मसीहा थे उनके दुःख-दर्द को सहानुभूति के साथ प्रस्तुत किया। दोनों साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रतिफलित हुआ। शरद ने 'पथ के दावेदार' में विदेशी शासन का खुलकर विरोध किया। प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ावा देने के साथ ही साथ मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया। इन्सान के प्रति इन्सान के अत्याचार को समाप्त करके, उसे विवेक एवं प्रेमभाव से जाग्रत करके एक उज्ज्वल भविष्य की परिकल्पना अपने उपन्यासों के माध्यम से किया था।

—संपादक : 'सरस्वती',
इंडियन-प्रेस इलाहाबाद

गबन और गोदान

डॉ०—(श्रीमती) उर्मिल गंभीर

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास-साहित्य काल्पनिक, अवास्तविक तथा चिन्तन रहित रहा है। प्रेमचन्द-युग में देश की सामाजिक जागृति एवं राजनीतिक चेतना के कारण स्थिति ऐसी हो गई थी कि व्यक्ति को उसके वास्तविक, यथार्थ रूप से एवं उसकी अन्तर्निहित शक्तियों से अवगत कराने वाले साहित्य की आवश्यकता हुई—ऐसे साहित्य की, जो विचार में स्वतन्त्र हो, चिन्तन में सन्तुलित हो, जीवन की अवरोधक शक्तियों के प्रति उग्र हो, दीन-दरिद्र भारतीय जनता की हीन दशा से करुणाप्लावित हो और भारत की शोषित, दलित विषण्ण जनता की जीवनदशा को प्रदर्शित करके उसकी आशाओं एवं अभिलाषाओं को वाणी प्रदान करने वाला हो।

प्रेमचन्द एक ऐसे ही कलाकार थे, जिन्होंने अपने चतुर्दिक जीवन को देखते हुए, उसकी आशा-आकांक्षा को समझते हुए, उसके पाप-पुण्य की व्याख्या करते हुए, उसकी दुर्बलताओं एवं सबलताओं को अभिव्यंजित करते हुए ऐसे औपन्यासिक साहित्य की रचना की थी, जिसमें समसामयिक भारतीय जन-जीवन और सामाजिक संघर्ष सरलता और सरसता से सम्पृक्त होकर साकार हो उठा है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल प्रेरणा-स्रोत एवं आधार भूमि समाज ही है। इनके कथानकों में यद्यपि वैयक्तिक जीवन का भी अंशतः उल्लेख हो गया है तथापि प्रमुखता मानव के सामाजिक जीवन को ही मिली है, व्यक्ति ही सामूहिक रूप से समाज का रूप धारण कर लेता है और उसकी समस्याएँ ही सामाजिक बन जाती हैं।

सामाजिक समस्याओं एवं सम्बन्धों का गूढ़ विवेचन एवं विश्लेषण करने वाले शास्त्र को समाजशास्त्र कहते हैं। श्री मैक्स वेबर के अनुसार—

"समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो कि सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण (व्याख्यात्मक) बोध करने का प्रयत्न करता है, जिससे कि इसकी (सामाजिक क्रिया की) गतिविधि तथा परिणामों की कारण सहित व्याख्या प्रस्तुत की जा सके।" समाजशास्त्री जहाँ वस्तुगत यथार्थ को

उसकी सारी सजीवता, सच्चाई तथा तीव्रता में चित्रित करने का आग्रह करता है, वहाँ इस बात पर भी जोर देता है कि यथार्थ का चित्र उस यथार्थ के मध्यस्थ सक्रिय मनुष्य का चित्र उसकी सम्पूर्ण भूमिका में उतरे। अपने युग के समाज को उपन्यास दर्पण में प्रतिबिम्बित करने वाले प्रेमचन्द ने व्यक्ति और समाज के यथार्थ को पहचाना और मुख्यतः उसे अभिव्यक्त करना अपने साहित्य का लक्ष्य माना।

सन् १९३० में प्रकाशित 'गबन' और सन् १९३६ में प्रकाशित 'गोदान' प्रेमचन्द की दो अन्यतम औपन्यासिक कृतियाँ हैं। मध्यवित्त वर्ग की समस्याओं के निरूपण, कलात्मक परिपक्वता, कथा-निर्वाह एवं यथार्थात्मिकता की दृष्टि से 'गबन' का अपूर्व महत्व है। 'गोदान' प्रेमचन्द के परिपक्व चिन्तन का परिणाम है। 'गबन' की नारी-समाज और आत्मा 'गोदान' में पूर्णतः जाग उठे हैं। 'गोदान' के कर्तव्य-परायण किसान अधिकार माँगते हैं, स्नेहमयी नारी प्रेम माँगती है और कर्तव्य-शील आत्मा सबका सुख माँगती है।

प्रेमचन्द सामाजिक जीवन को, उसकी मर्यादा को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं। 'गोदान' का होरी सामाजिक जीवन, उसके बन्धन और मर्यादा को ही सर्वस्व समझता है। उसके संदर्भ में तीन शब्द बार-बार आते हैं—मरजाद, बिरादरी और चिरौरी। 'गोदान' के जिस समाज में होरी रहता है वह विकृत, गलित और दुर्गन्धयुक्त है, लेकिन वह उसी समाज की रक्षा, अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा में अपनी जान तक दे डालता है।

प्रेमचन्द परिवार को ही सामाजिक जीवन का मूलाधार स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता हैं कि हमारा पारिवारिक जीवन ही हमें आगामी जीवन में संघर्ष झेलने की शक्ति प्रदान करता है। इसीलिये उनकी कामना है कि परिवार स्वस्थ एवं सुसंगठित हो। उन्होंने व्यक्ति को सर्वत्र उसके पारिवारिक परिवेश में ही देखा है। सामाजिक जीवन के चित्रण हेतु परिवार को केन्द्र बिन्दु बनाया है। पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के प्रसार के कारण व्यक्ति-चेतना को इतना कुछ महत्व मिल गया है कि संयुक्त परिवार की संस्था छिन्न-भिन्न हो गई है। 'गबन' की रतन इस संयुक्त परिवार प्रणाली के विरोध में कह उठती है—

'बहिनों, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना।'

यद्यपि देहातों पर पश्चिमी सभ्यता एवं शिक्षा का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा है, किन्तु वहाँ पर भी भूमि के विशिष्ट टुकड़े पर आश्रितों की संख्या वृद्धि एवं शोषकों के शोषण द्वारा जीवन-संघर्ष में इतनी वृद्धि हो जाती है कि अलगोझे तथा संयुक्त परिवार के विघटन की समस्या ज्वलन्त हो उठती है। (गोदान)

दाम्पत्य-जीवन के भी विविध चित्र प्रेमचन्द जी ने अंकित किए हैं। उनके विचारानुसार 'विवाह एक सामाजिक समझौता है, जिसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को।' विवाह एकान्तिक उच्छृंखलता नहीं, सामाजिक बन्धन है। इसी रूप में विवाह को ग्रहण करके, समाज की नैतिकता को स्वीकार करके, अपने अधिकारों की रक्षा करते हुए और सही कर्तव्यों का पालन करते रहने से विवाहित जीवन सुखी हो सकेगा। जालपा (गबन में) भी कह उठती है—'यह पत्नी और पुरुष का रिवाजी नाता है।'

यद्यपि खन्ना द्वारा अपमानित होकर गोविन्दी घर त्यागने का निश्चय करती है, किन्तु मेहता द्वारा प्रेरित होकर कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ रह कर वह पतिहृदय पर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाती है। नारी-महिमा को प्रकट करते हुए वह कह उठती है—

'स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ हैं, जितना प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है।' (गोदान)

मातृत्व महत्व को भी उन्होंने निःसंकोच स्वीकार करते हुए उसे संसार की सबसे बड़ी साधना और महान् विजय कहा है। पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण को उन्होंने अनुचित घोषित किया है। वर्तमान दूषित समाज की पुनः व्यवस्था करने से ही वैश्या समस्या का उचित समाधान मिल पाएगा। सरोज (गोदान) के माध्यम से नारी स्वातन्त्र्य आन्दोलन का भी विवेचन लेखक ने किया है।

'गबन' और 'गोदान' की अधिकांश समस्याएँ भारतीय मध्यम वर्ग की समस्याएं हैं। इनके मूल में इस वर्ग की वास्तविक आर्थिक अवस्था

एवं मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति विद्यमान है। मध्यम वर्ग अपनी आर्थिक दशा को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के प्रयत्न में अपनी दशा अत्यन्त दयनीय बना लेता है और दूसरे का महल देखकर अपनी झोंपड़ी जला लेने की उक्ति चरितार्थ करता है। 'गबन' के रमानाथ के जीवन की विषमता का मूल कारण यही प्रवृत्ति थी। उसके जीवन की ट्रेजेडी का दायित्व जालपा की आभूषण प्रियता पर नहीं, वरन् स्वयं उसकी मुलम्मे चढ़ी सामाजिक स्थिति के आडम्बर पर है, जिसके कारण वह आत्मीय जनों के समक्ष अपने पीतल को सोना कहकर प्रस्तुत करता है।

पुत्री का विवाह इस वर्ग के लिए आर्थिक प्रश्न बन गया है। इस कार्य के निमित्त या तो उसे ऋण लेना पड़ता है अथवा फिर समझते बूझते भी वह उसे कुएँ में ढकेलने के लिए विवश हो उठता है। 'गोदान' की रूपा और 'गबन' की रतन का विवाह भी इसी धनाभाव के कारण प्रौढ़ व्यक्तियों से सम्पन्न होता है। किन्तु 'सोना' पिता होरी की आर्थिक दयनीयता का अनुभव कर वर पक्ष के पास दो टूक सम्वाद भेजती है कि यदि बिना दहेज के रिश्ता करना कबूल हो तो ठीक, नहीं तो वह आत्म-घात कर लेगी। इससे यह विदित होता है कि नारी समाज दहेज-प्रथा के विरुद्ध जाग उठा था। गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द युगीन नारी जीवन की अधिकांश समस्याओं का कारण मध्यम वर्ग की अर्थहीनता ही है।

'होरी' (गोदान) के माध्यम से प्रेमचन्द जी ने कृषक-जीवन की आर्थिक चिन्ताओं, अनुकूल समय पर वर्षा न होने से उनकी दुरावस्था, जमीदार-वर्ग द्वारा निर्धन किसानों का शोषण और उनके अत्याचारों के परिणाम स्वरूप गोबर (गोदान) के माध्यम से नई कृषक पीढ़ी के मन में जागृत असन्तोष के भाव को वाणी प्रदान की है।

औद्योगिक समस्याओं और पूँजीपति वर्ग की निर्दयता एवं निर्ममता को भी ज्वलंत शब्दों में इन उपन्यासों में प्रकट किया गया है। उनकी शोषण-प्रवृत्ति का परिचय देते हुए देवीदीन खटिक (गबन) कह उठता है—

"उसे पापी कहना चाहिए, महापापी। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल में होती है और कहीं नहीं होती। आदमियों को हण्टरों से पिटवाता है, हण्टरों से। चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखों

कमा लिये। कोई नौकर एक मिनट भी देर करे तो तुरन्त तलब कर लेता है।'

मिल-मालिकों और मजदूरों के संघर्ष में मिल-मालिकों की विजय का कारण है स्वार्थी मजदूर नेताओं का निजी स्वार्थ। वस्तुतः गोदान तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय अर्थव्यवस्था का संक्रान्तिकाल समाप्त हो गया था। 'गोदान' का समाज पूँजीवादी समाज का द्योतक है। जमींदार, रायसाहब जोकि सामंतवादी सभ्यता के अवशेष मात्र हैं—शक्ति से वंचित है, जबकि पूँजीपति खन्ना आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली है।
प्रेमचन्द साहित्य, समाज और राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। उनके निजी शब्दों में—

'ये चीजें माला जैसी ही हैं। जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलने वाली चीजें हैं।''

तत्कालीन राजनीतिक जीवन एवं उसकी समस्याओं का स्पष्ट प्रतिफलन इन रचनाओं में दृष्टिगत होता है। बड़े-बड़े जमींदार चुनाव लड़कर कौंसिलों में पहुँचते हैं, लेकिन उनका उद्देश्य किसानों की रक्षा करना न होकर निजी स्वार्थों की रक्षा करना होता है। भूमि-व्यवस्था से सम्बद्ध सरकारी कर्मचारियों के शोषण-चक्र तले दबे-पिसे किसानों की अवस्था का स्वाभाविक वर्णन 'गोदान' में दृष्टिगत होता है। विदेशी, शासन-व्यवस्था की निरंकुश नीति की प्रतिनिधि पुलिस की कूट-नीति एवं अत्याचारों का 'गबन' में स्पष्ट उल्लेख है। स्वदेशी आन्दोलन और सत्याग्रह आन्दोलन का भी इसमें संकेत है। 'गोदान' में मजदूरों की राजनीतिक चेतना, राजनीतिक जागृति की ओर एक स्थल पर संकेत किया गया है। गोबर शहर में मजदूरी करते हुए राजनीतिक सभाओं में जाता है और इस तथ्य का अनुभव करता है कि उसे अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करना होगा।

धर्म का बाह्य आडम्बरमय विघटनात्मक रूप समाज-विकास के मार्ग में बाधक है—इस तथ्य की अभिव्यंजना प्रायः सर्वत्र हुई है। 'गबन' का रमेश इस बाह्याडम्बरमय धर्म का विरोध करता है। मातादीन (गोदान) के व्यक्तित्व में पंडा पुरोहित वर्ग का मिथ्याभिमान एवं कर्मकाण्डी प्रवृत्ति

मूर्तिमान हो उठी है। मातादीन के सन्दर्भ में बाह्याडम्बरमय धर्म पर व्यंग्य करते हुए प्रेमचन्द कह उठते हैं—

'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे फिर हमारे धर्म पर कोई आंच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बन कर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' किन्तु कालान्तर में मातादीन का हृदय धर्म के इस रूप के प्रति विद्रोह कर उठता है और वह सिलिया चमारिन के प्रति अपने कर्तव्य-पालन का दृढ़ निश्चय कर लेता है।

वस्तुतः प्रेमचन्द मानवतावादी कलाकार थे। उनका मानववादी दृष्टिकोण लोकमंगल, लोकहित की भावना से प्रेरित है, संचालित है। जो दलित हैं, पीड़ित हैं और वर्जित हैं—चाहे वह व्यक्ति है या समूह—उसका पक्ष लेना, उसकी वकालत करना वह अपना कर्तव्य समझते थे। मेहता (गोदान) के हृदय में पीड़ित मानवता के प्रति सच्ची सहानुभूति है और वह प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बीच में विद्यमान सेवा-मार्ग को अपना कर मानवतावाद की स्थापना करते हैं।

वस्तुतः प्रेमचन्द की साहित्यिक चेतना, मानसिक भावना एक पल भर के लिए भी समाज से, सामयिक सत्य से विमुख नहीं हो पाई है। समाज के विभिन्न पक्ष, वर्ग, रूप-चाहे वह पारिवारिक हैं, चाहे राजनीतिक—सभी इनकी औपन्यासिक कृतियों के विस्तृत फलक पर साकार, सजीव, यथार्थ रूप में उभर कर प्रेक्षक वर्ग के मनःस्तल को झकझोर देने में पूर्णतः सफल हैं और उसे जीवन के व्यापक क्षेत्र में 'मानवाय नमः' कहने के लिए विवश कर देते हैं।

●

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र—एक तुलनात्मक अध्ययन

--डॉ० श्रीमती विद्या चौहान

युग बोध के अनुसासार जीवन और साहित्य के मूल्थों में परिवर्तन होता रहा है। मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना शाश्वत मूल्य-निर्माण का प्रत्यत्न करती है और वैज्ञानिक तर्क बुद्धि परम्परागत मूल्यों का विघटन करती है। आस्था और अनास्था के द्वन्द्व में घिरा मनुष्य अनुकूल-प्रतिकूल विचारधाराओं में आन्दोलित होता चलता है।

हिन्दी कथा साहित्य के प्रारम्भिक युग में मनस्तत्व की सरलता तथा जीवन की सुगमता के कारण सुनियोजित और स्पष्ट जीवन-मूल्य थे। व्यक्ति की मानसिकता उन्हें सहजता से ग्रहण कर लेती थी। अन्तर्द्वन्द्व तथा अनिश्चय नहीं था। आदर्शों की परिकल्पना और नैतिकता की छवि के लिए कोई संशय नहीं था। कथाओं के पात्र निर्धारित आदर्शों की पूर्ति के लिए समस्त विघ्न-बाधाओं से जूझ जाते थे और अन्त में विजय प्राप्त करते थे। कालान्तर में वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ आस्था के बन्धन टूटने लगे, आदर्शों की प्रतिमाएँ खण्डित होने लगी, परमात्मा और आत्मा संदिग्ध तत्त्व हो गये, समस्त प्राचीन परम्परागत मूल्य विघटित हो गये और मनुष्य ने उन्हें अस्वीकार कर दिया। हिन्दी-कथा-साहित्य के संवेदनात्मक स्वरूप में भी अन्तर आया। मानव-मूल्यों की सामाजिक चेतना के विलक्षण परिवर्तन ने उपन्यास और कहानियों के जगत में भी नये मनुष्यों का निर्माण किया। सम्पूर्ण बाह्य जगत मनुष्य के अन्तर्मन में खोजा जाने लगा। चेतन की समस्त प्रतिक्रियायें अचेतन की क्रियाओं का परिणाम घोषित हुई।

प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र जी के कथा साहित्य में युग जीवन की परिवर्तमान विचारधाराओं, सामाजिक विषमताओं, पारिवारिक विडम्बनाओं और व्यक्ति-सम्बन्धों की राग-विरागमयी अनुभूतियों का गहरा चित्रण हुआ है, किन्तु जीवन-दर्शन, संवेदन क्षमता, अनुभूति-ग्राहकता, निर्णय

बुद्धि, समाधान-कौशल, रचना-विन्यास शिल्प-सज्जा की दृष्टि से दोनों कथाकारों के व्यक्तित्व में भिन्नता है।

प्रेमचन्द समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखते हैं, जैनेन्द्र व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखते हैं। प्रेमचन्द की लेखनी समाज का चित्र उतारती है, जैनेन्द्र की प्रतिभा ने व्यक्ति का चित्र खींचा है। प्रेमचंद प्रवाह चेतना में विश्वास रखते हैं, जैनेन्द्र आत्म-चेतना में डूब जाते हैं। प्रेमचन्द समस्त समस्याओं का समाधान बाहर ढूँढते हैं, जैनेन्द्र मन की भीतरी पर्तों को उघारते हैं।

प्रेमचन्द ने उसी साहित्य को सार्थक माना था, जो जीवन से जुड़ा हो। पर जीवन की यथार्थपरक व्यंजना के वे समर्थक नहीं थे। नग्न यथार्थता का उन्होंने विरोध किया है। उनकी दृष्टि से प्रत्येक यथार्थ की प्रयोजनशीलता किसी आदर्श की सिद्धि में है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से प्रतिष्ठापित उनका मौलिक सिद्धान्त साहित्य की सामाजिक व्यापकता को व्यक्त करता है। उन्होंने लिखा है—"साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रह गई है बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। तब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ साधन का औजार बनाये, भले उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिये कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व व्यापक है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।"

इसके विपरीत जैनेन्द्र जी की समस्त रचनाओं के पात्र मुख्यतः अहं पीड़ित व्यक्तिवादिता को समेट कर चलते हैं। मानसिक उलझन, आन्तरिक रहस्य, कुण्ठा और निराशा का उद्वेग इनके पात्रों का वैशिष्ट्य है। उनमें सहज द्रवणशीलता का अभाव है और अहं केन्द्रित व्यक्तित्व की बौद्धिक प्रच्छन्नता का आलोड़न है। जैनेन्द्र की अन्तर्मुखता खण्ड-खण्ड में सत्य का अन्वेषण करती है, समग्रता में नहीं। वे आस-पास के जाने-पहचाने पात्रों में मूर्त अन्तर-सत्यों को बहुत ही सहज भाव से पकड़ लेते हैं और उन्हें कहानियों में रूपायित कर देते हैं। जीवन के अदृश्य अमूर्त सत्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति जैनेन्द्र जी की रचनाओं में स्पष्टतः लक्षित होती है। प्रतीकात्मक कहानियों में चरित्र-चित्रण प्रक्रिया

अप्रत्यक्ष होने के कारण प्रतिपाद्य की प्रतीति संकेतों के माध्यम से ही होती है। यहाँ बौद्धिकता का आग्रह स्वाभाविक है। सूक्ष्म और संश्लिष्ट बिम्बों का सहारा लेकर अचेतन और अर्द्धचेतन की संवेदनाओं को उभारा गया है।

प्रेमचंद सामाजिक-आर्थिक विषमता को मनुष्य की पीड़ा का कारण मानते हैं। पूँजीवाद, वर्ग-भेद जमींदारी-प्रथा, शासन की अनुचित नीतियाँ ही समस्त सामाजिक बुराइयों का कारण हैं। किसानों, मजदूरों स्त्रियों, बालकों का समाज के कर्णधारों द्वारा शोषण किया जाना सिद्ध करता है कि समाज संरचना के आधारभूत सिद्धान्तों में कहीं कोई त्रुटि है। जिस समाज में मानवता का हनन होता हो, उसमें आमूल परिवर्तन की अपेक्षा है। जैनेन्द्र जी ने मनुष्य की पीड़ा का कारण मनुष्य के प्रकृतिगत असामान्यता और रति-सम्बन्ध होने की विषमता माना है। समाज के विधि निषेध व्यक्ति को इतना आतंकित करते हैं कि उसे अपनी मूल इच्छाओं और आवेगों का गला घोंट कर समाज में जीना पड़ता है। अनुचित दमन की प्रक्रिया अनेक मनोग्रन्थियों को जन्म देती है। जैनेन्द्र के प्रबुद्ध पात्र समाज के प्रति मानसिक आक्रोश तथा विद्रोह को धारण किये रहते हैं और विस्फोटक स्थिति को आत्म- प्रताड़ना के शिकार हो जाते हैं। वैचारिक विद्रोह जब सामाजिक संघर्षों की स्थिति तक पहुँचता है तब जैनेन्द्र के पात्र पलायन कर जाते हैं। समाज से लड़ने और समाज को बदलते की क्षमता उनमें नहीं है। परिणामतः आत्म पीड़न, निराशा, निरीहता एवं कायरता से युक्त पात्रों की हीन मनोदशा का चित्रण प्राप्त होता है। जैनेन्द्र के पात्र अकर्मण्य और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हैं। अप्रत्याशित रूप से आगत परिस्थितियों को वे सहन नहीं कर पाते और असामान्य आचरण करते हैं। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न, 'सुखदा' का मि० लाल, विवर्त्त का जितेन, 'व्यतीत' का जयन्त, 'मुक्ति बोध' का मि० सहाय, अनामस्वामी का शंकर उपाध्याय आदि इसी प्रकार के प्रेम कुंठित, हीनता ग्रस्त, अन्तर्द्वन्द, असामान्य पात्र हैं। प्रेमचन्द की विविध कृतियों में मानव-प्रकृति के आरोह-अवरोह, समाज की विषमताओं एवं विडम्बनाओं, धार्मिक जगत में विकीर्ण कुरीतियों, कुप्रथाओं, भारतीय कृषक जीवन में व्याप्त शोषण-अत्याचार, स्त्री-जाति की पतनोन्मुखी स्थिति आदि का चित्रण प्राप्त होता है जो सीधे-सीधे मन को स्पर्श करता

है। जैनेन्द्र की औपन्यासिक कृतियाँ जीवन के विशिष्ट सन्दर्भों से जुड़ी हुयी हैं और पात्रों के गूढ़ जटिल मनस्तत्त्व का विश्लेषण करती हैं। वहाँ प्रत्येक प्रमुख पात्र—विशेषतः पुरुष—अन्तर्मन की समस्याओं, द्वन्द्वों, भावात्मक उलझनों तथा मानसिक तनावों में जूझता हुआ दिखाई देता है।

प्रेमचन्द ने जीवन के वैविध्य को ग्रहण किया है, जैनेन्द्र ने जीवन के वैशिष्ट्य को। प्रेमचन्द के साहित्य में अथाह अनुभवों की व्यापकता है, जैनेन्द्र के साहित्य में सोमित अनुभवों को गहराई। प्रेमचन्द बहिर्जीवन की स्थूल-सूक्ष्म समग्रता तथा उससे प्रभावित जन-प्राणों की गाथा के गायक हैं, जैनेन्द्र अन्तःकरण के निविड़तम ज्ञात-अज्ञात रहस्यों के उद्घाटक हैं। प्रेमचन्द जनवादी चेतना के उन्नायक होने के कारण विश्व-स्तर पर महत्त्व के अधिष्ठाता हो गये है, जैनेन्द्र व्यक्ति-मन की पर्त्त-दर-पर्त्त छिपी हुयी ग्रन्थियों को खोलने में समर्थ साधक की भाँति किसी तपोवन की प्रशान्त गुफा में दुर्लभ बन गये हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यास अपने वृहत् कलेवर में देश, समाज, गाँव, परिवार और व्यक्ति की अनन्त समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए अन्त में समाधान की स्पष्ट रूपरेखा भी प्रदान करते हैं, जबकि जैनेन्द्र के उपन्यासों में मानसिक समस्याओं का जमघट ही रहता है, समाधान—प्रस्तुतीकरण की कोई चेष्टा नहीं रहती। पात्रों की कुण्ठा और निराशा के साथ लहराता हुआ पाठक अन्त में गहरी अतृप्ति तथा अनेक अबूझ प्रश्न-चिह्नों से घिर जाता है।

प्रेमचंद के साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव है। गांधीवाद के मूलभूत सिद्धान्त सत्य, अहिंसा, समता, सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन पतितोद्धार, हरिजनोद्धार, स्त्री-शिक्षा, भेद-भाव उन्मूलन आदि का प्रकाशन प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन उपन्यासों में हुआ है। गांधीवादी विचारधारा के अनुसार 'सर्वोदय' और 'रामराज्य' की परिकल्पना ही सामाजिक उन्नयन को बल दे सकती है। डा० प्रताप नारायण टंडन के शब्दों में "प्रेमचंद ने गांधी के जीवन को गंभीरता पूर्वक मानवोत्थान के माध्यम के रूप में ग्रहण किया है। गांधीवाद के लिए उनकी स्वीकृति बौद्धिकता मूलक है। प्रेमचन्द ने गांधी-दर्शन के सात्विक पक्ष को समझा है।......प्रेमचंद का साहित्य गांधीवाद का वास्तविक प्रसारक कहा जा सकता है।" प्रेमचंद की विशेषता यह है कि उन्होंने गांधीवाद के केवल

सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन नहीं किया है, बल्कि उसे व्यावहारिक स्तर पर चरितार्थ करके दिखाया है। 'रंगभूमि' का सूरदास गांधीजी का प्रतिरूप बनकर आया है। उसके द्वारा गांधीवादी समस्त सिद्धान्त व्यावहारिक भूमि पर प्रतिफलित होते हैं। प्रेमचन्द के आदर्श पात्र जीवन की समस्त विषमताओं को पार करके अन्ततः आत्मशुद्धि और समाज परिष्कार के बिन्दु पर पहुँचते हैं। प्रेमचन्द मानते हैं कि सामाजिक अभिशाप से ग्रस्त व्यक्ति को अपना जीवन नष्ट न करके उसे समाज-सेवा या अन्य रचनात्मक कार्यों में लगा देना चाहिए। व्यक्ति के दुःख का कारण सामाजिक-आर्थिक विषमता है। अतः इस विषमता के उन्मूलन में ही कल्याण है। वर्ग-भेद, शोषण और अनाचार आर्थिक वैषम्य तथा स्त्री परतन्त्रता के स्वरों में तीव्रता उत्पन्न करने का श्रेय मार्क्सवादी विचारधारा को भी है। मानव के प्रति मानव के अमानवीय आचरण का मार्क्सवाद ने विरोध किया है। मार्क्सवाद मानवता की मुक्ति का प्रयास है। मार्क्सवाद ईश्वर को नहीं, मनुष्य को महत्व देता है। पर-निर्माण में नहीं, स्व-निर्माण में विश्वास रखता है। पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध में जन-जागरण की चेतना प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में प्राप्त होती है। मानव अधिकारों की माँग, समानता की अभिलाषा, सबके सुख की कामना उमके जनवादी लक्ष्य को निर्दिष्ट करती है। उन्होंने ईश्वर का विरोध नहीं किया, पर मनुष्य की असीम कर्त्तृ-शक्ति को महत्व दिया है। साधारण मनुष्य की दुर्दशाओं का चित्रण करते हुए उन्होंने ऐसे आदर्श मनुष्य-चरित्र की रचना की, जो समाज को पूरा-पूरा बदल देने की क्षमता रखता है। उनके पात्र अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा समाज के रूढ़ि-ग्रस्त स्वरूप को परिवर्तित करते हैं। पीड़ित मानवता का पक्ष लेकर प्रेमचन्द साहित्य के व्यापक दायित्व की दिशा देते हैं।

जैनेन्द्र नियतिवादी आस्तिकता के समर्थक हैं। भवितव्य प्रधान है। मनुष्य अपने कृत्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं है। अदृश्य शक्ति से संचालित होकर मनुष्य अच्छे-बुरे कर्म करता है। पाप-पुण्य के विश्लेषण से परे मनुष्य नियति के अनुसार कार्य करने के लिये विवश है। समस्त सुकर्म और दुष्कर्म ईश्वरत्व में विलय हो जाते हैं। नियतिवादी चिन्तक होने के कारण जैनेन्द्र के समस्त पात्र भवितव्यता में बँधे होते हैं और दीनता से ग्रस्त रहते हैं। स्वयं नियन्ता का भाव उनमें नहीं होता। जैनेन्द्र पर जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और गांधी दर्शन का मिश्रित प्रभाव

है। जैन-दर्शन के अस्ति-नास्तिवाद, बौद्ध दर्शन के अहिंसावाद, गांधी दर्शन के आत्म-पीड़न, सहिष्णुता और त्याग के सिद्धान्तों से वे प्रभावित हैं। फ्रायड के काम सिद्धान्तों का भी उनपर अतिशय प्रभाव है, पर उन्होंने नारी पुरुष के ऐन्द्रिक सम्बन्धों तथा अतृप्त काम-वासनाओं का चित्रण अपने ढंग से किया है। व्यक्ति के चेतन-अचेतन में आविर्भूत अभिलाषायें अतृप्त होकर असामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं, जैनेन्द्र मानते हैं कि समस्त सामाजिक विषमताओं का कारण मनुष्य की अतृप्त कामेच्छायें हैं। नैतिकता और आदर्श के संस्कार कुंठित आकांक्षाओं पर आच्छादित होकर व्यक्ति को पलायनवादी किन्तु कठोर आत्म यंत्रणा को झेलने में समर्थ बना देते हैं। जैनेन्द्र पर गांधीवाद की कष्ट-सहिष्णुता, आत्म-पीड़न तथा अहिंसा का तो पूर्ण प्रभाव है, पर संयम और आत्म-शुद्धि को वे नहीं मानते। फ्रायड की भाँति व्यक्ति स्वातंत्र्य में वे विश्वास रखते हैं। सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों की रक्षा के लिए वे अधिक प्रयत्नशील हैं। उनकी दृष्टि से समाज गौण और व्यक्ति प्रधान है। परम्परागत मूल्य यदि व्यक्ति सत्ता का हनन करते हैं, तो उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए।

प्रेमचंद साहित्य के द्वारा नवयुग का निर्माण करना चाहते हैं। जैनेन्द्र जी साहित्य को कर्म से असंयुक्त मानते हैं और समाज तथा राज्य संचालन के निमित्त साहित्य की उपादेयता को महत्त्व नहीं देते।

प्रेमचन्द की व्यंग्यदृष्टि और गोदान

—डॉ० बालेन्दु शेखर तिवारी

अनुभव की प्रामाणिकता और अनुभूति की तीव्रता का जैसा मूर्त रूप प्रेमचन्द की सर्जना में दीखता है, वह प्रेमचन्द को सर्वयुगीन प्रासंगिकता देने के लिए अलम् है। वस्तुतः जिस रचनाकार का सर्जनाबन्ध व्यापक फलक पर अपने प्रभविष्णु रूप का विस्फार काल और देश के तटों को तोड़कर उपस्थित करता है, उसके संदर्भ में साभिप्रायता, सार्थकता, प्रासंगिकता जैसे शब्द बेहद बौने हो जाते हैं। ऐसा कालजयी सर्जक सार्वकालिक अभिव्यक्ति का प्रभावक मुद्रावैविध्य प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द की अस्मिता इस स्तर के कालातीत रचनाकारों के बीच इसी कारण सुरक्षित है कि परिवेश की समस्याओं के साथ प्रेमचन्द्र ने योद्धाओं की तरह संघर्ष किया, वातावरण से जुड़े सन्दर्भों और लोगों को सजीवता प्रदान की। इस सप्राणता का सीधा सम्बन्ध प्रेमचन्द के उस कथावृत्त से है, जिसमें कथाकार की कलामयता, समाजशास्त्री की चिन्तना और व्यंग्यकार की गहन सक्रियता विद्यमान है। उनका रचना-संसार ढकोसलों पर टिके हुए उत्पीड़नों और परिवेशगत पार्थक्यों का प्रखर विरोधी है। यह विरोधी छवि प्रकारान्तर से गत्यात्मक विचारणा से ही निखरी है। प्रेमचन्द कभी भी किसी विशिष्ट जीवन दर्शन को अपना कर बैठे नहीं रह गये, बल्कि अनुभूति की तीव्रता और वातावरण के अनुसार लगातार अपनी वैचारिकता को नया बनाए रखा।

वस्तुतः प्रेमचन्द के निरन्तर मौजूद होने का सबसे जीवंत साक्षात्कार उनकी व्यंग्यधर्मीसर्जना में होता है। न तो सतही विरोध का मुखौटा पहनना उनके व्यंग्यकार की नियति है और न स्थितियों से मुँह चुराना उनका स्वभाव है। भय और प्रीति के अधीन रहकर व्यंग्यकार का ईमानदार रह पाना सम्भव नहीं, इसे प्रेमचन्द जानते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में उपलब्ध व्यंग्यवितान उतना गुदगुदीकारी नहीं है, जितना आज के घोषित व्यंग्यकारों का। कफन, शतरंज के खिलाड़ी, सवासेर गेहूँ, पूस की रात जैसी बारीक व्यंग्य-बहुल कहानियों में सार्थक

और धारदार व्यंग्य की प्रस्तुति करने वाले कहानीकार ने पूरी निर्ममता के साथ विसंगतियों का ऑपरेशन किया है। अपने लेखन के प्रौढ़िकाल में प्रेमचन्द ने उन लोगों की तरफदारी की है, जिनके घर से पैसा इस तरह गायब है, जैसे कि घोंसले से माँस। 'कफन' में माधव ने कहा कि बुधिया वैकुण्ठ की रानी बनेगी, इस पर घीसू उल्लास की लहरों पर तैरता हुआ बोला—

"हाँ बेटा, बैकुण्ठ में जाएगी। किसी को सताया नहीं किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुण्ठ जाएगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगें, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं[१]।

सामाजिक जीवन में विद्यमान यही अंतराल 'पूस की रात' के हल्कू के मानस में भी है। थरथराते जाड़े में ठिठुरता हल्कू अपने कुत्ते को सुनाता है—

'एक-एक भागवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाय तो गर्मी से घबड़ा कर भागे। मोटे-मोटे लिहाफ-कम्मल। मजाल है कि जाड़े का गुजर हो जाय। तकदीर की खूबी है, मजूरी हम करें मजा दूसरे लूटें[२]।

किसी भी सफल व्यंग्यकार की तरह प्रेमचन्द के सामने स्पष्ट था कि उन्हें भारतीय समाज के स्पष्टतया विभक्त-खण्डों में से किसकी खुली हिमायत करनी है। प्रेमचन्द ने घीसू, माधव, हल्कू, शंकर जैसे लोगों की आन्तरिक वेदना को व्यंग्यमिश्रित अभिव्यक्ति दी है, मौजूदा तंत्र के खोखलेपन को उद्घाटित किया है। यह सामर्थ्य व्यंग्यकारों की जमात में शामिल होने की ललक का प्रतिफल नहीं है, अपने आस-पास बिखरी विद्रूपताओं के साथ जुड़े होने की विवशता की प्रतिक्रिया है। साहित्य को जीवन की समीक्षा स्वीकारने वालों के सामने प्रेमचन्द ने व्यंग्य को व्यवस्था की समीक्षा के रूप में प्रस्तावित किया। जीवन बोध की धड़कनों को अवरुद्ध करने वाली स्थितियों की पैनी पकड़ घीसू और माधव की भूख-कथा में है। इस छोटी और प्रभावी श्रेण्यगर्भिता से सम्पन्न कहानी का समस्त साफल्य व्यंग्य के जरिए व्यवस्था पर प्रहार करने की कोशिश

---

१. मंजूषा (सं०—अमृत राय) पृ० २४

२. उपरिवत्, पृ० २९

पर आधृत है। इतनो ही धारदार प्रखर सहानुभूति के साथ प्रेमचन्द ने मीर और मिर्जा की कायरता का राग भी छेड़ा है। शतरंज के खिलाड़ी उस परिवेश पर किया गया व्यंग्य है, जिसमें फकीर भी पैसे मिलने पर रोटियाँ न खरीद कर अफीम खाते थे। व्यवस्था के विद्रूप का संकेत प्रेमचन्द ने सेवासदन को पहली पंक्ति में ही दिया है-—

'पश्चाताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।'[१]

एक ऐसे समाज का आलेखन प्रेमचन्द करने बैठे हैं, जिसमें लोग अपनी ईमानदारी और सज्जनता के कारण पछताते हैं। यह वही भ्रष्ट समाज हैं, जहाँ धर्म और प्रशासन की सारो पगडण्डियाँ उत्कोच और स्वार्थपरता की घाटियों से गुजरती हैं। इस परिवेश में एक महन्त जी का उल्लेख प्रेमचन्द ने किया है, जो श्री बांकेबिहारी जी के नाम पर लेनदेन करते थे और ३२ रुपये से कम सूद न लेते थे। 'सेवासदन' में धार्मिक-आर्थिक शोषण का सत्य सामने रखा है—

'यज्ञ के लिए इलाके के प्रत्येक आसामी हल पीछे पाँच रुपया चन्दा उगाहा गया था।........श्री बाँकेबिहारी जी की आज्ञा को कौन टाल सकता था ? यदि ठाकुर जी को हार माननी पड़ी, तो केवल एक अहीर से जिसका नाम चेतू था।...... ठाकुर जी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते ? एक दिन कई महात्मा चेतू को पकड़ लाए। ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी।' इतना कष्ट देकर भी ठाकुर जी को संतोष नहीं हुआ। उसी रात को उसके प्राण भी हर लिए।'[२]

घीसू, माधव, हल्कू, चेतू जैसे लोगों की आंतरिक वेदना की होरी की महाकाव्यात्मक गाथा के माध्यम से प्रेमचन्द ने व्यंग्याश्रित अभिव्यक्ति दी है। अपने को मिटाकर भी खोखली मर्यादा की रक्षा के लिए सचेष्ट होरी जैसे लोगों के साथ प्रेमचन्द की आत्मा जुड़ी है। उनके सामने एक ऐसा समाज अपनी ही लाश की दुर्गन्ध का सामना कर रहा था, जिसमें नमाज भो बोझ मालूम देती थो और पूजा ने रस्म का रूप धारण कर लिया था। 'गोदान' की संरचना व्यंग्य की उस वृहत्तर शक्ति की बानगी

१. सेवासदन (प्रेमचन्द), पृ० ३

२. उपरिवत्, पृ० ६

है, जिसमें ध्वंस और निर्माण की भंगिमाएँ एक साथ छिपी हुई हैं। डा० राम विलास शर्मा के अनुसार—'प्रेमचन्द ने कहीं समाज के इस जर्जर ढांचे में दो लातें लगाई हैं, कहीं मिट्टी लेकर गिरती दीवार को बनाने की कोशिश की है, लेकिन वह ढाँचा भीतर से कितना खुदा है—मिट्टी के कण-कण एक दूसरे से कितने अलग हो गये हैं, यह वह भली प्रकार जानते थे। वह जानते थे कि वर्षा, आतप और शीत से यह घर हमारी रक्षा नहीं कर पाता।'[१]

नये हिन्दुस्तान के निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि विगलित व्यवस्था और नष्ट-भ्रष्ट हुई सामाजिकता की तमाम विद्रूपताओं को उनके वास्तविक रूप में उपस्थित कर दिया जाय। अपनी उर्वर चिंतन शक्ति के सहारे प्रेमचन्द ने स्थापत्य, शील निरूपण और शैली में ऐसी समस्त कमजोरियों को अनुभव की प्रामाणिकता के अनुरूप रेखांकित किया है। समूचा 'गोदान' प्रेमचन्द की सजग व्यंग्य दृष्टि का कलात्मक एवं मारक विन्यास है।

'गोदान' में प्रारम्भ से अन्त तक होरी की त्रासदी उस व्यंग्यमूलक कथायोजना का उपस्थापन है, जिसके हर पन्ने पर व्यंग्यवाण बिखरे हुए हैं। इस उपन्यास में एक ओर ऐसे गरीब लोग हैं, जिनकी गरीबी किसी महामारी से कम नहीं, तो दूसरी ओर ऐसे बड़े आदमी भी हैं, जिन्हें कभी कोई छोटा रोग नहीं होता। इन दोनों ही वर्गों की वास्तविकता को प्रेमचन्द ने सत्यफलकीय संव्यान द्वारा उजागर किया है। 'गोदान' में व्यंग्य की अंतर्धारा प्रारम्भ से अंत तक बहती हुई परिलक्षित होती है, तो इसका कारण केवल यही है कि प्रेमचन्द कथनी और करनी के अंतराल से भलीभाँति परिचित थे, उनका लेखन महज जानकारियों का सुघड़ कूड़ाखाना नहीं है। नागरिक और ग्रामभित्तिक अवनत परिवेश का जैसा मर्मंतुद चित्रण प्रेमचन्द ने किया है, उसमें हास्य और करुणा, व्यंग्य और उपहास की मिली-जुली भंगिमाएँ हैं। डा० इन्द्रनाथ मदान का निष्कर्ष है—

'इस उपन्यास के अथ से इति तक की रचना प्रक्रिया के मूल में व्यंग्य की धारा एक अंत:सलिला की तरह बहती लगती है। यह व्यंग्य की धारा जो इसके तल में है या इसकी तह में है, कभी उक्ति के व्यंग्य

---

१. प्रेमचन्द (डॉ० रामविलास शर्मा), पृ० १५७

में तो कभी स्थिति के व्यंग्य में, कभी रेखाचित्र के व्यंग्य में तो कभी पूरे चरित्र के व्यंग्य में उभर कर आती है। इसमें कभी तो व्यंग्य के छींटे कसे गये हैं तो कभी व्यंग्य के वाण छोड़े गये हैं, जो पाठक की सम्वेदना को देर तक सालते रहते हैं। इनकी अभिव्यक्ति कभी उपहास के स्तर पर है जो भोंडा है, तो कभी कामदीय स्तर पर जो मीठी चुटकी लेने की तरह है, जो इस पर हावी होकर इसे एक त्रासदीय व्यंग्य रचना में ढाल देता है।'[१]

व्यंग्य उपन्यास के रूप में गोदान की पहचान का सम्पूर्ण दारोमदार इस विन्दु पर केन्द्रित है कि प्रेमचन्द ने कितनी तीक्ष्णता के साथ परिवेश में जो कुछ टूटने योग्य है, उसे तोड़ डालने की आकांक्षा का बयान किया है। औपन्यासिकता का निर्वाह व्यंग्य की सजग और पैनी दृष्टि के अनुरूप करने में उपन्यासकार को कितनी सफलता मिली है, यह परिवेश के शरीर पर उग आये फोड़े के निर्मम ऑपरेशन से प्रकट होता है। 'गोदान' में महाजन संस्कृति, किसानी सभ्यता और सामंती संस्कारों का निर्भय पोस्टमार्टम किया गया है। कहीं भी अवसर मिलने पर प्रेमचन्द ने व्यवस्था और समाज की सडांध को पूरे कौशल के साथ अभिव्यक्त किया है, व्यंग्य की तीखी धार उपन्यास में वहीं से बरसने लगती है, जहाँ राय साहब और होरी की पहली मुलाकात का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। होरी के राय साहब का भाषण सामंती समाज पर किया गया व्यंग्य है और अपने ही वर्ग की हस्ती के विनाश का स्वागतम् भी—

'हम इतने बड़े आदमी हो गए हैं कि हमें नीचता और कुटिलता में ही निस्वार्थ और परम आनन्द मिलता है।···इसे तुम छोटी साधना मत समझो।····राजा साहब को यमराज के मुँह से निकालने की होड़ लगी हुई है। वैद्य और डाक्टर इस ताक में रहते हैं कि कब इनके सिर में दर्द हो और कब उनके घर में सोने की वर्षा हो। और ये रुपए तुमसे और तुम्हारे भाइयों से वसूल किए जाते हैं और भाले की नोक पर।'[२]

इन्हीं राय साहब को जैसे ही पता चलता है कि बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है, वे आँखें निकाल कर माथे पर बल डाल उन दुष्टों को ठीक करने चले जाते हैं। वक्तव्य और कर्तव्य का यह पार्थक्य प्रेमचन्द

१. सालोचना और आलोचना (डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान) पृ० १७८
२. गोदान (प्रेमचन्द), पृ० १५

की व्यंग्यधर्मिता के कारण ही पकड़ में आया है। व्यापक शोषणचक्र का व्यंग्यात्मक चित्रण पूरे 'गोदान' में हुआ है। भोला के यहाँ से गाय लाता हुआ होरी सोचता है कि कारिन्दा साहब की पूजा भी करनी होगी। दरअसल हर नया कदम रखते समय शोषित समाज के लोग सशंकित रहते हैं, इसे प्रेमचन्द ने पहचाना है। शोषण का सामना होरी जैसे किसान ही नहीं करते, मातादीन और नोखेराम जैसे साहूकार भी यथावसर करते हैं। दारोगा को २५ रुपए घूस देकर दातादीन, नोखेराम आदि चारो सहजन इस तरह लौटे, मानो किसी प्रियजन का संस्कार कर श्मशान से लौट रहे हों। आर्थिक और शारीरिक शोषण के भयावह संसार में जीने वाले लोगों का धर्मात्मापन उनकी दुर्गति करा रहा है, इसे प्रेमचन्द ने गोबर के जरिए पहचाना है। बेलारी के किसानों के बीच गोबर नई हवा का झोंका है और अपने पिता की पारम्परिक धारणा का प्रतिवाद करता है—

'भगवान सबको बराबर बनाते हैं। जहाँ जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचल कर बड़ा आदमी बन जाता है।'[१]

बड़े आदमियों और छोटे आदमियों के बीच के आपसी सम्बन्धों को पूरे कौशल के साथ खरौंच कर प्रेमचन्द ने एक व्यापक व्यंग्यबोध का संसार निर्मित किया है। इस संसार में कहीं चारित्रिक व्यंग्य विद्रूपता उभारता है, तो कहीं अनूठी व्यंग्योक्तियों के माध्यम से स्थितियों का जायजा लिया है। यह बहुत मार्के की बात है कि 'गोदान' में ढेर सारी व्यंग्योक्तियाँ धनिया ने सुनायी हैं। वह न केवल अपनी बातों से बड़े-बड़ों के छक्के छुड़ा देती है, बल्कि उसकी व्यंग्योक्तियों में व्यावहारिकता टपकती है। रुष्ट होकर होरी ने कहा—'मुझे भूख नहीं हैं,' तो इस पर धनिया ने जले पर नमक छिड़कते हुए कहा—

'हाँ, काहे को भूख लगेगी, भाई ने बड़े-बड़े लड्डू खिला दिए हैं न। भगवान ऐसे सपूत भाई सबको दे।'[२]

होरी की तथाकथित वीरता का भी धनिया ने बार-बार मजाक उड़ाया है, जैसे—

---

१. गोदान (प्रेमचन्द), पृ० २१

२. उपरिवत्, पृ० ४१

'घर में तलाशी होने से इसकी इज्जत जाती है। अपनी मेहरिया को सारे गाँव के सामने लतियाने से इसकी इज्जत नहीं जाती। यह तो वीरों का धरम है।'[१]

धनिया के पास बात करने का एक व्यंग्यमुखी अंदाज है। झुनिया के पेट में गोबर की अवैध संतान की सूचना वह होरी को व्यंग्यसनी भाषा में देती है—

बात ही ऐसी हुई है कि छाती दुगुनी हो जाय।'[२] भाषा के सहारे व्यंग्य को उभारने का कार्य कथाकार ने अनेकानेक व्यंग्यसूक्तियों के सहारे किया है। छोटे-छोटे वाक्यों में व्यंग्यगर्भ कथन पेशकर प्रेमचन्द ने अपनी असहमति को लगातार व्यक्त किया है जैसे—

(१) वह बड़ा आदमी ही क्या जिसे कोई छोटा रोग हो[३]।

(२) सम्पादक का जीवन एक दीर्घ विलाप है, जिसे सुनकर लोग दया करने के बदले कानों पर हाथ रख लेते हैं।'[४]

(३) आदमी का बहुत सीधा होना भी बुरा है। उसके सीधे होने का फल यह होता है कि कुत्ते भी मुँह चाटने लगते हैं।'[५]

(४) 'बहुत धन पाकर आदमी सनक जाता है, बहुत पढ़ लेने से भी आदमी पागल हो जाता है।'[६]

(५) 'ऐयाशी तो रईस की शोभा ही है।'[७]

(६) कैसे दूसरों को उल्लू बनाया जा सके, यही सफल नीति है और आप इसके आचार्य हैं।'[८]

---

१. गोदान (प्रेमचन्द), पृ० १४६
२. उपरिवत, पृ० १५३
३. उपरिवत्, पृ० १५
४. उपरिवत्, पृ० ७२
५. उपरिवत्, पृ० १६७
६. उपरिवत्, पृ० १३९
७. उपरिवत्, पृ० २५७
८. उपरिवत्, पृ० ३०१

सूक्तियों के सहारे व्यंग्य की आयोजना करने वाले कथाकार ने शील निरूपण के लिए भी अनेक अवसरों पर व्यंग्य शैली का सहारा लिया है। दातादीन के बारे में कथाकार का मत है—'वह इस गाँव के नारद थे। यहाँ की वहाँ, वहाँ की यहाँ, यही उनका व्यवसाय था। वह चोरी तो न करते थे, उसमें जान-जोखिम था, पर चोरी के माल में हिस्सा बटाने अवश्य पहुँच जाते थे।'[1]

इसी तरह प्रेमचन्द ने पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, नोखेराम जैसे सज्जनों का भी शब्दांकन किया है।

'गोदान' के रचयिता के सामने भारतीय समाज की उन सारी विरूपताओं की तस्वीर है, जिनके कारण वातावरण में संकट और तनाव बढ़ता जा रहा है। संघर्ष की गहनता के बीच हास्य और विनोद के प्रसंगों द्वारा प्रेमचंद ने अपेक्षित सरसता का संचार किया है। सोना-रूपा के नाम से जुड़ा विनोदी प्रसंग, होरी-धनिया का विनोदशील दाम्पत्य और मिर्जा—खुर्शेद द्वारा आयोजित बूढ़ों की कबड्डी द्वारा प्रेमचंद के हास-परिहासमय वातावरण की सर्जना की है। ऐसे विनोदी प्रसंगों से सामयिक सरसता प्रवाहित हुई है, लेकिन यह झीनी फुहार पूरे उपन्यास में लगी असंतोष और आक्रोश की व्यंग्यमयी अग्नि को शीतल करने में समर्थ नहीं है। प्रारम्भ से अंत तक 'गोदान' में व्यंग्य का जो तपता हुआ स्वरूप सामने आया है, वही प्रेमचंद की व्यंग्य चेतना का औपन्यासिक प्रकर्ष है।

अपनी हास्यकथा निमंत्रण में प्रेचंमद ने व्यंग्य की एक नई कोटि का नामांकन किया है—भस्मक व्यंग्य। अन्तर्मन को जला-भुजा डालने वाली बेधक उक्तियाँ भस्मक कही जा सकती हैं, लेकिन व्यंग्य कर्म की ओर प्रेमचंद का प्रस्थान इतने तक सीमित नहीं है। उनका व्यंग्य बोध ध्वंसक और परिवर्तनगामी भी है।

'गोदान' और प्रेमचंद की प्रासंगिकता इसी सार्थक और ईमानदार व्यंग्य के कारण लगातार बनी रहेगी, इसमें सन्देह नहीं। स्वस्थ समाज की निर्मिति की दिशा में व्यंग्यपुष्ट पहलकदमी का अनोखा प्रमाण है यह उपन्यास। इस कृति की व्यंग्याश्रित चेतना ने बड़े पैमाने पर प्रेमचन्द-युगीन परिवेश को आन्दोलित किया था और यह काम आज भी जारी है। ●

१. उपरिवत्, पृ० १६०

प्रेमचन्द : दूसरों की दृष्टि में

—डॉ० कमला प्रसाद द्विवेदी

महान व्यक्तियों के जीवन के सम्बन्ध में विचार करते समम प्रायः दो पक्षों पर ध्यान दिया जाता है। प्रथम पक्ष में उनका व्यक्तित्व है, जिसमें विशेषतः उनके विचार एवं आचरण की उच्चता और पवित्रता पर ध्यान दिया जाता है। दूसरा पक्ष उनके कर्तृत्व का है, जो उस क्षेत्र से सम्बद्ध होता है, जिस क्षेत्र में उन्होंने महानता सिद्ध की है। विचार करने वालों में स्वजन, अंतरंग, समकालीन और परवतर्त्ती लोग होते हैं। ऐसे महनीय व्यक्तियों के सम्बन्ध में श्रद्धा और प्रशंसापरक अधिक लिखा जाता है। आलोचना तथा छिद्रान्वेषण के लिए कम अवकाश होता है। समग्र रूप में समझ पाने के अभाव में एक विचारक द्वारा उनके समस्त पक्षों पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं होता। वह उसी अंश को व्यक्त कर पाता है, जिसका उसे स्पष्टता से आभास हो पाता है अथवा जो उसकी मनोवृत्ति या उसके मतवाद के अनुकूल होता है। मुंशी प्रेमचंद एक महान साहित्यकार थे उनका क्षेत्र विस्तृत था। उपरोक्त दृष्टियों से उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है और अनवरत लिखा जाता रहेगा। प्रस्तुत सन्दर्भ में इनमें से मात्र कुछ का दिग्दर्शन कराना अपेक्षित है।

परिजनों की दृष्टि में

मुंशी प्रेमचन्द घर के जोगी जोगड़ा में से न थे, औरों की भाँति उनके कुटुम्बियों ने भी व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में पर्याप्त यथार्थ बातें कही हैं, जिससे उनकी गरिमा उद्घाटित होती है। हिन्दी साहित्य में अपने पति का पुस्तक के रूप में विस्तृत संस्मरण लिखने वाली प्रथम महिला प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी हैं और दूसरी अश्क जी की पत्नी कौशल्या जी। सच तो यह है कि यदि शिवरानी देवी ने यह संस्मरण न लिखा होता तो इस महान साहित्यकार के व्यक्तित्व और विचार से सम्बन्धित अनेक बातें अतीत के अंधकार में विलीन हो गई होतीं।

कुटुम्बियों द्वारा प्रेमचंद के सम्बन्ध में कही गई बातें आत्मीयता पूर्ण हैं। उनके कनिष्ठ पुत्र अमृतराय कहते हैं—"यह बात हजार मुँहों से भी कही जाय तो थोड़ी है कि प्रेमचन्द से बेहतर इंसान मुश्किल से ही मिलेंगे। घर में, उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हमलोग के संग दोस्त का सा वर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूँ, वे मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे[१]।" उनकी सीधी सादी जिन्दगी के प्रति अमृतराय की आत्मीयता में कभी खीझ भी टपक पड़ती है और वे कह उठते हैं—"दुनियाबी नुक्ते से कोई चाहे तो उन्हें बेवकूफ भी कह सकता है और वह शायद थे भी, वर्ना अगर उनमें भी दगा-परेब की अक्ल होती, बहुरूपिया बनने की कला होती, गिरगिट की तरह रंग बदलना आता, अभिनेता की तरह समाज के रंगमंच का उपयोग करने की कला आती, तो निश्चय ही उन्होंने भी अपने झंडे गाड़ दिये होते, दस, बीस, पचास लाख की जायदाद कर ली होती और अखबार में उनकी भी छींक का खुलासा निकला करता[२]।"

श्रीमती शिवरानी देवी ने तो आत्मीयता के बन्धन में महानता को बन्दिनी बना दिया वे कहती हैं--"वह महान सबके लिए कुछ भी रहे हों, मेरे तो अपने थे और मैं उनकी थी। हम दोनों के बीच महानता कहाँ ठहर सकती है। क्योंकि जहाँ घनिष्ठता होती है, वहाँ महानता नहीं रहती, क्योंकि अपनापा उससे भी बड़ी चीज है, इसीलिए वह उसके बीच में रहना नहीं चाहती। शायद इसीलिए मेरे दिल में यह खयाल न आया। इसी में अन्धी होकर मैं उनके ऊपर हमेशा शासन करती और वह खुशी से मेरा शासन मानते, उसी तरह जैसे महान पुरुष के सामने नन्हा बच्चा उनकी पीठ पर मार मार कर भाग जाता है और वह महान पुरुष उसपर हंस देता है[३]।"

श्रीपतराय के इस कथन का कि--'प्रेमचन्द के जीवन का अन्तिम सार सरलता, सत्य और मानवता है, सर्वत्र अनुमोदन हुआ है[४]।'

---

१. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द–सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार पृ० २५।

२. वही; पृ० वही

३. प्रेमचन्द घर में–शिवरानी देवी, पृ० २९८।

४. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० ३३।

सरलता के लिए बहुचर्चित

प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में सबसे अधिक जिस बात की चर्चा की गई है, वह है उनकी स्वाभाविक सरलता। कुटुम्ब, अंतरंग से लेकर सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति ने इसे सराहा है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि जिसकी अधिक चर्चा होती है, किसी न किसी का तर्क उसके विलोम में भी दौड़ जाता है, जिसका अनुमान नागार्जुन जी के तर्कों से लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं –'मेरा जीवन सपाट मैदान है--प्रेमचन्द अपने बारे में कह गये हैं·······मगर मेरा जी नहीं मानता कि किसी भी साहित्यकार का जीवन सचमुच सपाट होगा। दरअसल यह भी एक फैशन है व्यक्तित्व की छाप छोड़ने का कि हम अपनी सादगी, सिधाई, भोलापन, विनम्रता आदि का लेखा जोखा आहिस्ता से औरों तक पहुँचा दिया करें। प्रकृति खुद ही चमत्कारमयी है, वह सपाट नहीं हुआ करती। तो फिर हमारी और आप की जिन्दगी ही कैसे सपाट होगी साहब।'[1]

प्रेमचन्द की सरलता, सादगी, निष्कपटता और निहंकारिता के सम्बन्ध में संदेह करने की बात वस्तुतः स्वयं भी नहीं है, क्योंकि जो भी उन्हें देखा, सुना अथवा किसी प्रकार से संपर्क में आया सभी ने मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा की। जैनेन्द्र कुमार के शब्दों में 'प्रेमचन्द की हस्ती की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह हर तरफ से साधारण थे। इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे। खास तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगों में मिलकर खुद खतम होना कोई नहीं चाहता।'

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' तो यहाँ तक मानते हैं कि उनकी सरलता में उनकी महानता इस प्रकार विलीन हो गई थी उसका आभास न औरों को होता था और न उन्हें स्वयं ही। उनका कथन है--'प्रेमचन्द महान थे, पर उनकी महानता क्या थी। किस बात में थी ? वेशभूषा तो उनकी एक किसान जैसी थी ही, चेहरा भी उनका रोबीला न था। उस पर दूर तक देखती नशीली आँखें थीं, खिला हुआ रंग था, पर इतनी साधुता सरल थी कि वह उनकी महानता का प्रतिबिम्ब न हो पाती थी। फिर वे किधर से महान थे ? उनकी महानता यह थी कि उन्हें अपने महान होने का गर्व तो दूर, ज्ञान भी न था[2]'।

---

१. आइने के सामने–संपा० मोहन राकेश, पृ० १८।

२. हंस, नवम्बर, १९५१, पृ० ६६।

३. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० ४१।

उन्हें जिसने देखा, उसने पाया कि वह दम्भ से दूर, बनावट से परे और तन-मन से सीधे और सादे थे। आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं—'एक दिन मैं प्रेमचंद से मिलने उनके घर गया। इससे प्रथम मैंने उन्हें नहीं देखा था। अमीनाबाद के एक खस्ताहाल चौबारे पर वह रहते थे। सुबह के वक्त जब मैं पहुँचा, वह शायद गोदान लिख रहे थे। एक ही कमरे का मकान था। कमरे के बीचो-बीच एक रस्सी बाँध कर एक रजाई उस पर लटका दी गई थी। इससे कमरा दो हिस्सों में बँट गया था। सामने प्रेमचन्द एक शतरंजी बिछाये एक चौकी सामने रखे लिख रहे थे। पीछे के हिस्से में बैठी उनकी पत्नी अपनी गिरस्ती चला रही थीं। शायद खाना बना रही थीं।'[१]

शास्त्री जी इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग में कहते हैं—'माधुरी' आफिस में भी कई बार जाकर मैं उनसे मिल लेता था। माधुरी कार्यालय में प्रेमचंद क्लर्कों और कर्मचारियों की पंक्ति के बीच सिर झुकाए काम में संलग्न दीखते थे।'[२]

अमृतराय लिखते हैं—'प्रेमचंद बहुत सीधे-सादे, बेलौस, मुहब्बती आदमी थे। जो भी लोग उनके संपर्क में आये उनको प्रेमचंद का यही रूप देखने को मिला होगा। घर में भी उनका यही रूप था। घर के बाहर और घर के भीतर, अपने बाहर और अपने भीतर कहीं भी उनमें कोई दुरंगापन नहीं था। सब जगह वह एक था, झील के नीले पानी की तरह साफ, पारदर्शक।'[३]

अमृतराय ने उनका रेखाचित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'क्या तो उनका हुलिया था घुटनों से जरा ही नीचे तक पहुँचने वाली मिल की धोती, उसके ऊपर गाढ़े का कुर्ता और पैर में बंददार जूता। यानी कुल मिलाकर आप उसे देहकान ही कहते, गँवइयाँ भुच्च, जो अभी गाँव से चला आ रहा है, जिसे कपड़ा पहनने की भी तमीज नहीं। जिसे यह भी नहीं मालूम कि धोती-कुरते पर चप्पल पहनी जाती है या पम्प। आप शायद उन्हें प्रेमचन्द कह कर पहचानने से भी इनकार कर देते।'[४]

---

१. उपन्यास सम्राट प्रमचन्द, पृ० ३४।
२. वही, पृ० ३५।
३. वही, पृ० २३।
४. वही, पृ० वही।

किसी व्यक्ति को सरलता का अर्थ कभी कभी उसके भोलेपन या भोंदेपन से भी लगा लिया जाता है। प्रेमचंद इस कोटि के सरल नहीं थे, इसी का निराकरण करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं—'वे बड़े सरल थे परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे, उनके ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं।'[१]

ईश्वर सत्ता के प्रति नकारात्मकता

यह निर्विवाद है कि प्रेमचंद धार्मिक रूढ़ियों एवं पाखण्डों के नितान्त विरोधी थे और उन्होंने अपने कथा साहित्य में पात्रों और घटनाओं के माध्यम से इसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत भी किया है, किन्तु इसके साथ ही यह भी देखा जाता है कि भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अपने कथानकों और चरित्रों का विकास करते हुए भी वे ईश्वर की सता जैसी कोई चीज या तो मानने को तैयार न थे, अथवा इसकी उन्हें आवश्यकता ही न हुई। जैनेन्द्र जी को लिखे पत्र और उनके बयान से प्रेमचंद की ईश्वर सम्बन्धी धारणा पर प्रकाश पड़ता है। वे जैनेन्द्र कुमार को पत्र में लिखते हैं—'ईश्वर पर विश्वास नहीं आता कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।'[२]

रोगशैय्या पर मृत्यु से कुछ काल पूर्व भी वे जैनेन्द्र जी से इसी प्रकार की बात कहते हैं—'जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं ईश्वर। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।'[३] इन प्रमाणों के अतिरिक्त अन्यान्य लोगों ने भी प्रेमचंद जो को अनीश्वरवादी होने की बात कही है, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि द्रौपदी और गजराज की तरह सर्वतोमुखी और मृत्यु की विभीषिका मनुष्य को ईश्वर को याद करने के लिए बाध्य कर देती है। मरणासन्न रुग्णता की स्थिति में प्रेमचंद को भी ईश्वर से याचना करनी पड़ी। शिवरानी देवी लिखती हैं—'आप अपने आप बकने लगे—हे भगवान, मैं आज तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कुछ दिन के लिए अच्छा कर दो। वे इस तरह की प्रार्थना कर रहे थे और मैं चारपाई पर पड़ी रो रही थी।'

---

१. 'वीणा', नवम्बर, १९३९, पृ० ५

२. प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व--जैनेन्द्र कुमार, पृ० ३९।

३. वही, पृ० ५६।

फिर अपने आप वे बोले-''तुम सुनते नहीं हो भगवान ? अगर हो तो तुम्हें सुनना चाहिए। मैं और कुछ नहीं चाहता। इस बार अच्छा होना चाहता हूँ। जो यह निष्कपट मेरी सेवा कर रही हैं, महज इसके लिए मुझे तू एक बार जिंदा कर। शायद वे रो भी रहे थे। अगर भगवान तू मेरी इस प्रार्थना पर कान नहीं देता तो अगले जन्म में फिर इन्हें तू मुझसे मिला दे। अगर नहीं मिलाता तो मैं यही समझूँगा कि मेरा जन्म व्यर्थ हो गया है'।[१]

मनुष्यत्व में देवत्व

राधाकृष्ण जी कहते है—'वह मानव के उस देवत्व पर विश्वास करते थे, जो उसके अंतःकरण में रहता है। मनुष्य के अंतःकरण में बसनेवाली मानवता की चेतना के अतिरिक्त वह किसी भगवान पर विश्वास नहीं करते थे'।[२]

कमलेश्वर जी का मत है कि 'प्रेमचंद की रचनाओं में मानव की वह गरिमा है, जो कबीर में है'।[३]

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के एक सवाल के उत्तर में मुंशी प्रेमचंद ने स्वयं कहा था—'जनाब ! ईश्वर में विश्वास करने की जरूरत ही उन्हें पड़ती है जो आदमी में देवत्व का दर्शन नहीं कर सकते। यह तो अनुभव की बात है, किसी चमत्कार की नहीं कि बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता। उसमें कहीं न कहीं देवत्व छिपा रहता है। मैंने अपनी कलम से इस सत्य को कहीं-कहीं उभार दिया है, कहीं-कहीं प्रकाशित कर दिया है'[४]

नामवरसिंह ने प्रकारान्तर से इसी की संस्तुति की है—'जिस साहित्यकार के हृदय में जनता के लिए सच्चा प्यार नहीं है, उसकी रचना से न तो मानवता की विजय का विश्वास हो सकता है और न तो इस जीवन और जगत में आस्था ही दृढ़ हो सकती है। प्रेमचंद की कृतियों को पढ़ने के बाद जो एक प्रकार का विश्वास, एक निश्चित प्रकार की आस्था तथा जीवन के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण मिलता है यह सब जनता को प्यार करने का ही परिणाम है।'[६]

---

१. प्रेमचन्द घर में, पृ० ३५२–३५३।

२. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० २१।

३. साप्ताहिक हिंदुस्तान वर्ष २९, अंक ४३, पृ० २०।

४. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० ३७।

५. वही, पृ० १२।

सत्यवती मलिक की उक्ति है—'वह जीवन में सौन्दर्य और प्रेम के उपासक थे। प्रकृति के वह पुजारी थे किन्तु प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट कृति मनुष्य को वह सबसे अधिक महत्व देते थे।'[१]

मानव होते हुए भी मानवता की ऊँचाई तक पहुँच पाना सबके लिए सम्भव नहीं है। तुलसी ने 'सियाराम मय' मानकर सारे जग को प्रणाम किया, किन्तु प्रेमचन्द ने मानव पर ईश्वर को आरोपित न करते हुए भी मनुष्यत्व और देवत्व को एकाकार कर दिया। भारतीय ऋषियों और सन्तों ने मानवता की पूजा को ईश्वर की पूजा, यहाँ तक कि सबसे बड़ी पूजा, बताया है और इसमें प्रेमचन्द सबसे आगे थे। उनके विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—'धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, फिर भी इस युग के साहित्यकारों में मानव की सद्वृत्तियों में जैसा अडिग विश्वास प्रेमचन्द का था वैसा शायद ही और किसी का हो। असल में यह नास्तिकता भी उनके दृढ़ विश्वास का कवच थी।'[२]

किसानों के श्रेष्ठ चित्रकार

प्रेमचंद ने प्रचुर साहित्य का सृजन किया है और उन्होंने जीवन और जगत का शायद ही कोई कोना छोड़ा है, किन्तु जितना अधिक और जितना सुन्दर चित्रण उन्होंने किसानों का किया है, उतना और वैसा अन्य का नहीं। महादेवी वर्मा कहती हैं कि 'उन्होंने साधारण कथा, मनुष्य की साधारण घर-घर की कथा, हल-बैल की कथा, खेत-खलिहान की कथा, निर्झर, बन पर्वतों की कथा सब तक इस प्रकार पहुँचाई कि वह आत्मीय तो थी ही, नवीन भी हो गई।'

पंत जी लिखते हैं--'प्रेमचंद जी साहित्यकार के लिबास में एक सरल किन्तु प्रबुद्ध ग्रामीण रहे हैं। भारतीय जनता का चित्रण उन्होंने जिस स्वाभाविकता तथा कुशलता से किया है, उसके जीवन के संघर्ष, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा तथा महत्वाकांक्षाओं को जिस सफलता के साथ वह वाणी दे सके हैं, उससे हमारे ग्रामीणों के प्रति उनकी अगाध, व्यापक एवं मार्मिक सहानुभूति का पता लगता है।'[३] सोवियत आलोचक

१. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० १०३।
२. 'वीणा'–नवम्बर, १९३९, पृ० ५।
३. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० १६।

श्री वी० एम० ब्रेस्कोब्नी ने कहा है कि 'प्रेमचन्द किसानों की जिंदगी और उनकी भाषा को खूब अच्छी तरह जानते थे। भारतीय साहित्य में किसानों की सही जिन्दगी की जीती जागती और बोलती हुई तस्वीरें देनेवाले वे पहले लेखक हैं।'[१]

डा० नामवर सिंह का मत है—'प्रेमचंद जनता के साहित्यकार हैं, इसीलिए नहीं कि उन्होंने मुख्य रूप से किसानों के बारे में लिखा है, बल्कि इसलिए कि उन्होंने किसानों की ओर से अथवा किसानों के लिए लिखा है। और इस एक बात ने उनके सम्पूर्ण साहित्य को उस ओजस्वी मानवतावाद से आलोकित कर दिया है, जिससे अनेक कलापूर्ण उपन्यास और कहानियाँ भी वंचित दिखाई पड़ती हैं।'[२]

श्री रजनीकान्त रावल ने भी इसी आशय को व्यक्त किया है— 'प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता है, गाँवों के जीवन का चित्रण उनके सारे पहलुओं समेत जिस विशाल पैमाने पर किया गया है, वह उन्हें ग्राम जीवन का केवल हिन्दी का ही नहीं, शायद सारी भारतीय भाषाओं का सबसे बड़ा उपन्यासकार ठहराता है। उनका अंतिम उपन्यास 'गोदान' तो किसान जीवन का महाकाव्य ही कहा गया है और उनका प्रमुख पात्र 'होरी' भारतीय किसान की, उसके गुणों और उसकी दुर्बलताओं की अनुपम छवि है।'[३]

रामविलास शर्मा ने भी प्रेमचंद के इस वैशिष्ट्य की सराहना की है। वे लिखते हैं-'प्रेमचंद ने सभी वर्गों के चित्र दिये हैं; परन्तु जितने सुन्दर चित्र किसानों के हैं, इतने औरों के नहीं। प्रेमचंद ने किसानों के बारे में उनसे दूर होकर नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि यदि किसान अपने बारे में लिखे, तो वह ऐसे ही लिखे और यही प्रेमचंद की सफलता है।'[४]

वादों की परिधि और प्रेमचन्द

आलोचना के पुराने मापदण्ड बदल चुके हैं। आधुनिक आलोचक साहित्य और साहित्यकार को वादों और प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में देखना और परखना चाहता है। इनके साथ राजनीतिक पक्षपात तो इस तरह अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है कि यदि वे जरा भी इस परिधि में

१. 'हंस'–अक्टूबर, १९५१, पृ० ६८–८९।

२. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० ६१।

३. वही, पृ० १०९।

४. वही, पृ० ६०।

खींचातानी करने योग्य होते हैं, तो उन्हें अवश्य इसके भीतर घसीटने का प्रयत्न किया जाता है। कोई न कोई नाता अवश्य जोड़ा जाता है। यदि किसी प्रकार पुत्र या प्रपौत्र न बन सका तो उसे पिता या पितामह की कोटि में रख देते हैं। यदि कुछ न बन पाया तो भी इतना तो अवश्य कह देते हैं कि उनमें अमुक अंकुर पाया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक आलोचक अपने अपने वाद का जामा पहनाने के लिए दौड़ पड़ता है। भले ही वह उसे शोभा दे अथवा नहीं। ऐसी स्थिति में प्रेमचन्द कहाँ से बच सकते हैं वे तो आधुनिक वादों के युग के साहित्यकार ही थे।

मुंशी प्रेमचन्द पर दयानन्द, विवेकानंद, गांधी, टालस्टाय, मार्क्स और उर्दू के बड़े बड़े लेखकों का प्रभाव माना जाता है। चूँकि संसार का समस्त ज्ञान प्रभाव और अनुभव की श्रृंखला से जुड़ा हुआ है, इसलिए यह बात प्रेमचन्द ही नहीं अपितु सबके लिए कही जा सकती है। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में भी लोगों ने अपने-अपने पक्ष में अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। उदाहरण के लिए उनके राष्ट्रीय साहित्यकार के रूप को ही ले लिया जाय। वे गांधी के स्वातंत्र्य आंदोलन से जुड़े थे। देश को स्वतंत्र देखना उनकी अंतिम अभिलाषा थी। सर्व विदित है कि नबाब राय के नाम से लिखित उनका कहानी संग्रह 'सोज़ वतन' अंग्रेजी सरकार द्वारा जब्त किया जा चुका था। उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में श्री रजनी कान्त रावल ने प्रमचन्द के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव को प्रमुखता दी है वे लिखते हैं—'कोई भी लेखक और उपन्यासकार जिसे जन जीवन में रुचि हो तथा जनता की भौतिक और नैतिक समृद्धि ही जिसका आदर्श हो, राष्ट्रीय जीवन की उमड़ती हुई लहरों से अछूता नहीं रह सकता। प्रेमचन्द की मनोरचना, उनकी साहित्यिक मान्यताएँ और उनकी साहित्यिक प्रतिभा इसी कोटि की थी। उनकी साहित्यिक मान्यताओं के विषय में इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि यद्यपि वह यह स्वीकार करते थे कि मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है, किन्तु उपन्यास के माध्यम से अपने अभीष्टवाद या विचारों के प्रचार को न तो वह हेय मानते थे और न उसे उपन्यास के मूल तत्व से असंगत मानते थे। तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय जीवन की हलचल से वह न केवल स्वयं प्रभावित हुए बल्कि एक प्रभावशाली साहित्यकार के नाते उन्होंने उसे भी बड़ी दूर तक प्रभावित किया। उन्होंने उसे न सिर्फ देखा, बल्कि वह उसके वाहक और प्रसारक भी बने। उनके

उपन्यासों और बहुसंख्यक कहानियों में इस हलचल का जीवन्त चित्रण हुआ है। उनके साहित्य में राष्ट्रीय जीवन का मंथन अपने बहुमुखी रूपों में उतरा है।'[1]

मुंशी प्रेमचन्द पर प्रभाव प्रदर्शित करनेवाले ऐसे अनेक मन्तव्य देखने को मिलेंगे, किन्तु इन सभी प्रकार के मत मतान्तरों के निष्कर्ष स्वरूप राबर्ट ओ० स्वान ने अपने शोध प्रबन्ध 'मुंशी प्रेमचन्द आफ लमही विलेज' में एक बड़े पते की बात कही है जो प्रेमचन्द के लिए सर्वथा उपयुक्त है। वे लिखते हैं—'प्रेमचन्द की आरम्भिक रचनाओं में उनके उपर टालस्टाय, विवेकानन्द, गाँधी अथवा कार्ल मार्क्स का प्रभाव साफ नजर आता है, किन्तु परवर्ती कहानियों में ये प्रभाव धुँधले पड़ जाते हैं, वे आत्मसात् कर लिए जाते हैं और पुनर्निमित होकर उनकी अभिव्यक्ति व्यक्तिगत अथवा पृथक रूव मे होती है। आरम्भिक यात्रा के पथ में जो मोमबत्तियाँ जलाई गयों थीं सूर्य के स्थापित हो जाने पर वे भुला दी गयीं। बाद में परिपक्व लेखक के रूप में प्रेमचन्द की रचनाओं में टालस्टाय और गांधी की शिक्षाओं का कोई अंश खोजने पर भी नहीं मिल सकता। इसका कारण दया, आत्मिक शक्ति, आत्म अस्वीकृति अथवा न्याय संगत रोष कुछ भी रहा हो किन्तु उनके ये विशेष स्रोत खो गये और उन्होंने साहित्य के निर्विवाद अन्तर्ज्ञान को प्राप्त कर लिया।'[2]

प्रेमचन्द के साहित्य में वादों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार को धारणा है। आदर्शवाद, यथार्थवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, प्रगतिवाद अथवा इनके समन्वित स्वरूप जैसे विविध वादों के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध दीन-हीन और प्रताड़ित सामान्य जनता का विशद चित्रण करने के कारण एक वर्ग ने तो इन्हें सर्वहारा लेखक ही मान लिया है और वह प्रेमचन्द को पूर्णरूप से मार्क्सवाद से जोड़ देता है।

भारतीय साहित्य परंपरित रूप में आदर्शवादी रहा है अतः प्रेमचंद को आदर्श से पृथक कथमपि नहीं किया जा सकता, किन्तु सर्व प्रथम उनके ही साहित्य में यथार्थ अधिक उभर कर सामने आया। इसलिए

---

१. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० १०६–१०७।

२. मुन्शी प्रेमचन्द आफ लमही विलेज–राबर्ट ओ० स्वान, पृ० १३८।

आदर्श की अपेक्षा उन्हें यथार्थवादी कहने वालों की संख्या अधिक है। प्रेमचन्द की यथार्थपूर्ण रचना की प्रशंसा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं—'पहली बार हिन्दी भाषी जनता को यथार्थ जीवन का विश्वसनीय शैली में उपस्थापन नसीब हुआ। इस दृष्टि से देखा जाये तो प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने खड़ी बोली में प्रत्यक्ष और यथार्थजीवन का हृत्स्पन्दन मुखरित किया।'[१]

अमृत लाल नागर का कथन है—'लगता है कि यह बात उनके कथाकार ने उस समय करीब-करीब पूरी तरह से तय कर ली थी कि उन्हें अपने देशकाल को यथार्थ आंकना है।'[२]

कमलेश्वर जी ने कहा है कि—'प्रेमचन्द ने हमेशा अपने चारों ओर बड़ी ही गहरी दृष्टि से देखा और उस देखे हुए को एक संवेदनशील यथार्थवादी कलाकार की तरह प्रस्तुत किया है।'[३]

प्रेमचन्द के आलोचकों का दूसरावर्ग उनके यथार्थ को आदर्श से युक्त मानता है। उनमें एक नाम जैनेन्द्रकुमार का भी है वे कहते हैं—'यथार्थ के साथ जीवन में उन्होंने जितना भी चाहे समझौता किया, लिखने में आदर्श की टेक उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। 'प्रगति' यथार्थ को लेने में स्वयं गिरी तो गिरी, प्रेमचन्द प्रगति सम्मेलन के कर्णधार बनाये जाकर भी अपनी जगह से नीचे न लाये जा सके यानी यथार्थ को ज्यों का त्यों समर्थन उनसे कभी न मिल सका। कोई दल उनके निकट सच्चाई का अलम-बरदार होकर नहीं जम सका। उन्होंने हर एक को व्यक्ति रूप में देखा और परखा और किसी साम्प्रदायिक बिल्ले को अवसर नहीं दिया कि वह व्यक्ति को ओट दे सके।'[४]

नलिनविलोचन शर्मा का मत है कि—'प्रेमचन्द ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के साथ कथानक की रोचकता बनाये रखी, जबकि दोनों परस्पर विरोधी हुआ करते हैं।'[५]

---

१. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० ४।

२. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'—५ अगस्त, १९७९, पृ० २१।

३. उपन्यास सम्राट प्रेमचंद, पृ० ८२।

४. 'हंस'—नवम्बर, १९५१, पृ० ७२–७३।

५. उपन्यास सम्राट प्रेमचंद, पृ० ५३।

श्रीधर मेनोन का विचार है कि—'प्रेमचन्द में यथार्थ और आदर्श, समस्या एवं समाधान दोनों का समीचीन मिश्रण पाया जाता है। हो सकता है कि उनके सभी सुझावों से हम पूर्ण रूप से सहमत न होते हों। यह मतभेद अपनी रुचि शिक्षा-दीक्षा, युग प्रभाव, संस्कार और जीवन-दर्शन पर आधारित है। प्रेमचंद इसके लिए दोषी नहीं हैं।'[1]

प्रेमचंद को साम्यवादी अर्थ में प्रगतिवादी कहने वालों की संख्या भी कम नहीं है। ऐसा कहनेवालों का राजनीतिक मंच से सम्बन्ध प्रमुख रूप से है और साहित्य से गौण। इसके साथ ही इस मत का खण्डन करनेवाले भी बहुत हैं। जैनेन्द्रकुमार का मत इसके पूर्व दिया जा चुका है। श्री भगवतीचरण वर्मा इसका विरोध बहुत खुले शब्दों में करते हैं—'प्रेमचंद को प्रगतिशील लेखक अपना नेता घोषित करके उनकी सार्वभौमिक महत्ता और उनके मानवता वादी दृष्टिकोण के महत्व को कम कर देते हैं, मेरा कुछ ऐसा मत है।'[2]

नवलकिशोर शर्मा के विचार भी इसी पक्ष को द्योतित करते हैं.......'उनके आदर्शवाद की परिणिति उस यथार्थवाद से हुई जिसे आगे चलकर प्रगतिशील यथार्थवाद की संज्ञा दी गयी। प्रगतिवादी आंदोलन ने मतवादी आग्रहों को प्रश्रय दिया था, अतः वह व्यापक प्रभाव नहीं छोड़ पाया, किन्तु प्रगतिशील यथार्थवाद की धारा सदा गतिशील रहेगी क्योंकि उसका आधार मानवतावाद हैं और प्रेमचन्द महान मानवतावादी कथाकार थे।'[3]

उपर्युक्त सभी मतों का एक समीक्षात्मक स्वरूप डा० कृष्णानंद पांडेय के शोध-प्रबंध में देखने को मिलता है। उन्होंने लिखा है—'प्रेमचंद के जीवनदर्शन और विचारधारा को लेकर साहित्यकारों में दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं। एक वर्ग तो उन लोगों का है, जो प्रेमचन्द जी को सुधारवादी मानते हैं और उनपर गांधीवादी जीवनदर्शन का प्रभाव दिखाते हुए मूलतः उन्हें गांधीवादी लेखक मानते हैं। (विश्वम्भर मानव, गोपीनाथ अमन, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि) दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो उन्हें

---

१. उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, पृ० ७३।

२. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान,' ५ अगस्त, १९७९, पृ० २१।

३. 'रसवन्ती'–जनवरी, १९६६, पृ० ३१।

यथार्थवादी और प्रगतिशील कलाकर मानते हैं (डा० रामविलास शर्मा, मन्मथनाथगुप्त, हंसराज रहबर आदि)।

प्रेमचन्दजी स्वभाव से प्रगतिशील थे, किन्तु उनकी प्रगतिशीलता एक वाद विशेष की समर्थक न हो करके उन्नति या विकासशीलता का परिचायक है। वे जनता के कलाकार थे और उनकी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट थे। इसलिए उसे वे वर्तमान अवस्था से अधिक अच्छी अवस्था तक पहुँचाना चाहते थे। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सामने जो भी सुगम रास्ता दिखाई पड़ा, उसे उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं मर्यादा की सीमा में स्वीकार कर लिया।'[१]

प्रेमचन्द के मूल्यांकन एवं स्थान निर्धारण के सम्बन्ध में इतना अधिक कहा गया है जिसके संकलन से पुस्तकें बन सकती हैं। इसमें से थोड़े से शब्दों में रामवृक्ष बेनीपुरी का कथन अवलोकनीय हैं, जो बहुत स्पष्ट और सटीक है। वे कहते हैं—'हिन्दी साहित्य की विकासधारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मील के पत्थर' गिनने पड़ते हैं, हनमें एक को, जो हमारे सबसे निकट का है, हम प्रेमचन्द के नाम से अभिहित कर सकते हैं।'[२]

---

१. प्रेमचन्द के जीवनदर्शन के विधायक तत्व, पृ० २८१।

२. मील के पत्थर—रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० २६।

प्रेमचन्द परक शोध की दिशा और समस्याएँ

—डॉ० रघुवंश मणि तिवारी

समाज सिद्ध कथाकार प्रेमचन्द का लेखन मुख्यतया २० वीं शताब्दी के पहले दशक के बाद उभरा और तबसे अबतक प्रेमचन्द का कथा साहित्य हिन्दी के विशाल पाठक वर्ग को आकर्षित करता रहा है। ३१ जुलाई १८८० को जन्मे और ८ अक्टूबर १९३६ को दिवंगत प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों ने न केवल हिन्दी भाषी जनता को एक अद्भूत कथा-संसार की परिक्रमा करायी है, अपितु प्रेमचन्द की सर्जना ने हिन्दी शोध-वेत्ताओं को भी व्यापक स्तर पर आकृष्ट किया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की सूची पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रेमचन्द की रचनाओं के प्रति एक विशिष्ट व्यामोह शोध कर्त्ताओं के बीच रहा है।

इस शोध क्रम की शुरूआत १९५२ में हुई थी। प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में उपलब्ध सामाजिक समस्याओं, शहरी और ग्रामीण स्थितियों, मध्यवर्ग, मानवीय सम्बन्ध, नारी पात्र, जीवन दर्शन और शिशु मनोविज्ञान जैसे तत्वों पर पृथक-पृथक शोध हुए हैं। इसी तरह प्रेमचन्द की भाषा और शैली कारकीय प्रयोग तथा सूक्तियों पर भी शोध प्रबन्ध लिखे गए हैं। अनेक शोधकर्ताओं ने प्रेमचन्द के साथ जयशंकर प्रसाद, शरच्चन्द, नानक सिंह, हरिनारायण आप्टे, खांडेकर, गोपीचन्द और ताराशंकर बंद्योपाध्याय जैसे कथाकारों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। प्रेमचन्द विषयक शोध का यह वैविध्य शोध प्रबन्धों की इस सूची से सिद्ध हैं—

१. उपन्यासकार प्रेमचन्द—उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन दर्शन, शंकर नाथ शुक्ल, आगरा १९५२।

२. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द : महेन्द्र भटनागर नागपुर, १९५७, प्रकाशित–१९५७।

३. प्रेमचन्द-एक-अध्ययन (जीवन, चिंतन और कला) : राजेश्वर गुरु, नागपुर, १९५७, प्रकाशित–१९५८।

४. प्रेमचन्द का नारी चित्रण तथा उसे प्रभावित करनेवाले स्रोत : गीता लाल, पटना, १९५९, प्रकाशित–१९६५ ।

५. प्रेमचन्द और रमणलाल—वसंत लाल देसाई के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन : गंगा प्रसाद पाठक, क० मुं० विद्यापीठ, १९६० ।

६. प्रेमचन्द, और शरच्चन्द्र के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन : सुरेन्द्र नाथ तिवारी, लखनऊ, १९६२, प्रकाशित–१९६९ ।

७. प्रेमचन्द तथा प्रसाद के कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन : जीगदीशचन्द्र शर्मा, आगरा–१९६३ ।

८. प्रेमचन्द्र तथा उनके समवर्ती कथा साहित्य में लोक संस्कृति : प्रभा शर्मा, लखनऊ, १९६३ ।

९. प्रेमचन्द के उपन्यासों और लघु कहानियों का आलोचनात्मक अध्ययन : शीला गुप्त, इलाहाबद, १९६४, प्रकाशित–१९७२।

१०. प्रेमचन्द के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिफलन : सरोज प्रसाद, विहार, १९६६, प्रकाशित–१७७१ ।

११. प्रेमचन्द की उपन्यास रचनाओं में व्यक्ति एवं समाज : र० भल्लापुरी, इलाहाबाद, १९६६, प्रकाशित–१९७० ।

१२. प्रेमचन्द की कहानियों के आधार पर तद्‌युगीन सामाजिक जीवन का अध्ययन : इन्द्र मोहन कुमार शर्मा, पटना, १९६६, प्रकाशित–१९७४ ।

१३. प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य में सामाजिक समस्याएँ : सत्येन्द्र जी वर्मा, इलाहाबाद, १९६६ ।

१४. प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यम वर्ग : श्यामसुन्दर घोष, भागलपुर, १९६७ ।

१५. प्रेमचन्द तथा हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन : प्रमिला गुप्ता, दिल्ली, १९६७ प्रकाशित–१९७० ।

१६. शैली विज्ञान की दृष्टि से प्रेमचन्द की भाषा का अध्ययन : सुरेश कुमार, आगरा, १९६८, प्रकाशित–१९७८ ।

१७. कहानीकार प्रेमचन्द तथा पन्ना लाल पटेल का तुलनात्मक अध्ययन : रामबाबू सारस्वत, क० मुं० विद्यापीठ १९६९।

१८. प्रेमचन्द और नानक सिंह के उपन्यासों का तुलनात्मक अन्ययन : निर्मल चावला, लखनऊ, १९६९।

१९. प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और जीवन दर्शन के विधायक तत्व : कृष्ण चन्द पांडेय, इलाहाबाद, १९६९, प्रकाशित–१९७०।

२०. प्रेमचन्द के उपन्यासों में मानवीय सम्बन्ध : बच्चन पाठक सलिल, पटना, १९६९।

२१. प्रेमचन्द के कथा साहित्य में शहरी जीवन : यज्ञदत्त शर्मा, इलाहाबाद, १९६९।

२२. प्रेमचन्द की कहानी कला का विकास : श्रीमती बी० गुलाटी, पंजाब, १९७०।

२३. खांडेकर और प्रेमचन्द के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन : शोभना खटावकर, पूना, १९७०।

२४. प्रेमचन्द की शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन : मनमोहन पांडेय, जबलपुर, १९७०।

२५. आदर्शवाद और यथार्थवाद—स्वरूप विश्लेषण (प्रेमचन्द साहित्य के विशेष संदर्भ में) गिरिवर धारी सिंह, पटना, १९७०।

२६. प्रेमचन्द और तेलुगु के सामाजिक उपन्यास—तुलनात्मक अध्ययन : बी० श्री निवासाचार्य, उस्मानिया, १९७०।

२७. प्रेमचन्द और प्रसाद के नारी पात्र : संतोष जारू, कश्मीर, १९७१।

२८. प्रेमचन्द और नानक सिंह के उपन्यास : तिलकराज, दिल्ली, १९७१।

२९. समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द साहित्य का मूल्यांकन, सतीश कुमार दूबे, इन्दौर १९७१।

३०. प्रेमचन्द साहित्य में भारतीय ग्राम और उसकी समस्याएँ : इभा गुप्त; इलाहाबाद, १९७१।

३३. प्रेमचन्द के उपन्यासों की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि : प्रकाश बलदास, बिहार, १९७१।

३४. प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्ग का चित्रण : जे० हेमवती अम्मा, सागर, १९७१।

३५. प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य का मूल्यांकन : उषा कुमारी पंजाब, १९७२।

३६. प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्पविधान: कमल किशोर गोयनका, दिल्ली, १९७२, प्रकाशित ११७३।

३७ प्रेमचन्द के कथा साहित्य में अन्तर्द्वन्द्व : उषा खत्री, आगरा, १९७२।

३८. प्रेमचन्द की कहानियों का शैलीतात्विक अध्ययन : राधाकिशन, राजस्थान, १९७२।

३९. प्रेमचन्द की परिवार निष्ठा और उसका उनकी रचना प्रक्रिया पर प्रभाव : रामसिंह, इलाहाबाद, १९७२।

४०. प्रेमचन्द के उपन्यासों में जीवन और कला : इन्दुमती सिंह, का० हि० वि० १९७३।

४१. प्रेमचन्द साहित्य में कारकीय प्रयोग : वेद प्रकाश वशिष्ठ, मेरठ, १९७३।

४२. प्रेमचन्द साहित्य में शैक्षणिक भूमिकाओं का अनुशीलन : हरिशंकर नेमा, सागर, १९७४।

४३. प्रेमचन्द साहित्य में शिशु मनोविज्ञान : सुषुम्ना चन्द्र, इलाहाबाद, १९७४।

४४. प्रेमचन्द तथा उनकी उर्दू कहानियाँ—एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन : मुहम्मद आजम, शिवाजी, १९७४।

४५. युग चेतना के सन्दर्भ में प्रेमचन्द : शिवकुमार यादव, काशी १९७४।

४६. प्रेमचन्द साहित्य में सूक्तियाँ—एक विवेचनात्मक अध्ययन : मंजु भटनागर, राजस्थान, १९७४।

४७. प्रेमचन्द और गोपीचन्द; एक तुलनात्मक अध्ययन, बी० सत्यनारायण, आन्ध्र, १९७४।

४८. प्रेमचन्द्र तथा भरत के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन : कमलादेवी गुप्त, कानपुर, १९७४।

४९. प्रेमचंद के औपन्यासिक पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन : नन्दलाल अहीरवार, सागर, १९७४।

५०. प्रेमचन्द और ताराशंकर की उपन्यास कला का तुलनात्मक अध्ययन : कमलनाथ, विक्रम, १९७४।

५१. प्रेमचन्द के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन : क्रांति सिंह, काशी १९७५।

५२. प्रेमचन्द के उपन्यासों में युगजीवन : श्रीकान्त पाण्डेय, सागर, १९७५।

५३. प्रेमचन्द तथा भरतचन्द्र के उपन्यासों में अभिव्यक्त समाज एवं जीवनदर्शन : मोनिका चटर्जी, लखनऊ, १९७५।

५४. हिन्दी कहानी और प्रेमचन्द : रोचना सुमन, विक्रम, १९७५।

५५. समकालीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का अनुशीलन : हीरालाल सोनार, सागर, १९७५।

५६. प्रेमचन्द और प्रसाद के कथा साहित्य में नारी : रमा मेहरोत्रा, लखनऊ, १९७५।

५७. प्रेमचन्द तथा शरच्चन्द्र के कथा साहित्य के पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन : पृथा रानी डे, पंजाब, १९७५।

५८. प्रेमचन्द का समाज दर्शन : श्री कृष्ण पाण्डेय, राँची, १९७६।

५९. प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र के उपन्यासों के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन : शशि भल्ला, भोपाल, १९७६।

६०. प्रेमचन्द के उपन्यासों में मानवतावादी जीवन दर्शन : डा० ब्रजवासी लाल शर्मा, आगरा, १९७६।

६१. प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक समस्याएँ : सुभद्रा एन० पटेल, दक्षिण गुजरात, १९७६।

६२. प्रेमचन्द में कथा साहित्य में सामाजिक जीवन : मंजुरानी जायसवाल, काशी, १९७६।

६३. प्रेमचन्द की उपन्यास यात्रा—नवमूल्यांकन : शैलेश जैदी, अलीगढ़, १९७६ प्रकाशित–१९७८।

३१. प्रेमचन्द साहित्य का समाज शास्त्रीय अध्ययन : निर्मला शर्मा, इलाहाबाद, १९७१।

३२. प्रेमचन्द के नारी पात्र : भरत सिंह, आगरा, १९७१, प्रकाशित–१९७३।

६४. प्रेमचंद के कथा साहित्य में धर्म निरपेक्षता की भावना : राधा अग्रवाल, दिल्ली, १९७७।

६५. प्रेमचन्द और तकषि के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन : मुहम्मद अब्दुल कुरीम, केरल, १९७८।

६६. प्रेमचन्द का कहानी शिल्प और हिन्दी कहानी : शुभांगी देवी, राँची, १९७८।

६७. प्रेमचन्द और तकषि शिवशंकर पिल्लै के उपन्यासों में चित्रित जनजीवन का तुलनात्मक अध्ययन : शीला आइज़क, लखनऊ, १९७९।

६८. प्रेमचंद और रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन : टी० वेंकटाचलम, आन्ध्र, १९७९।

६९. प्रेमचन्द साहित्य की मानवतावादी प्रवृत्तियों का अनुशीलन : डॉ० नंदलाल यादव, बम्बई, १९७९।

७०. प्रेमचंद की कहानियों में शिल्प विधि। गौतम सचदेव, दिल्ली, १९७९।

७१. उपन्यासकार प्रेमचंद और तारा शंकर वंद्योपाध्याय : तप्तिरानी जायसवाल, काशी, १९८०।

७२. प्रेमचंद और भारतीय किसान : रामवख्श जाट, दिल्ली, १९८०।

७३. पत्रकार प्रेमचंद और हंस : रत्नाकर पाण्डेय, राँची, १९८०।

प्रेमचंद सम्बन्धी शोध प्रबन्धों की इस परिक्रमा से स्पष्ट है कि हिन्दी के इस अप्रतिम कथाकार के विभिन्न रचनात्मक कोणों का विश्लेषण शोध प्रबंधों के अंतर्गत हुआ है। साथ ही विषयों की आवृत्ति और विचारों की सीमित परिधि चिंता भी उत्पन्न करती है। अभी प्रेमचंद सम्बन्धी शोध की संभावनाएँ समाप्त नहीं हुई हैं अपितु अनेक महत्वपूर्ण शोध विषय सजग अनुसंधित्सुओं की राह देख रहे हैं। जैसे—

१. रचनाओं के अन्तःसाध्य के आधार पर प्रेमचंद के व्यक्तित्व का विश्लेषण।
२. प्रेमचंद के पुरुष पात्र
३. प्रेमचंद के नाटकों का अनुशीलन
४. प्रेमचंद का अनूदित साहित्य।
५. प्रेमचंद की रचनाओं में पीढ़ियों के संघर्ष का स्वरूप।
६. प्रेमचन्द और मैक्सिम गोर्की के कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।
७. प्रेमचन्द और ऐन्टन चेखव के कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।
८. प्रेमचन्द और निराला के सामाजिक सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन।
९. प्रेमचन्द के कथा साहित्य में हास्य और व्यंग्य।
१०. प्रेमचंद साहित्य में प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियाँ।
११. प्रेमचंद की प्रासंगिकता।

ये अछूते विषय महज बानगी हैं। ऐसे और कई विषय छूट गए हैं, ज़िन पर अभी तक शोधकर्त्ताओं का ध्यान नहीं गया है। संभव है, प्रेमचंद साहित्य के शेष प्रसंगों पर भी किसी साहित्य रसिक का ध्यान जाए और प्रेमचंद के साथ लेखक/विचारक का भी उद्धार हो जाए।

●